रानडे का दर्शन

सम्पादक

सङ्गमलाल पाण्डेय एम० ए०, साहित्याचार्य,
असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रकाशक

दर्शन परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

१९५८

सम्पादकीय प्रस्तावना

प्रणम्य भारतं राष्ट्रं दार्शनिकैः सुसेवितम् ।
इहत्यदर्शनाख्याभिनवं विश्वमनोहरम् ॥
रानडेदर्शनग्रन्थं सम्पादयति सङ्गमः ।
प्रत्तस्वकृति-सूरीणां कृतज्ञश्च वशंवदः ॥ १-२ ॥
वृत्तान्त-दर्शन-ग्रन्था रानडे-सुमनीषिणः ।
त्रिवेणीसेविनस्त्वत्र त्रिवेणीकृत्य वर्णिताः ॥ ३ ॥
वृत्त-ग्रन्थौ[1] समीक्ष्येते तज्ज्ञैरेवात्रसूरिभिः ।
सुसंवादो ययोः सर्व-स्वं दर्शनस्य सम्मतः ॥ ४ ॥
मन्दं मन्दं वहन्ती या पुराऽध्यात्मिकूलतः ।
रानडे-रक्षिता धारा सर्वदर्शनतायिनी ॥
तस्या एवात्र संवाहः कलितः स्नातकैः स्वयम् ।
हिन्दीमाश्रित्य सर्वेषां सुबोधार्थाय भूयसे ॥
राष्ट्रभाषा यथा हिन्दी तथेदं राष्ट्रदर्शनम् ।
अप्यद्यैक्यं विदध्यान्नो राष्ट्रस्याद्वैतवादतः ॥ ५-७ ॥

श्री रानडे वर्तमान भारत के अग्रणी दार्शनिक थे। उनके व्यक्तित्व में भारतीय दर्शन की शास्त्रीयता और साधना दोनों का अनुपम मेल था। एक ओर वे इलाहाबाद के प्रोफेसर थे, दर्शन के सफल अध्यापक थे, प्रखर बौद्धिक थे, लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे और उच्च कोटि के ग्रंथों के प्रणेता थे तो दूसरी ओर वे निम्बल के सन्त थे, सच्चे साधक थे, प्रभावशाली तथा सर्वप्रिय देशिक (गुरु) थे, पहुँचे हुए महात्मा थे और आध्यात्मिक अनुभूतियों की खानि थे। वे बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद के निःसन्देह संगम थे। दोनों को उन्होंने बराबर-बराबर आजीवन निभाया। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में कौन-सी प्रवृत्ति उनमें अधिक थी, को बड़ छोट कहत नहिं जोगू। इस दृष्टि से यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यद्यपि वर्तमान भारत में शास्त्रीय दार्शनिक मात्र अथवा साधक दार्शनिक मात्र कुछ ऐसे अवश्य हुए हैं जो श्री रानडे के समकक्ष हैं पर ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं हुआ है जिसने उनकी भाँति दोनों को आजीवन निभाया हो। अतः समकालीन भारतीय दर्शन में वे सर्वाधिक उल्लेखयोग्य दार्शनिक हैं।

---

१. ग्रन्थानां जात्यभिप्रायमेकत्वमधिकृत्य वृत्तेन सह द्वन्द्वः ।

उन्होंने भारतीय दर्शन की जैसी सेवा की वैसी इस युग में किसी ने नहीं की। उनकी सेवाओं में निम्नलिखित का मूल्य विशेष होगा—

(१) भारतीय दर्शन में शास्त्रीय पत्रकारिता का उन्होंने सूत्रपात किया। उन्होंने पहले श्री विजरी की सहायता से इण्डियन फिलसाफिकल रिव्यू का सम्पादन प्रकाशन किया। बाद को जब वह बन्द हो गया तो उन्होंने रिव्यू आव् फिलासफी एण्ड रिलीजन नामक त्रैमासिक पत्रिका का संचालन किया। यद्यपि आज यह भी पत्रिका बन्द हो गई है तथापि इसने दार्शनिक जगत् की महत्वपूर्ण सेवा की है।

(२) उन्होंने दार्शनिक शोध-संस्थानों की प्रतिष्ठापना की। एकेडेमी आव् फिलासफी एण्ड रिलीजन को उन्होंने स्थापित किया और इसके तत्वाधान में भारतीय दर्शन के इतिहास तथा रिव्यू आव् फिलासफी एण्ड रिलीजन नामक पत्रिका को प्रकाशित करने की योजना बनाई। भारतीय दर्शन के इतिहास में कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुईं और कुछ अर्थाभाव के कारण न हो सकीं। तत्वज्ञान मन्दिर अमलेनर के भी वे संस्थापक सभापति थे। इसी प्रकार अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के भी वे संस्थापक-प्रधान थे। भाण्डारकार ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट की संस्थापना में भी उनका प्रमुख हाथ था। जहाँ उन्होंने इन शास्त्रीय संस्थाओं की स्थापना की अथवा उनकी स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग दिया वहाँ उन्होंने अध्यात्म-परिषद् की भी स्थापना की जिसमें अभी तक अध्यात्म साधना सम्बन्धी व्याख्यान तथा कार्य हो रहे हैं। प्रयाग, सांगली और निम्बल अध्यात्म-परिषद् के प्रधान केन्द्र हैं।

(३) देशी और विदेशी विद्वानों की प्रायः धारणा है कि भारतीय दर्शन की प्रगति पिछली कई शताब्दियों से रुकी हुई है। ये लोग संभवतः १७ वीं शती के अनन्तर भारतीय दर्शन में मौलिक कृतियों का अभाव पाते हैं। श्री रानडे ने इस विचार-धारा को गलत सिद्ध किया। उनके अनुसार भारतीय दर्शन की प्रगति कभी रुकी नहीं है। वह १७ वीं शती के अनन्तर भी आज तक अबाध गति से बढ़ता जा रहा है। इसमें मौलिक दार्शनिक हुए हैं और उनकी मौलिक कृतियाँ हैं। ये सब दार्शनिक कृतियाँ भारत की आधुनिक भाषाओं में हैं। हिन्दी, मराठी और कन्नड के सन्त-साहित्य पर लेखनी चला कर श्री रानडे ने सिद्ध किया कि इन भाषाओं का दर्शन-साहित्य बतलाता है कि संस्कृत दर्शन के अनन्तर भारतीय दर्शन का विकास इन भाषाओं के माध्यम से होने लगा।

(४) भारतीय भक्तिवाद या रहस्यवाद को उन्होंने शास्त्रीय रूप दिया। भविष्य में भारतीय दर्शन में भक्ति-शास्त्र का भी महत्व आँका जायगा।

(५) प्रायः भारतीय दर्शन के विद्वान इस बात को मानते हैं कि भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन-जैसा कोरा बुद्धिवादी दर्शन नहीं है। फिर भी उन सब लोगों ने इसकी बुद्धिवादी व्याख्या ही की है। श्री रानडे ने इस दर्शन की बौद्धिक-आध्यात्मिक व्याख्या करके संसार के सामने भारतीय दर्शन की सच्ची व्याख्या पेश की है।

(६) जिन लोगों को भारतीय दर्शन की आध्यात्मक साधनाओं पर संशय होता था, उन्हें श्री रानडे से मिलकर अपने संशय का समाधान मिल जाता था। श्री रानडे ने अपने जीवन में आध्यात्मिक साधना को अपनाया था। इससे वे साधना की व्यावहारिक शिक्षा भी देते थे।

(७) उन्होंने भारतीय दर्शनों को आनन्दवाद में समन्वित किया। यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण आज अधिक उपयोगी है। पर आनन्दवाद समन्वय होते हुए भी बहुत कुछ उनका मौलिक मत है।

(८) तुलनात्मक दर्शन और धर्म में भी श्री रानडे ने काफी योगदान दिया। भारतीय और पश्चिमी दर्शनों की उन्होंने जो तुलनाएँ की हैं, वे पूर्व और पश्चिम को मिलाने में हाथ बटा रही हैं।

(६) श्री रानडे ने ऐसे शिष्य पैदा किये हैं जो उनके बुद्धिवाद, अध्यात्मवाद या दोनों को [illegible] रहे हैं। वे अपने दर्शन को अपने तक ही सीमित रख देने वाले व्यक्ति न थे। उनके अनेक योग्य शिष्य हैं जो उनकी परम्पराओं को निभा रहे हैं। इससे समकालीन भारतीय दर्शन में उनके और उनके अनुयायियों के विचार एक विशेष मत का रूप धारण कर रहे हैं। इस मत को रानडे-मत आसानी से कहा जा सकता हैं। इस समय इसका तीन धाराओं में विकास हो रहा है। पहली धारा अध्यात्म-धारा है, सन्त-परम्परा है। श्री रानडे का एक अपना सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के अपने दार्शनिक मत हैं। श्री रानडे की इसमें युगान्तराकारी देनें हैं। इस विचार-धारा का केन्द्र निम्बल, धारवाड़ और सांगली बन रहे हैं।

दूसरी धारा विशुद्ध बौद्धिक है। पहली धारा में प्रातिभ ज्ञान पर बल है तो दूसरी धारा में बुद्धि पर। बुद्धि से भी अपरोक्षानुभूति प्राप्त की जा सकती है—ऐसा दूसरी धारा का विचार है, क्योंकि अपरोक्षानुभूति बुद्धि का ही तो परिपाक है। पहली धारा में बुद्धि के विकास के बिना भी अपरोक्षानुभूति को प्राप्त करने की विधि पाई जाती है। दूसरी अर्थात् बौद्धिक विचार-धारा का केन्द्र धारवाड़, इलाहाबाद और पूना हो रहे हैं। इन दोनों धाराओं के अतिरिक्त भी एक धारा है जो दोनों का वैसे ही समन्वय करती है जैसे श्री रानडे ने किया था। इस धारा का अभी विशेष विकास नहीं हुआ है। पर लगता है कि श्री रानडे के कुछ शिष्य जिन्होंने उनसे दर्शन का अध्ययन किया था और फिर उनसे गुरु-मंत्र भी लिया था, इस तीसरी विचार-धारा को शनैः शनैः विकसित कर रहे हैं। पहली विचार-धारा में अधिकतर वे लोग हैं जिन्होंने श्री रानडे या उनके गुरु अथवा गुरु-भाई से मन्त्र लिया था और नाम-साधना करते हैं। ऐसे लोगों ने शास्त्रीय दर्शन की शिक्षा उनसे नहीं पाई थी। दूसरी विचार-धारा में वे लोग हैं जिन्होंने रानडे से दर्शन पढ़ा था। इन लोगों ने उनसे गुरु-मन्त्र नहीं लिया था। तीसरी धारा में वे लोग हैं जो श्री रानडे के दो प्रकार के शिष्य हैं, विद्या-शिष्य और साधना-शिष्य।

अनुयायियों की दृष्टि के अतिरिक्त कुछ सिद्धान्तों की दृष्टि से भी इन तीन विचार-धाराओं का निरूपण कर देना आवश्यक है। अध्यात्म-धारा नाम-साधना तथा आनन्दानुभूति को

आवश्यक मानती है। यह अपने को धर्म, भक्ति और रहस्यवाद तक ही सीमित रखती है। बौद्धिक धारा तत्वदर्शन, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र और समाज-शास्त्र का चिन्तन करती है और सर्वत्र आनन्दवाद का समर्थन करती है। तीसरी धारा में ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर अधिक जोर है। लगता है कि रानडे-मत की तीनों धाराएँ त्रिवेणी की तरह एक जगह आनन्दवाद पर मिलती हैं। तीनों का अपना विशिष्ट क्षेत्र है। तीनों में से प्रत्येक दूसरे के विशिष्ट क्षेत्र में दखल नहीं करती और उसकी विशेषता को स्वीकार करती है।

प्रस्तुत ग्रंथ में श्री रानडे के जीवन और दर्शन को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि कुछ विशेष लोग अपना लेख नहीं भेज सके हैं, तथापि प्रस्तुत ग्रंथ पर्याप्त प्रतीत हो रहा है। यह तीन भागों में में विभक्त है। पहले भाग में श्री रानडे के जीवन की समीक्षा है, दूसरे भाग में उनके दर्शन की समीक्षा है और तीसरे भाग में उनके ग्रंथों की समीक्षा है। प्रत्येक भाग का अपना मूल्य है। प्रत्येक भाग में श्री रानडे के दर्शन की प्रासंगिक चर्चा भी हो गई है। पर फिर भी पहला भाग प्रायः उनके जीवन, आचरण और रहने से ही सम्बन्धित है। सन्तों की कथनी, करनी और रहनी एक होती है। फिर भी उन पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है। जीवन-समीक्षा श्री रानडे की रहनी है। ग्रंथ-समीक्षा उनकी करनी है। दर्शन-समीक्षा उनकी कथनी है। तीनों में यदि एकता दिखाई पड़े तो स्वाभाविक ही है।

यहाँ प्रत्येक भाग का परिचय देना आवश्यक नहीं है। उस पर कुछ टीका-टिप्पणी भी करना व्यर्थ है। मूल इतना सुन्दर है कि उसमें कुछ जोड़ना ठीक नहीं है।

पर यह न समझ लेना चाहिए कि प्रस्तुत कृति में श्री रानडे के दर्शन का पूरा विवरण आ गया है। यद्यपि इस बात की भरसक चेष्टा की गई है कि इसमें उनके दर्शन की पूरी व्याख्या हो जाय, पर निम्नलिखित कारणों से यह सम्भव न हो सका—

१. श्री रानडे की तीन कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। ये हैं—वेदान्त-व्याख्यान, गीता-व्याख्यान और कर्नाटक रहस्यवाद। अन्तिम पर यहाँ दो लेख दिये गए हैं—एक दर्शन-समीक्षा में और दूसरा ग्रन्थ-समीक्षा में। फिर भी कर्नाटक रहस्यवाद का ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है और इस कारण इस पर विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। वेदान्त-व्याख्यान और गीता-व्याख्यान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। गीता-व्याख्यान श्री रानडे की सर्वोत्कृष्ट और सर्वपरिपक्व रचना है जिसको उन्होंने सबके बाद में लिखा है। इसमें उनके निजी मतों की विशेष व्याख्या है। ये व्याख्यान नागपुर विश्वविद्यालय और मदनमोहन मालवीय इलाहाबाद विश्वविद्यालय कालिज के तत्वावधानों में दिए गये थे। इनके प्रकाशित हो जाने पर अवश्य ही श्री रानडे के दर्शन पर कुछ और तेज प्रकाश पड़ेगा। वेदान्त-व्याख्यान से तो यह पता चलेगा कि वेदान्त-दर्शन और श्री रानडे दर्शन का क्या संबन्ध है। इसके प्रकाश में न आने से इस समस्या पर अभी कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता है।

२. बहुत से योग्य विद्वान अपना लेख भेज नहीं सके और जिन लोगों ने भेजा है उनमें से कुछ और विशद लिखने वाले थे, पर समयाभाव के कारण वैसा कर न सके।

फिर भी जो सामग्री यहाँ दी जा रही है वह न्यून नहीं है। इसमें श्री रानडे के दर्शन का सामान्य स्वरूप अवश्य स्पष्ट हो जाता है और विज्ञ पाठकों को उसके विशेष स्वरूप को स्वयमेव जान लेने में बाधा न होगी, अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः।

पहले इस ग्रन्थ को श्री रानडे के जीवन-काल में ही निकालने की योजना थी। तब शायद इसका रूप भी दूसरा होता। श्री रानडे से १९५६ ग्रीष्म में इस बात की चर्चा भी की गई। बड़ी व्याख्या के बाद उन्होंने इसके प्रकाशन को स्वीकार किया था। आशा थी कि उनको यह कृति भेंट में दी जायगी। पर होनी दूसरी थी। आज यह उनके देहपात के बाद प्रकाश में आ रही है। पर इतना तो संतोष है कि जिस कार्य का आरम्भ किया गया था और जिसकी चर्चा श्री रानडे साहब से कर दी गई थी वह अब पूरा हो गया है।

इस ग्रंथ के प्रणयन में विशेष प्रोत्साहन राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद, डा० राधाकृष्णन्, राज्यपाल बी० रामकृष्णराव, माननीय बलवन्त नागेश दातार, डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त, डा० बाबूराम सक्सेना, पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पं० रघुबर मिट्ठुलाल शास्त्री, पं० देवीप्रसाद शुक्ल और प्रो० रामनाथ कौल से मिला है। यह कहने में जरा-सी भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यदि इन लोगों का अनुग्रह न होता तो इस ग्रंथ की रचना का आरम्भ ही न होता। इनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए हम आशा करते हैं कि इस ग्रंथ से इनको हार्दिक प्रसन्नता होगी।

प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, प्रो० के० वी० गजेन्द्रगडकर, प्रो० न० ग० दामले, प्रो० रामनाथ कौल और डा० शशधर दत्त ने इस ग्रंथ के सम्पादन में समय-समय पर जो परामर्श और साहाय्य दिया है, उसके लिए हम इनके कृतज्ञ हैं। प्रो० गजेन्द्रगडकर ने तो लेखों के प्राप्त करने में भी विशेष सहायता दी है। यदि इन विभूतियों का सहयोग न मिलता तो सम्पादन का कार्य अधिक दुष्कर हो गया होता।

लेखकों और अनुवादकों के तो हम सर्वाधिक ऋणी हैं। इनके सहयोग पर ही वर्तमान कृति आधारित है। आशा है इन्हें अपने योगदानों को इस रूप में देखकर उल्लास होगा और आवश्यकता पड़ने पर ये भविष्य में भी अपना अमूल्य सहयोग देकर हमें कृतकार्य करेंगे।

प्रणयन और सम्पादन के उपरान्त प्रकाशन की जटिल समस्या थी। पहले इस ग्रंथ को अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका 'दार्शनिक' के विशेषांक के रूप में प्रकाशित करने की योजना थी। पर पर्याप्त धन न होने से वह इसका प्रकाशन न कर सकी। अतः इसका प्रकाशन गम्भीर प्रश्न हो गया। इसका हल प्रो० रामनाथ कौल और डा० शशधर दत्त ने सुझाया। इनके ही प्रयत्नों से इस ग्रंथ का प्रकाशन दर्शन परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय से हो रहा है।

पर दर्शन परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय के पास भी पर्याप्त धन न था। अतः प्रयाग विश्वविद्यालय के मनीषी उपकुलपति डा० श्री रञ्जन से प्रार्थना की गई कि वे इसके प्रकाशन में सहायता दें। उनकी सहायता से ही आज दर्शन परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय से यह प्रथम ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। अतः केवल हमीं ही नहीं बल्कि दर्शन परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय भी

माननीय उपकुलपति के इस युगान्तरकारी कर्म से ऋणी हैं क्योंकि परिषद् के इतिहास में ग्रंथ-प्रकाशन प्रथम और अद्वितीय घटना है जिसका प्रभाव राष्ट्र के दार्शनिक जगत पर पड़ना स्वाभाविक है।

हम अपने शिष्य श्री शीतला प्रसाद पाण्डेय एम० ए० फाइनल को भी धन्यवाद देंगे जिन्होंने प्रूफ-रीडिंग में पर्याप्त सहायता दी है। यदि प्रूफ-रीडिंग में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो प्रार्थना है कि पाठकगण क्षमा करेंगे और भूलों को सुधार कर पढ़ेंगे।

अन्त में इस प्रार्थना के साथ हम अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हैं कि देश तथा विदेश के लोगों ने जिस तरह प्रो० रानडे को अपनाया था, उसी तरह वे इस ग्रंथ को भी अपनावें।

दर्शन परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय — संगमलाल पांडेय

३ जुलाई, १९५८

(श्री रानडे-जयन्ती)

विषय-सूची

रानडे का दर्शन

प्रथम खण्ड : जीवन-समीक्षा

द्वितीय खण्ड : दर्शन-समीक्षा

तृतीय खण्ड : ग्रन्थ-समीक्षा

रामचन्द्र-प्रशस्तिः

लोकनायक माधव श्रीहरि उपनाम बापू जी अरणे, भूतपूर्व राज्यपाल, बिहार

यो रानडेवंशललामभूतः ।
विद्वद्वरैः पूजितपादपीठः ॥
आचारवानुच्चविचारदर्शी ।
तं रामचन्द्रं शिरसा नमामि ॥ १ ॥

संजातो जमखण्डिनाम्नि नगरे विद्यावतामग्रणीः ।
विद्यादानतपोरतोऽतिविमले गंगाऽसितासङ्गमे ॥
वेदग्रन्थशिरःस्थितोपनिषदां कृत्वा च यो मन्थनम् ।
तप्तेभ्योऽमृतमाददाति सततं संसारदावानलैः ॥ २ ॥

भक्तिज्ञानविरक्तिबोधसरिता यस्याननान्निःसृता ।
शिष्यान्तःकरणं करोति विमलं चाध्यात्मतत्त्वास्पदम् ॥
योगारूढमतिः समस्तजगतो बन्धुर्विलुप्तैषणः ।
तत्त्वज्ञानपरायणाय गुरवे रामाय तस्मै नमः ॥ ३ ॥

श्री रानडे का विशेष कार्यक्षेत्र

डा० राजेन्द्र प्रसाद, राष्ट्रपति, भारत

प्रो० रानडे का विशेष कार्यक्षेत्र यह है। इन्होंने प्राचीन संस्कृत दर्शन का ही नहीं किन्तु पश्चिमी दर्शन का भी अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने उन लोगों के दर्शन का भी अनुशीलन किया जिन्हें अपने जीवन में ही सिद्धि प्राप्त थी।

हमारे यहाँ एक विशाल साहित्य राशि है जिसे हम सन्त बानी कहते हैं। हम जानते हैं कि प्रो० रानडे वर्षों से भारतीय भाषाओं के इस साहित्य का श्रद्धापूर्वक अनुशीलन कर रहे हैं। मराठी संत-वाणी पर उनकी पुस्तक सर्वविदित ही है। हिन्दी की सन्तवाणी पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। ऐसे ही कन्नड की सन्तवाणी पर उनकी पुस्तक प्रकाशित होने वाली है। संस्कृत निःसन्देह इन भाषाओं की जड़ है। इसकी सन्तबानी पर भी, उपनिषदों पर भी, प्रो० रानडे की पुस्तक सर्व विदितही है!

अतः अतीत काल से हमें जो दर्शन परम्परा से प्राप्त हुआ है, वह इस समय श्री रानडे के जीवन में जीवित है।

१६-४-१६५४, नई दिल्ली

—:o:—

डा० रानडे

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, उपराष्ट्रपति भारत, नई दिल्ली

मुझे यह जान कर प्रसन्नता है कि दर्शन परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के दर्शन को प्रकाशित कर रही है। खेद है कि इसके लिए लेख लिखना मेरे लिए सम्भव नहीं है। किन्तु मैं प्रोफेसर रानडे को लगभग ३० साल से जानता हूँ। मुझे वे अति श्रेष्ठ विद्वान्, उत्तम सुहृद तथा महात्मा मिले। जिन असंख्य लोगों को उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था, उनको उनकी उपस्थिति मात्र से महान् सुख मिलता था। प्रो० रानडे के देहपात से हमारे देश को बड़ी क्षति पहुँची है, विशेषतः दार्शनिक और धार्मिक जगत को। मेरे प्रति उनकी मैत्री से मेरा जीवन अत्यधिक गौरवान्वित था।

प्रो० रानडे के लिए दर्शन प्रज्ञान का अनुसन्धान था, न कि केवल बौद्धिक व्यायाम। उनके लिए यह आत्मा का सतत ध्यान करना था, आत्मसाक्षात्कार को समर्पित करके जीवन बिताने का मार्ग था।

गुरुदेव रानडे की दार्शनिकता

ब० रामकृष्ण राव, राज्यपाल, केरल

यह जान कर मैं बेहद प्रसन्न हुआ कि मेरे पूज्य गुरुदेव स्वर्गीय डा० रा० द० रानडे का दर्शन प्रकाशित हो रहा है। मुझे पूना में उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था। उस समय वे वहाँ फर्ग्युसन कालेज में दर्शन के प्राचार्य थे। मैं उनके उन शिष्यों में से एक था जिन्हें उनके जीवन तथा सिद्धान्त का कुछ गाढ़ा परिचय था। आज से ३७ वर्ष पहले उनसे मेरा यह प्रथम सम्पर्क हुआ था। मैं फर्ग्युसन कालेज का विद्यार्थी था और दर्शन शास्त्र को विशेषाध्ययन के लिए लिया था। यह मेरा दुर्भाग्य ही रहा कि मैं अपने इस सम्पर्क को तीन दशाब्दियों तक दुहरा न सका। किन्तु मैं उनके आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को समझता रहा और जिस ज्ञान-प्रकाश को वे अपने चारों ओर सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के बीच वितरित करते रहे, उस पर दूर से प्रसन्न और उदात्त भी होता रहा। १६२० में भी जब कि सर्व-प्रथम तरुण विद्यार्थी की हैसियत से मैं उनसे मिला था, मैंने उनमें महान् पाण्डित्य के मूल तत्वों को ही नहीं प्रत्युत उत्तुंग अध्यात्म के भी मूल तत्वों को पाया था। उनका दर्शन-ज्ञान कोरा शास्त्रीय ज्ञान न था। वे दार्शनिक जीवन का भी निर्वाह करते थे। मैं बहुधा उनके घर जाया करता था। उनके घर का नाम 'अध्यात्म भवन' बड़ा यथार्थ लगता था। उन्होंने वहाँ दर्शन तथा धर्म के सभी महान् शिक्षकों का चित्र एकत्र किया था। वहीं वे अपने प्रौढ़ विद्यार्थियों को प्रवचन भी देते थे जिनमें कालेज के बाहर से भी बहुत से विद्यार्थी, उदाहरणार्थ न० ग० दामले आदि थे, जो आध्यात्मिक क्षेत्र में उनके सहयोगी हो चले थे।

ग्रीक भाषा का उनका ज्ञान तथा संस्कृत एवं भारतीय दर्शन की उनकी दृढ़ भक्ति ने उनको भारत तथा शेष संसार के समस्त दार्शनिकों के तुलनात्मक गुण-दोष का परीक्षण करने के लिए सचमुच सर्वश्रेष्ठ गम्भीर विद्वान बना रक्खा था। उनकी स्मरण शक्ति उल्लेख योग्य थी। दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाने की उनकी क्षमता इतनी प्रशंसनीय थी कि उनकी ओर दर्शन में थोड़ी अभिरुचि रखने वाले अल्प बुद्धि विद्यार्थी भी आकृष्ट हो जाते थे।

अपनी बात कहूँ तो मैं यही कहूंगा कि वे मुझे बहुत चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि मैं बी० ए० पास करने के पश्चात् फर्ग्युसन कालेज में प्राध्यापक हो जाऊँ और दर्शन

का उच्च ज्ञान प्राप्त करूँ। किन्तु मुझे वकील, राजनैतिक आदि होना था! अतः उनकी सलाह का पालन न कर सका। तब से वर्षों गुजर गए। यह मेरे जीवन का बहुत बड़ा खेद रहा है कि मैं उनसे इलाहाबाद में या मैसूर राज्य में स्थित नए आश्रम (निम्बल) में न मिल सका। किन्तु जो लोग उनसे दैनंदिन सम्पर्क रखते थे उनसे मैं उनके बारे में समाचार प्राप्त करता रहा। उसमानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद में कुछ प्रवचन देने के लिए गत वर्ष मैंने उनसे अभ्यर्थना की थी। इस वर्ष मैं उनसे मिलकर अपना आदर-भाव व्यक्त करना चाहता था। किन्तु दैव ने मुझे उनके भौतिक शरीर का दर्शन करने का अवसर नहीं दिया। उनके प्रकाण्ड पांडित्य, और उससे भी अधिक उनके सन्त जीवन तथा सर्वतः सम्पर्क में आने वालों से लभ्यमान प्रबोधन के प्रति भूयिष्ठ सम्मान और प्रशंसा व्यक्त करते हुए मैं अपने गुरुदेव की स्मृति से अभिनन्दित हूँ। उनकी पावन स्मृति में अपना सत्कार व्यक्त कर मुझे आत्म-सन्तोष मिलता है।

ओ३म् शान्तिः।

—:o:—

स्वर्गीय प्रोफेसर रानडे का पुण्य संस्मरण

बलवन्त नागेश दातार, गृहमन्त्री, केन्द्रीय सरकार, नई दिल्ली

१. यह एक मात्र दुर्भाग्य की बात है कि प्रोफेसर रामभाऊ रानडे, जो उत्तर तथा दक्षिण भारत में बहुत अधिक साधकों के आध्यात्मिक देशिक अथवा गुरु थे, ६ जून को अपने आश्रम निम्बल, जिला बीजापुर में एकाएक समाधि को प्राप्त हुए। उनके निधन ने बहुतों के लिए बड़ा सूनापन पैदा कर दिया है जिसे पूरा करना कठिन है।

२. लगभग पिछले १५ वर्षों से मुझे स्वयं यद्यपि विधिवत् नहीं तो भी एक प्रकार से निरन्तर उनके "आध्यात्मिक निर्देशन" की संरक्षता में रहने का सौभाग्य प्राप्त था। यद्यपि पिछले १५ वर्षों के समान नहीं तथापि मैं उन्हें ४३ वर्षों से जानता था। कुछ अवसरों पर मुझे उनके साथ कुछ दिनों के लिए ठहरने का सौभाग्य प्राप्त था। इससे उनकी बालक जैसी सरलता, सत्य प्राप्ति की निष्ठा एवं हम लोगों को महत्वपूर्ण आध्यात्मिक सत्य की प्रतीति कराने की सफल विधि के कारण मैं उन्हें सम्मान ही नहीं प्रत्युत श्रद्धा एवं प्रेम भी करने लगा। वह तीन या चार श्रेष्ठ आध्यात्मिक पुरुषों में से एक हैं जिन्होंने मेरे आन्तरिक जीवन को अपूर्व अंशों में परिवर्तित किया है। जो कुछ भी मैं हूँ, जिस अंश तक मैं कुछ आध्यात्मिक साधना से परिचित होने का दावा करता हूँ वह सब इन्हीं महान् आत्माओं के प्रभाव के कारण है। उन्होंने मुझे जगाया तथा आध्यात्मिक जीवन की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्साहित किया। इन सब के लिए उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करने का मेरे लिए यह शुभ अवसर है। मैंने सर्वदा अनुभव किया कि मैं उनके हृदय के समीप था और मुझे उनकी अनन्य कृपा का प्रसाद प्राप्त था।

३. मुझे उनसे मिलने एवं उन्हें निकट से जानने का अवसर सर्वप्रथम उस समय प्राप्त हुआ जब कि मैं १९१३—१९१५ के बीच डेकन कालेज पूना में पढ़ रहा था। प्रोफेसर रानडे इस कालेज से सम्बन्धित ओरिएन्टल मैनुस्क्रप्ट लाइब्रेरी (Oriental manuscript Library) के अध्यक्ष थे। उस समय वे बम्बई विश्वविद्यालय में दर्शन विषय में एम० ए० परीक्षा के लिए अध्ययन कर रहे थे। दर्शन में एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण होने के अनन्तर और यदि मेरी स्मृति गलत नहीं है तो उस वर्ष "चान्सलर-मेडेल" को प्राप्त करने के अनन्तर वे 'फरगुसन-कालेज' में दर्शन के प्रोफेसर हो गए। तत्पश्चात् 'फरगुसन-कालेज' से 'विलिन्गटन कालेज' सांगली चले गए तथा पुनः वहाँ से इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर हो गए।

प्रयाग में उन्हें अपनी साधना को पूर्ण करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। उनकी वास्तविक प्रतिभा का प्रस्फुटन भी इलाहाबाद में हुआ। वे अपने शिष्य गणों में अत्यन्त प्रिय थे। सहयोगियों आदि के द्वारा भी वे अत्यन्त सम्मानित किए जाते थे। उन्होंने कुछ समय के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उपकुलपति के रूप में भी कार्य किया। और जहाँ तक मुझे स्मरण है आज से लगभग दस वर्ष पूर्व वे इस पद से निवृत हो गए थे।

४. इलाहाबाद का उनका घर ऊँच तथा नीच सबके लिए एक तीर्थस्थान बन गया। एक समय जब मैं उनके घर ठहरा था, मैंने देखा कि बहुत से विद्वान्, हाईकोर्ट के जज, उपकुलपति तथा इलाहाबाद शहर के अन्य लब्धप्रतिष्ठ पुरुष श्रद्धा एवं विनम्रता से उनसे मिल रहे हैं तथा गहन पारमार्थिक या लौकिक विषयों पर उनसे परामर्श अथवा निर्देश प्राप्त कर रहे हैं।

५. कई वर्ष पूर्व उन्होंने वेदान्त-दर्शन पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं। करीब तीन हजार वर्ष पूर्व उपनिषदों में जो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ व्यक्त की गई थीं उनका पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान उनकी "कन्सट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी" (Constructive Survey of Upanisadic Philosophy) नामक पुस्तक में अद्वितीय ढंग से मिलता है। मेरे विचार में यह अब भी दर्शन एवं रहस्यवाद पर एक उच्चकोटि की प्रामाणिक पुस्तक है।

६. इलाहाबाद विश्वविद्यालय से निवृत्त हो जाने के बाद वे कई वर्षों तक अपना समय निम्बल एवं इलाहाबाद में बराबर-बराबर बिताते रहे। इससे उन्हें उत्तर तथा दक्षिण भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। मेरे विचार से वे दोनों को समन्वित करने में सफल हुए।

७. यद्यपि उनकी मातृभाषा मराठी थी तथापि वे कन्नड़ से भी भली-भाँति परिचित थे क्योंकि उनका परिवार लगभग एक शताब्दी से अधिक समय तक जमखण्डी में रहता था जहाँ की मातृभाषा कन्नड़ है। मराठी एवं कन्नड़ पर उनका अत्यन्त उच्च अधिकार था।

८. उन्होंने ज्ञानदेव, तुकाराम, नामदेव, रामदास प्रभृति महाराष्ट्र के संतों की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित किया। फिर प्रत्येक की 'बानी' का उन्होंने ऐसा प्रामाणिक व्याख्यान किया कि उसमें इन संतों की समस्त शिक्षाओं का समावेश हो गया है। उन्होंने महाराष्ट्र रहस्यवाद में खूब गोता लगाया है और एक पुस्तक प्रकाशित की है जो महाराष्ट्रियों के ही लिए नहीं प्रत्युत अन्य लोगों के लिए भी एक विशेष आध्यात्मिक निधि है। उन्होंने इसका नाम "मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र" रक्खा है।

९ उन्होंने आध्यात्मिक विषयों पर गद्य एवं पद्य दोनों में कन्नड़ भाषा में सन्तों द्वारा रचित रचनाओं का अध्ययन किया। जिस विधि द्वारा इन प्राचीन सन्तों या गुरुओं

ने अपरोक्ष अनुभूति को अभिव्यक्त किया था उससे वे अत्यन्त प्रेरित हुए थे। कर्नाटक विश्वविद्यालय की संरक्षता में "मिस्टीसिज्म इन कर्नाटक" विषय पर उनका भाषण उनके गहन अध्ययन का परिणाम था। मुझे विश्वास है कि उनकी पुस्तक मिस्टीसिज्म इन कर्नाटक करीब-करीब पूर्ण हो चुकी है तथा प्रकाशित होने पर यह पिछली शताब्दियों में कर्नाटक प्रदेश में आविर्भूत महात्माओं के आध्यात्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालेगी।

१०. उन्होंने इलाहाबाद में अपने दीर्घकालीन निवास का उपयोग आध्यात्मिक एवं भक्ति पूर्ण साहित्य से परिचय प्राप्त करने में किया जो कई शताब्दियों से हिन्दी और उसकी बोलियों में प्रस्फुटित हुआ है। उनकी पुस्तक हिन्दी साहित्य में "पाथवे टु गाड" अंग्रेजी में प्रकाशित हो गई है। इसके साथ इस ग्रन्थ का मूल "परमार्थ सोपान" के नाम से प्रकाशित किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों ने हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रकाश डाला है। ये आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए निर्देशना का कार्य करेंगी।

११. अंग्रेजी, हिन्दी, कन्नड़ एवं मराठी, इन चारों भाषाओं में रचित इनकी उत्कृष्ट कृतियों का अध्यात्मवाद, भक्ति, रहस्यवाद आदि गूढ़ विषयों पर विश्व साहित्य में अक्षय महत्त्व है।

१२. प्रोफेसर रानडे का सम्बन्ध एक सन्त परम्परा से था जिसमें कर्नाटक के सन्त आ जाते हैं। इस प्रदेश में बहुत से गुरुओं ने अध्यात्मवाद के जीवनोद्धार में ठोस कार्य किया है और अपने मत के अनुयायिओं तथा अनेक सामान्य भक्तों को अध्यात्मवाद की प्रेरणा दी है। उन्होंने संकीर्ण जाति-पाँति के भेदभाव को दूर कर विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास किया। प्रोफेसर रानडे के आध्यात्मिक गुरु एवं उनके परम गुरु तथा गुरु बन्धु अपने आध्यात्मिक जीवन में कई वर्षों की कठोर 'साधना' के लिए विख्यात थे। उन्होंने बहुतसे ऐसे साधारण लोगों के जीवन को ऊँचा उठाया जिनकी उनके सम्पर्क एवं निर्देशन के द्वारा ही आध्यात्मिक क्षेत्र में गति हुई। इसे वे अन्य किसी भाँति नहीं प्राप्त कर सकते थे। वही सन्त परम्परा बीजापुर जिले और उसके आसपास के क्षेत्रों में अध्यात्मवाद की उच्च परम्परा को सजीव रखने की जिम्मेदार है। निम्बल के चारों ओर बहुत से स्थान हैं जहाँ इन आध्यात्मिक नेताओं, महात्माओं की समाधियाँ हमें मिलती हैं। इन पवित्र स्थानों के दर्शन मात्र से ही उन लोगों पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है जो वहाँ खुला हुआ हृदय लेकर जाते हैं। यह पवित्र वातावरण अध्यात्मवाद की तरंगों से प्लावित है। केवल वे ही लोग इसकी प्रशंसा कर सकते हैं या इसे हृदयंगम कर सकते हैं जिनमें इसके लिए सामर्थ्य है या जो इसकी प्रतिध्वनि कर सकते हैं।

१३ प्रोफेसर रानडे ने अपने व्यक्तित्व में पूर्व एवं पश्चिम के दर्शनों का समन्वय किया था। भारत के परम्परागत दर्शनों को समझने एवं उसमें दक्षता

प्राप्त करने के लिए उनके भगवदाचार्यों अथवा अतिमानव लेखकों में श्रद्धा रखने की आवश्यकता है, यद्यपि इन दर्शनों के अध्ययन की आरम्भिक अवस्था में युक्ति (तर्क) की दृष्टि का निराकरण नहीं किया जाता। पाश्चात्य दर्शन ने बुद्धि एवं तर्क के विकास पर अधिक जोर देते हुए 'दर्शन' अथवा दर्शनों का विकास किया है। ये भारत के लिए भी शिक्षाप्रद हैं। इनकी प्रणालियों ने बहुत से सत्यार्थियों को अंधविश्वास के गर्त में गिरने से बचाया है। मनुष्य के किसी पूर्ण विकास के लिए ये दृष्टियाँ (बुद्धि या तर्क की दृष्टियाँ) आवश्यक हैं।

अत: मैं इस बात पर अधिक महत्व देता हूँ कि संतों की परम्परा में श्री रानडे के रूप में एक गुरु हुआ जो स्वयं निष्णात विद्वान एवं परमार्थी है, जिन्होंने पूर्वी एवं पश्चिमी विचार धाराओं के उत्तम अंशों का समन्वय किया तथा जिसने अपने योग-दानों से दोनों को सजीव कर दिया। वे उचित एवं रचनात्मक समालोचना को सदा स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते थे, पर हम लोगों को यह बताने के लिए काफी दृढ़ थे कि यदि किसी को आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना है तो प्रत्येक साधारण मनुष्य जाने या अनजाने जिन महान् शक्तियों का प्रतीक है उनमें उपयुक्त एवं सुप्रतिष्ठित निष्ठा के बिना, वह अपने को नहीं जान सकता है और न अपने गंतव्य मार्ग को ही समझ सकता है।

इस प्रकार उन्होंने दर्शन की दोनों (पूर्वी और पश्चिमी, प्रज्ञावादी और युक्तिवादी) परम्पराओं में पूर्ण सुसंगति स्थापित की जिसके कारण प्राचीन परिपाटी के अनुसार पले-पोसे लोग तथा आधुनिक शैली के अनुकूल शिक्षित लोग, दोनों उनकी ओर आर्कषित हुए। दूसरे प्रकार के उनके भक्तों की संख्या बहुत अधिक है, अर्थात् आधुनिक विचारधारा में शिक्षित लोग उनके अधिक भक्त हैं। ये लोग आधुनिक शिक्षित वर्ग के हैं तथा उनके पास जिज्ञासु होकर अपनी विपथगामी सन्देह-ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए आते थे। उन्हें उनसे अपने सन्देहों का समाधान मिलता तथा ऐसी समस्याओं को सुलझाने की नई कुंजी प्राप्त होती। मुझे विश्वास है कि उनमें से अधिकांश लोग आध्यात्मिक प्रसन्नता या आनन्द का अनुभव करके उनके पास से जाते थे। उनमें से कुछ लोग उनके शिष्य हो गये तथा सदा उनके शिष्य बने रहे। मैंने अपनी आँखों से ऐसे कई आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों को देखा है और उनसे मिला भी हूँ जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि उन्हें प्रोफेसर रानडे के उपदेश तथा प्रभाव से पुनर्जन्म मिला है। वे सही माने में द्विज हो गए हैं।

१४. यद्यपि यह सत्य है कि अन्ततोगत्वा हर एक व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक विकास के लिए स्वयं अपने ऊपर निर्भर रहना पड़ता है, विशेषतया साधना की अवस्थ में, तथापि प्रोफेसर रानडे जैसे गुरु ही उसे उसके उच्चतर आदर्श (परमार्थ) की ओर आगे बढ़ने में सहायता देते हैं। गुरु एवं आध्यात्मिक शिक्षक से बड़ा प्रोत्साहन मिलता

है। वे हम लोगों को हमारे चारों ओर बिखरी भगवान की बड़ी शक्तियों के सम्पर्क में लाते हैं और पहले हमें अस्पष्ट रूप से और बाद को पूर्ण स्पष्ट रूप से सचेत करा देते हैं कि हम क्या हैं, यद्यपि हम लोग वर्षों से अज्ञानता एवं मायाजाल के अनेक तहों में पड़े थे। वे हम लोगों के अन्दर आत्म-ज्योति की चिनगारी को प्रकाशित कर देते हैं। अतः किसी के जीवन में ज्योति जगाने के लिए तथा कुछ सीमा तक सांसारिक विषयों में भी उचित सुझाव देने के लिए गुरुओं को अत्यन्त शक्तिशाली समझा जाता है।

१५. यद्यपि उपनिषदों में हम लोगों को यह बताया गया है कि हमारे अनुसरण करने के लिए दो आपाततः विपरीत मार्ग हैं, एक सांसारिक सम्पन्नता का मार्ग है और दूसरा आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग, तथापि मैं अनुभव करता हूँ कि अन्त में दोनों में सुसामंजस्य होना आवश्यक है और हमारे पूर्ण सांसारिक जीवन को भी एक आध्यात्मिक साधना के रूप में होना है। यह सामंजस्य ऐसे गुरुओं एवं उनके अधिकारी शिष्यों के आशीर्वाद से भारतीय भूमि पर एक बड़ी सीमा तक प्राप्त किया जा चुका है। स्वर्गीय श्री अरविन्द घोष ने पूर्ण जीवन की इसी महान प्राप्ति को खोजने में बड़ा कठोर परिश्रम किया। उन्होंने इसको पूर्ण योग कहा। जब तक कि कोई आध्यात्मिक विषयों में उचित निर्देशन नहीं पाता तब तक वह सांसारिक विषयों में भी ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता क्योंकि अन्ततः प्रत्येक को अपने आध्यात्मिक लक्ष्य पर ही सांसारिक दृश्यों से होकर पहुँचना पड़ता है।

उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और न की जानी चाहिए। इस पृष्ठभूमि पर ही गीता में भगवान श्री कृष्ण द्वारा बताए गए सन्यास एवं त्याग के महत्व का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। अतः एक गुरु अथवा देशिक का होना अनिवार्य है जो ऊपर लिखे के अनुसार किसी को आध्यात्मिक तथा प्रसंगवश सांसारिक विषयों में उचित दृष्टिकोण दे। वे सभी दृष्टिकोण से पूर्ण तथा सम्पन्न जीवन बिताने के लिए लाभदायक होंगे। अन्त में पहले मार्ग को पिछले वाले मार्ग में सम्मिलित होना पड़ेगा अर्थात् प्रेय के मार्ग को श्रेय के मार्ग में मिल जाना होगा।

१६. केवल आध्यात्मिक विषयों में ही नहीं प्रत्युत सांसारिक विषयों में भी उनसे प्रेरणा लेने का विशेष सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उनका एक पूर्ण एवं दोषरहित निर्देशन था और इसलिए मैं अपने हृदय में दुःख का अनुभव करता हूँ कि एक और महान व्यक्ति संसार से चला गया। पिछले १० वर्षों के बीच हम लोगों ने दो महान आत्माओं के, श्री रमन महर्षि और श्री अरबिन्द घोष के, सांसारिक रूप का अदर्शन होते देखा और अब हम लोगों ने प्रोफेसर रानडे को भी खो दिया।

मैं अनुभव करता हूँ कि हम लोगों के मध्य से इन तीन महान् विभूतियों के प्रस्थान का हममें से बहुतों पर (उनके अनुयायियों पर) निराशापूर्ण प्रभाव पड़ेगा, यद्यपि हम लोगों का कर्त्तव्य है और यह हम लोगों का अधिकार होगा कि हम नैराश्य की इस भावना पर विजय प्राप्त करें और सांसारिक अर्थ में उनके प्रस्थान का ध्यान न

रखते हुए अपने कार्य को करते रहें। यह उनके आदेशों का सार था कि अपने आध्यात्मिक निर्देशन के लिए सदा हरेक को अपने ऊपर निर्भर रहना चाहिए और यदि कोई आत्म निर्भरता के इस गुण का विकास न कर पाए तो उनके सभी उपदेश हम लोगों से गायब हो जायँगे। अतः मैं इन तीन महात्माओं के प्रस्थान से उत्पन्न हुई वेदना एवं असहायता की कामना को दूर करने का अत्यधिक प्रयत्न कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरे जैसे लोग एक के अथवा दूसरे के या इन सभी महान् आत्माओं के आशीर्वाद से अपना कार्य जो कुछ भी ऊँचा नीचा उनके मार्ग में आवे, सृष्टिकर्त्ता को समर्पण करके और भी उत्साह के साथ करेंगे। समर्पण की यह विधि केवल अत्यन्त सहायक ही नहीं प्रत्युत अत्यन्त उन्नायक भी है। अन्त में यह 'आत्म-ज्योति' की ओर ले जायगी जो परमानन्द अथवा आत्म-साक्षात्कार का दूसरा पर्याय है।

१७. प्रोफेसर रानडे के शिष्यों को कम या अधिक रूप से जानने का मेरा परम सौभाग्य रहा है। प्रोफेसर रानडे के निर्देशन या आशिर्वाद या प्रोत्साहन के द्वारा उन्हें जो कुछ विस्मयजनक आध्यात्मिक अनुभव हुए हैं, उन्होंने मुझे उनके परिज्ञान दिए हैं। वे उन्हें उसी प्रकार देखते थे जैसे बालक अपने माता-पिता को। वे पूर्ण रूप से उनके आश्रय में रहते थे। यही बड़े अनुराग की वह भावना है जो अपने अनुयायियों या प्रशंसकों या सच्चे जिज्ञासुओं के साथ प्रोफेसर रानडे के सन्बन्ध में दिखाई पड़ती है। वे वास्तव में अपने शिष्यों, प्रशंसकों एवं जिज्ञासुओं में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करते थे।

मुझे विश्वास है कि मेरी भाँति वे भी अनाथ हो जाने की इस भावना को जीतेंगे तथा प्रोफेसर रानडे की आत्मा से आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। निश्चय ही उनकी आत्मा, उन स्थानों पर जहाँ कि उनके भक्त रहते हैं फिर चाहे समीप हों या दूर, भ्रमण करेगी तथा आन्तरिक रूप से उन्हें उचित निर्देशन देगी। यदि मैं ऐसी भविष्य वाणी कर सकता हूँ तो ज्यों-ज्यों दिन बीतता जायगा उनका प्रभाव और भी अनुभव किया जायगा, जैसे मंत्रलय के राघवेन्द्र स्वामी एवं शिरदी के साईं बाबा वर्षों से अपना प्रभाव व्यथित विश्व पर डालते रहे हैं। ये आत्माएँ कभी भी अपने शरीर से नियंत्रित नहीं थीं तथा सर्वदा देह पाने के बाद भी ज्योति भेजती रहेंगी।

१८ मैं आशा करता हूँ कि प्रोफेसर रानडे के उत्तराधिकारी तथा उनके शिष्य (अनुसरण करने वाले) कुछ सन्तोष जनक प्रबन्ध करेंगे जिससे उनकी बहुत सी पुस्तकें सस्ते एवं लोकप्रिय रूप में हिन्दी, मराठी, कन्नड़ एवं अंग्रेजी भाषा में निकाली जायँगी जिससे उन लोगों को प्रकाश मिलेगा जो कि इसके लिए तृषित हैं। उनके सभी प्रकाशन कई प्रकार से अद्वितीय हैं। जहाँ तक आध्यात्मिक अथवा भक्ति-वाणियों या रहस्यवादी साहित्य का सम्बन्ध है वह भारतीय साहित्य के सभी मत-मतान्तरों का पूर्ण परिचय देता है।

१९. उनका जीवन एक दीर्घ साधना था। जब मैं कभी प्रोफेसर रानडे को देखता था, मैं सर्वथा श्रीमद्भागवत में वर्णित, आत्म-प्रकाश प्राप्त महात्माओं की भावनाओं, उक्तियों और कृतियों का स्मरण करता था। उनके बारे में यह वर्णन किया गया है कि वे सभी रूढ़ियों एवं बन्धनों व सीमाओं को तोड़कर सांसारिक वातावरण को पूर्ण रूप से विस्मृत करके अपने सृष्टिकर्ता की राग में नृत्य करते थे। दूसरे शब्दों में वे आध्यात्मिक ज्योति में लीन हो गए थे अथवा वे ईश्वर के लिए पागल हो गए थे। मेरे विचार से यही ईश्वर के साथ आत्मिक एकता की पराकाष्ठा है। ऐसे अनुभव मेरे लिए या अन्य लोगों के लिए अत्यधिक मनहरण थे।

२०. उन्होंने मुझे कई अवसरों पर बता‑ा था कि कर्नाटक रहस्यवाद (भक्ति) का देश था और भविष्य में सम्पूर्ण भारत में अध्यात्मवाद को बढ़ाने में इसका सबसे बड़ा हाथ रहेगा। यही कारण था कि उन्होंने निम्बल (कर्नाटक) में आध्यात्मिक केन्द्र की स्थापना की, यद्यपि बाह्य रूप से इस स्थान अथवा वातावरण के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी न था जो कि आकर्षक हो। मुझे विश्वास है कि उनके निर्देशन की संरक्षता में उस स्थान में जो कुछ भी पहले श्रेष्ठ था उसका व्यक्तीकरण होगा तथा यह ईश्वर-प्राप्ति का उचित मार्ग दिखाएगा और यही नहीं प्रत्युत प्रांतीय भाषाओं एवं व्यक्तिगत सीमाओं को पार करके सभी को प्रकाश देगा। कुछ समय में यह सम्पूर्ण भारत वर्ष में विकसित हो जायगा तथा बाद में विश्व भर में फैल जायगा क्योंकि भारत को एक आध्यात्मिक संदेश देना है, फिर उसके लिए चाहे जो कुछ हमारे अपवादक कहें।

२१. यह मेरे लिए आवश्यक नहीं कि मैं इस पुण्य संस्मरण को उनकी आत्मा की शान्ति के लिए ओम् शान्ति इन आशाजनक शब्दों से समाप्त करूँ। उनकी आत्मा शक्तिमान थी, यह सर्वदा रहेगी और यह जहाँ कहीं भी है शान्ति के विकास के लिए एवं सम्पूर्ण मानव जाति के आध्यात्मिक कल्याण के लिए कार्य करेगी।

मेरे विचार से यह सर्वदा इच्छुक एवं पथभ्रष्ट आत्माओं को भी निर्देशन देगी।

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी यह विनम्र श्रद्धांजलि ही उनके प्रति अन्तिम सेवा है। सांसारिक अर्थ में प्रोफेसर रानडे के निधन पर उस महान् आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट करना मेरा सौभाग्य है। वे एक उच्च जीवन में प्रवेश कर चुके हैं और मुझे विश्वास है कि जहाँ कहीं भी हम लोग हैं सदा वे हम लोगों के साथ रहेंगे। वे हमारे जीवन को पूर्णतया लक्ष्यपूर्ण बनाने में सहायता करें।

अनुवादकर्त्री —

ओ३म् तत् सत्। रामजानकी वैश्य

—:०:—

ब्रह्मर्षि रानडे

धीरेन्द्र मोहन दत्त, शान्तिनिकेतन

आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे का भौतिक शरीर अब भूतों में विलीन है। देहमुक्त ब्रह्मर्षि की पवित्र स्मृति अब मानस में अधिकतर उज्ज्वल हो रही है।

डा० रानडे यशस्वी विद्वान् थे, प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे, प्रख्यात अध्यापक थे, प्रमुख दार्शनिक थे। परन्तु यह उनका यथार्थ परिचय नहीं है। उनके जीवन का मूलस्रोत था ब्रह्मास्वाद, यह सब था उसी का वाह्य प्रकाश। ब्रह्म-चिन्तन में ही उनका अधिक समय व्यतीत होता था।

गणित, संस्कृत, ग्रीक, दर्शन आदि, बहु शास्त्रों में उनका पाण्डित्य था। किन्तु उनकी सभी अपराविद्यायें पराविद्या ही का साधन थीं। अध्यापन भी आध्यात्मिक जीवन ही का परिपोषक था। उपनिषद् रहस्यवाद और सन्तों के विषय में ग्रन्थ-रचना तो मानो उनकी आध्यात्मिक साधना का अंग-सी थी। उनके पावन संस्पर्श से विद्यार्थियों को अपराविद्या के साथ पराविद्या की झलक-भी कुछ मिल जाती थी। महाराष्ट्र के सन्तों के सदृश आप के जीवन में भी ज्ञान और भक्ति का मधुर समन्वय हुआ था। शरीर उनके पूर्ण वश में था; वह था आत्मा का लघुतम वाहन और साधन। देखने से ही प्रतीत होता था कि उसे जब चाहें छोड़ सकते हैं।

गृहस्थ होते हुए भी आप सन्यासी थे। गृह उनका आश्रम था। कुटुम्ब, अतिथि, विद्यार्थी, मुमुक्षु सभी का वह एक अपूर्व संगम था। तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, शास्त्रार्थ, सत्संग, भजन-कीर्तन और आदर-सत्कार का सतत प्रवाह वहाँ चलता था।

कई बार उनके घर में ठहरने का सौभाग्य मुझे प्राप्त था। अन्तिम बार चले आने के पूर्व आपने शिशु दौहित्र से गीता जी के इन दो श्लोकों की आवृत्ति कराकर मुझे बिदाई दी।

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तद् अहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥"

कर्णों में अभी तक उस शुक-कण्ठ की प्रतिध्वनि आ रही है और संकेत दे रही है। यह आत्म-समर्पण-योग ही उनका मुख्य उपदेश है। ओम् "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर् ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिना।"

मित्रों और शिष्यों के रहस्यविद् देशिक डा० रानडे

अ० क० त्रिवेदी, नवसारी; बम्बई

डा० रा० द० रानडे के देहपात से, भारत एक बड़े अध्यात्मवित्, एक बड़े दार्शनिक, एक रहस्यवित् ईश्वरभक्त से रहित हो गया।

डा० रानडे की दार्शनिक के नाते प्रसिद्धि के विषय में कुछ कहना शब्दों का वृथात्व होगा। उनकी पुस्तकें भारतीय दर्शन में, विशेषतः उपनिषदों तथा मध्ययुगीन महाराष्ट्रीय सन्तों की बानी में, उनके सान्द्र तथा विस्तृत अनुशीलन के स्पष्ट परिचायक हैं। जिसने उनकी "उपनिषद् दर्शन की रचनात्मक समीक्षा" नामक पुस्तक पढ़ी है वह आसानी से मान लेगा कि उसके द्वारा प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति उनका प्रेम उनके पाठकों के मस्तिष्क को आन्दोलित कर देता है। पाठक उसके द्वारा प्राचीन भारतीय ऋषियों की शिक्षाओं को समझने की प्रचुर प्रेरणा प्राप्त करता है। डा० रानडे के लिए दर्शन सत्य का उतना अनुसन्धान न था जितना कि वह सत्यमय जीवन का अनुसंधान था।

फर्ग्युसन कालिज पूना में प्राचार्य की हैसियत से अपने जीवन के आरम्भ से ही उन्होंने सबको अपनी मौलिकता तथा भारतीय दर्शन की गहरी अन्तर्दृष्टि से प्रभावित किया। जब कभी मुझे उनसे पत्र व्यवहार करने का अवसर मिला, उनके उत्तरों से मैं इस बात से विस्मित हुआ कि भारतीय दर्शन उनके मनन में सर्वोपरि है। जब वे इलाहाबाद गए तो वे तुरन्त भारतीय विचारकों के अग्रणी हो चले। वहाँ उन्होंने अपने चारों ओर अनुयायिओं का एक मत स्थापित किया।

अमूर्त चिंतनों से अनुरंजित उनका दर्शन विशुद्ध सन्यासमार्गी युक्तिवाद न था। यह "जीवन का एक मार्ग था।" वे अपने "दर्शन को जीवन में निभाते थे।" यही उनकी सच्ची महानता थी। जो उनके सम्पर्क में आए सभी उनके रहस्यवाद से प्रेरित हुए तथा उनके अध्यात्मवादी मार्ग का अनुसरण करने लगे।

मैं निजी अनुभव से जानता हूँ कि उनके विद्यार्थी उनके प्रति अतिशय प्रेम तथा आदर करते थे। उन सबों ने यह निश्चय किया था कि वे प्रति वर्ष एक बार उनके स्थान पर जायँ तथा उनसे निरंतर प्रेरित रहें। जब वे उनके साथ रहते थे तब वे जीवन की सभी चिंताओं को भूल जाते थे।

इससे भी अधिक एक और बात। उनके सैकड़ों विद्यार्थी जिनमें से अधिकतम उच्च-पद पर पहुँच गए थे, जो कुछ उनसे सीखते थे उस पर अपने व्यवहारिक दैनिक

जीवन में अभ्यास करते थे। एक बार मुझे उनके एक विद्यार्थी-शिष्य के साथ रहने का अवसर मिला जो कि बाद में मेरे भी विद्यार्थी हो गए। वे प्रतिदिन स्त्री तथा बच्चों के साथ भजन तथा प्रार्थना करते थे तथा ईश्वरीय आत्मा का मनन करते हुए सोते थे। यह देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। इस प्रकार की आध्यात्मिकता डा० रानडे के सम्पर्कों की प्रतिफल थी। इस महान् आत्मा के व्यक्तित्व की यह भूरि-भूरि सराहना करती है।

मैंने उनके अनेक विद्यार्थियों एवं गुरुभाइयों से यह सुना है कि वे सभी उनके प्रति बड़ा अनुराग रखते हैं। इसकी अभिव्यक्ति के फलस्वरूप ही वे उनको गुरुदेव रानडे कहते थे।

जब कभी डा० रानडे को मेरे पास पत्र लिखने का मौका मिलता था तब उनके पत्र व्यक्तिगत प्रेम, अध्यात्मवाद और ईश्वर-प्रणिधान से ओत-प्रोत रहते थे। इसको मैंने उनकी मूल्यवान पत्रिका Journal of Philsophy And Religion (दर्शन एवं धर्म की पत्रिका) के प्रसङ्ग में देखा था। इसको वे कई वर्षों तक सम्पादित तथा प्रकाशित करते रहे। मुझे भी एक उत्तरदायित्वपूर्ण ढङ्ग से इस पत्रिका के साथ उन्होंने सम्बद्ध कर दिया था।

दार्शनिक निर्णयों के मामलों में वे इतने विवेकी और मधुर आत्मा थे कि कोई उनसे मतभेद नहीं रख सकता था। उनकी आत्मा वास्तव में अत्यन्त प्रेमास्पद थी।

मुझे उनके व्यक्तिगत आतिथ्य का भी स्वाद चखने के अवसर मिले। इनसे उनके व्यवहार के पीछे शानदार मन का होना लक्षित था।

अपने अन्तिम पत्र में, अपने निधन के लगभग एक सप्ताह पूर्व, उन्होंने मुझे अपनी बीमारी के बारे में लिखा। किन्तु उसमें निराशा की कोई ध्वनि न थी और मैंने सोचा कि ठीक हो जायेंगे। किन्तु ऐसा हुआ नहीं।

यथार्थतः वे अवतारी पुरुष थे, अवतीर्ण पवित्रता थे, जीवन का अधिकांश भाग त्रिवेणी-संगम पर बिताते थे और सर्वाधिक निश्चयपूर्वक कहा जाय तो वे जीवन्मुक्त थे।

गुरुदेव रामभाऊ रानडे जी का पुण्यस्मरण

प्राचार्य शं० वा० दांडेकर, एम० ए०

गत वर्ष इसी अवसर पर जिनकी इकहत्तरवीं वर्ष गाँठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई थी उन्हीं गुरुदेव का पुण्यस्मरण लिखने का प्रसंग एक वर्ष के ही बाद प्राप्त होगा ऐसी जमखिंडी में सम्मिलित हुए उनके शिष्यों को कल्पना तक न थी। कारण उस अवसर पर सभी ने भगवान् से यही प्रार्थना की थी कि गुरुदेव को दीर्घायु प्राप्त हो। परन्तु आश्चर्य यह कि रामभाऊ अपने को छोड़कर परलोक सिधारेंगे ऐसी अन्तिम क्षण तक किसी को भी कल्पना न थी। उनका स्वास्थ्य क्षय की बीमारी से जो गिर गया वह अन्त तक वैसा ही बना रहा। यही आश्चर्य है कि उस बीमारी पर भी विजय प्राप्त करके रामभाऊ तीन तपके ऊपर जीवित रहे। उनकी आँखों का तेज, शरीर की चपलता, क्रिया का बल और साधना की निष्ठा अन्त तक बनी रही। इससे एक प्रकार का आभास निर्माण हुआ कि रामभाऊ और कई वर्ष तक अपनेको छोड़कर नहीं जावेंगे। इसी भरोसे से मेरे जैसे 'उनकी तबीयत ठीक है, जायेंगे इतना कार्य समाप्त करने पर' कहने वाले मृत्यु-पूर्व उनके अन्तिम दर्शन का लाभ उठा न सके। उनके निकटवर्ती कुछ शिष्य जिस दिन रात को उनका देहान्त हुआ उसी दिन दोपहर की रेलगाड़ी से बिजापूर गये। कारण रामभाऊ उस दिन भी नित्य नियमानुसार पाँच छः घन्टे मोटर से एकान्त में जाकर साधना करके वापिस लौटे। साधना करते करते ही भगवान् उन्हें जून छः तारीख को अपने पास ले गये।

गुरुदेव रामभाऊ रानडे जी दैवीगुण-सम्पन्न थे। वे उत्तम साधक थे। मैं इस लेख में उनकी साधक अवस्था के ही कतिपय संस्मरण उद्धृत करने वाला हूँ। यह पढ़ कर जिनका उनसे बाहर-बाहर से ही परिचय है उनके मनमें यह विचार आने की सम्भावना है कि उनका पांडित्य, गहरा वाचन, अलौकिक स्मरणशक्ति, अनेकभाषाप्रभाव आदि बड़े बड़े गुणों का उल्लेख न करके प्रस्तुत लेखक ने अपनी श्रद्धांजलि के लिए यह मामूली गुण क्यों पसन्द किया? इसका उत्तर सरल है। गुरुदेव पंडित और तत्त्वज्ञ के नाते आंतर्देशीय कीर्ति सम्पन्न महाराष्ट्रीय महापुरुष तो थे ही, इससे भी बढ़ कर वे 'पारमार्थिक साधना करने वाले महात्मा थे। साधारणतया लोग ऐसा मानते हैं कि पंडित (Scholar) परमार्थ से - पारमार्थिक जीवन से—कोसों दूर रहते हैं, वे शास्त्र व्याख्यान कुशल होने पर भी 'जागे बाहेर आंत निजेले' (बाहर जाग्रत परन्तु भीतर से सोए हुए) होते हैं और साधु वेद-शून्य, शास्त्र-शून्य होते हैं, केवल रामनाम रटते रहते हैं। परन्तु गुरुदेव अपने देश के महान् साधु श्रीमद् शंकराचार्य और ज्ञानदेव या विदेश के एक्कार्ट

जैसे उपर्युक्त विचार गलत हैं ऐसा सिद्ध करने वाले महापुरुष थे। जिस प्रकार शरीर सौष्ठव और साथ साथ सुवर्णालंकार भी प्राप्त होना दुर्लभ है, सामान्यतः एक है तो एक नहीं ऐसा ही रहता है, उस प्रकार गुरुदेव में पांडित्य और साधुत्व दोनों दैवी गुणों का संगम था। ये गुण एक दूसरे को शोभा तो देते ही थे, साथ-साथ गुरुदेव के विभूतिमत्व की अलौकिक शोभा को भी बढ़ाते थे। आश्चर्य तो इसमें है कि संसार में कीर्ति प्राप्त कर देनेवाला उपनिषदों का रचनात्मक अर्थ लिखने वाले गुरुदेव सभी की विशेषतया नये नये ग्रन्थ लिख कर अपनी कीर्ति में और वैभव में अधिकता लाने की समस्त शक्ति का—त्याग किस साधना की निष्ठा से कर रहे थे? वह साधना थी भगवान् का नाम स्मरण। सामान्य पुरुष कहेगा कि ऐसी निकृष्ट साधना और उसके लिए इतना महान् त्याग! परन्तु सच कहा जाय तो कलियुग में हरिनाम स्मरण जैसा भगवत् प्राप्ति के लिए दूसरा उससे बढ़ कर सुलभ और श्रेष्ठ साधन नहीं है।

गुरुदेव ने पारमार्थिक क्षेत्र में विशेषतया महाराष्ट्र में महान् कार्य किया है। उन्होंने श्री ज्ञानदेव से लेकर समर्थ रामदास तक अनेक संतों की चलाई पारमार्थिक साधना को—मार्ग को—अपने ग्रन्थों से और अपनी साधना के अनुष्ठान से परिष्कृत किया। उन्होंने महाराष्ट्रीय संतों की योग्य स्थान पर स्थापना की। उनकी महानता किसमें है यह जानने के लिए लोग आकृष्ट हुए। महाराष्ट्र की ऐतिहासिक घटना और उसकी विशेष प्रकार की मनोरचना से गत पचास वर्ष की अवधि में संतों की महानता सिद्ध करने की कसौटी के सम्बन्ध में लोगों के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। तत्पूर्व ये सन्त इसलिए बड़े समझे जाते थे कि वे निरन्तर भगवान् का भजन-कीर्तन करते थे। परन्तु उन दिनों ऐसा एक दल निर्माण हुआ था कि वह सब प्रश्नों की ओर राजकीय दृष्टिकोण से ही देखता था। उनकी दृष्टि से इन सन्तों ने परायी सत्ता की गुलामी से मुक्त होने के लिए कुछ प्रयत्न ही नहीं किया, अतः ये निकम्मे, कर्म-शून्य और दैववादी हैं। उन्होंने उनकी कड़े शब्दों में आलोचना की। इस क्षेत्र में सन्तों के कार्य की ओर देखने का यथार्थ दृष्टिकोण पहले-पहल श्री माधव गोविन्द रानडे जी ने लोगों के सामने उपस्थित किया। उनके बाद गुरुदेव रामभाऊ रानडे जी ने अधिकार वाणी से सिद्ध कर दिखाया कि सन्त सामाजिक कार्य से पहचाने नहीं जाते, उनको आत्मानुभूति से—आत्मप्रचीति से पहचानना चाहिए। गुरुदेव आधुनिक युग के सन्त माने जाते हैं। तत्वज्ञान विषय के लेखक तो बहुत हैं परन्तु उसके सच्चे तत्व को—अध्यात्म को जीवन में उतारने वाले पुरुष इने-गिने ही दृष्टिगत होते हैं। स्वयं ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त करके सामान्य जनता के लिए सुलभ करा देने वाले महात्माओं में से गुरुदेव एक महात्मा थे। उनकी महानता इसमें है कि वे पंडित और तत्वज्ञ होने पर भी उच्चकोटि के साधक थे।

गुरुवर्य रानडे की पुण्य स्मृति में

प्राचार्य न० ग० दामले, पूना

वैदिक काल से आज तक जिन महान् दार्शनिकों तथा साधु संतों ने स्वयं परमार्थ मार्ग का अनुसरण करके आत्मलाभ किया और अनेक जिज्ञासु साधकों को भी मार्ग प्रदर्शन करके उपकृत किया उनमें कैलासवासी गुरुवर्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे भी हैं। बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल लोकनायक बापू जी अणे ने लेखक को लिखे एक पत्र में कहा कि रानडे "जागतिक कीर्त्ति (world fame) के तत्वज्ञानी" और आधुनिक ऋषि-तुल्य जीवन के आदर्श थे। और, भारत के प्रस्तुत उपराष्ट्रपति और जगत-प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् के पत्रों में भी यह शब्द है कि डॉ० रानडे की मृत्यु से मैं एक महान् व्यक्ति के सान्निध्य से दूर हो गया हूँ। उनका जीवन तथा रहन-सहन सरल व पवित्र था जिससे उनके सान्निध्य में आए कई लोगों के जीवन को उन्नत होने में सहायता मिली है। मेरा जीवन भी उनके साथ रहकर अधिक सम्पन्न हुआ है।" जीवन के ५० वर्ष उन्होंने "देवकार्य" करने में व्यतीत किए और अपना तथा दूसरों का हित पूर्ण करने के पश्चात् ७१वें वर्ष में दि० ६ जून १९५७ को निंबल जिला बिजापूर में शरीर त्याग किया। उनकी बीमारी के समय लेखक अंतिम क्षण तक उन्हीं के पास था। अतः ये सत्पुरुष अंत में किस स्थिति में थे यह उन्होंने प्रत्यक्ष देखा। हिन्दी संत कवि बहिरो की प्रार्थना कि, जब आपहि दरस दिखावे। तब प्राण तन से निकले। (आत्म दर्शन में जब मैं लीन हो जाऊँ तभी हे परमेश्वर मेरे शरीर से प्राण निकले) गुरुवर्य रामभाऊ रानडे के लिए परमेश्वर ने सुन ली। यह मैंने देखा। यद्यपि शरीर से वे हम लोगों के बीच नहीं हैं परन्तु उनकी पुण्यस्मृति जिज्ञासु साधकों के लिए अवश्य ही स्फूर्तिदायक तथा मार्गदर्शक होगी इसमें कोई संदेह नहीं। ऐसे विद्वान ईश्वरभक्त की पुण्यस्मृति में उनके जीवन की महत्वपूर्ण बातों का निर्देश करके उनके तत्वज्ञान तथा पारमार्थिक जीवनधारा का परिचय मैंने संक्षेप में कराने को सोचा है।

द्वितीय जन्म

गुरुवर्य रामभाऊ रानडे का जन्म ३-७-१८८६ को जमखंडी में एक सत्वशील कुल में हुआ। रामभाऊ की बड़ी बहन भागूआक्का मेरी माँ थीं। भागूआक्का के पश्चात् कई वर्षों तक संतान न होने के कारण रामभाऊ की माँ ने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से जमखंडी के पास स्थित रामेश्वर की सेवा की और उनकी सेवा सफल होकर मानों

रामेश्वर के वरदपुत्र राम ही जन्म लेकर आए। अपनी माता से उन्होंने बचपन से परमार्थ सीखा था। अतः बचपन से ही उनका परमार्थ की ओर आकर्षण था। और इनके पूर्वकर्मों के कारण ही शायद उनकी आयु के १५ वें वर्ष में अर्थात् १६०१ में उमदी के साक्षात्कारी संत श्री भाऊ साहेब महाराज जब जमखंडी आए थे तब उन्हें बैकुंठ चतुर्दशी के शुभ दिन को अनुग्रह मिला। यह मेरा "द्वितीय जन्म" था यही रामभाऊ कहते थे। और, कह सकते हैं कि तभी उनके पारमार्थिक जीवन का आरम्भ हुआ।

विद्यालय में यश, बीमारी और ईश्वर-शोधन

रामभाऊ की प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा जमखंडी में ही हुई। मैट्रिक की परीक्षा में उन्हें जगन्नाथ शंकर सेठ छात्रवृत्ति मिली। बाद की शिक्षा के लिए वे डेक्कन कालेज में गए और बी० ए० की परीक्षा तक सब परीक्षाओं में अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए और कई छात्रवृत्तियाँ तथा पारितोषिक भी उन्हें मिले। साथ ही साथ अपनी बुद्धि तथा सौजन्य से उन्होंने अपने अध्यापकों तथा सहपाठियों को आकर्षित कर लिया। बी० ए० में सफल होने के बाद १६०८ में डेक्कन कालेज में वे दक्षिण फेलो नियुक्त हुए। और उन्होंने एम० ए० की पढ़ाई भी आरम्भ कर दी। परन्तु एकदम उनके ज्यादा बीमार पड़ जाने से उनकी व्यावहारिक इच्छाओं को जबरदस्त धक्का पहुँचा। परन्तु यह शारीरिक आपत्ति उनके लिए हितकारक ही हुई क्योंकि इस आपत्ति के कारण उनमें परमेश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ और परमेश्वर तथा सद्गुरु की शरण में जाकर उन्होंने "ईश्वरशोधन" का प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों का फल शीघ्र ही उन्हें परमार्थ के प्रकाश, रूप, और नाद के अनुभव द्वारा मिला। इससे उनका परमार्थ में विश्वास और भी बढ़ा और वे और भी उत्साह से साधना करने लगे।

नाद, कला, बिंदुः अनुभव

इस समय के एक दो अनुभव रामभाऊ बताया करते थे। सन् १६०८ के अक्टूबर में वे क्रिकेट का खेल डेक्कन कॉलेज में देख रहे थे, तब एकदम अखिल नभोमंडल अलौकिक तेज बिंदुओं से व्याप्त हो गया है ऐसा पारमार्थिक अनुभव उन्हें हुआ। इस अनुभव का चित्रण उन्होंने "विश्वका मध्यबिंदु" इस लेख में कार्लाइल की लेखनशैली का अनुकरण करके काव्य रूप में किया है। इस विश्व का मध्यबिंदु (ईश्वर) यदि देखा जाय तो पदार्थ-मात्र में सभी जगह है परन्तु इसकी परिधि कहीं नहीं दिखती, इस तत्व का प्रतिपादन उन्होंने उसमें किया। इस प्रकार उनके चिंतन का आरम्भ "बहुविध चैतन्यवाद" से कैसे आरम्भ हुआ यह पता चलता है। इस अनुभव के बाद ही वे काशी गए और डा० बेसंट से मिले और उन्हें अपना अनुभव बताया। तब डा०

बेसंट ने कहा कि "रानडे ! आपका अनुभव महत्वपूर्ण है और आपके ऊपर गुरु कृपा का छत्र है।

उसके बाद एक दो साल में ही उन्हें नाद के सम्बन्ध में दूसरा अनुभव हुआ। उस समय में वे पूना में गोडबोले के घर में रहते थे। उसी घर में ओहारी महादेव का एक मन्दिर था। एक दिन वे अपने घर की छत पर ध्यान कर रहे थे तब उन्हें एकदम घन्टे की आवाज लगातार सुनाई देने लगी। मन्दिर में कौन घन्टा बजा रहा है यह जब उन्होंने अपनी माँ से पूछा तब उन्होंने कहा कि कोई नहीं। यह अनाहत नाद होगा यह उन्होंने सोचा ! उसी समय वे नाद के स्वरूप और महत्व पर विचार कर रहे थे तभी उनके मित्र का उनके पास भेजा हुआ शङ्कराचार्य का संक्षिप्त ग्रन्थ उनके हाथ पड़ा। किताब खोलते ही (योग तारावलि) इस स्फुट अध्याय का यह श्लोक उन्हें दिखा।

"नादानुसंधान ! नमोऽस्तु तुभ्यम् । त्वां साधनं तत्वपदस्य जाने ॥
भवत्प्रासादात् पवनेन साकं । विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

इससे उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि उन्हें अनाहत नाद का ही अनुभव हुआ था और उन्हें प्रसन्नता हुई। बाद में उन्होंने इस योग तारावली पर चित्रमय जगत् में एक लेख भी लिखा और उसमें श्री शंकराचार्य को अपनी साधक अवस्था में नाद अनुसंधान से प्राप्त होने वाला लय ध्येय सिद्धि में किस प्रकार उपयोगी हुआ यह पाठकों को दिखाया।

नित्य नेमावली

बाद में १९१० के अंत मेंउन्होंने अपने सद्गुरु की आज्ञानुसार नित्य नेमावली नामक छोटी-सी पुस्तक तैयार की। यद्यपि निर्गुण उपासना श्रेष्ठ है और उसके अनुसरण का नामस्मरण ही मार्ग है फिर भी तीनों समय पोथी का अध्ययन, भजन, आरती आदि का भी महत्व काफी है। इस कारण इस पुस्तक में दिये भजन, आरती आदि साधकों के लिए अवश्य उपयोगी सिद्ध होंगे। उन्होंने इस पुस्तक के आरम्भ में छोटी-सी भूमिका लिखी है। और सूक्ष्मरूप से अन्वेषण करने से पाठक को उसमें गुरुवर्य रामभाऊ का तत्वज्ञान बीजरूप में मिलेगा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक को रामभाऊ के सान्निध्य में रहकर उनके लिखने के काम में सहायता करने का अवसर मिला और सौभाग्य से श्री सद्गुरु भाऊ साहब महाराज की भी कृपा हुई।

फर्ग्युसन कॉलेज में तत्वज्ञान के अध्यापक

डेक्कन कॉलेज में दक्षिण फेलो और फर्ग्युसन कॉलेज में लेक्चरर का काम करने के बाद १९१२ में उनकी डेक्कन कालेज में Curator in Charge of Manus-

cript library की नियुक्ति हुई। परन्तु सरकारी नौकरी के बन्धन उन्हें अच्छे नहीं लगे और प्रिन्सिपल परांजपे आदि स्वार्थत्यागी लोगों के कहने पर उन्होंने फर्ग्युसन कालेज में अध्यापक का काम स्वीकार किया और शीघ्र ही वे उसके आजीवन सदस्य भी हो गए। इस कालेज में ही काम करते समय वे दर्शन विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा के लिए बैठे और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और कुलपति स्वर्ण पदक भी प्राप्त किया। अपने अनुभवों को तात्विक और बौद्धिक आधार देने की दृष्टि से उन्होंने पूर्वी तथा पाश्चात्य दर्शन को पढ़ा। और लोगों को भी दर्शन पढ़ने के लिए वे कहते थे। उन्हीं के कहने से मैंने और उनकी लड़की शकुंतला ने दर्शन विषय लेकर एम्० ए० की डिग्री ली। फर्ग्युसन कालेज में ७–८ साल में उन्होंने विभिन्न मासिक पत्रों में दार्शनिक लेख लिखे। विशेषत: वह ग्रीक दर्शन से अधिक आकर्षित थे। अत: उन्होंने ग्रीक भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। उनका अध्ययन कितना अधिक था यह उनके लिखे "ग्रीक तथा संस्कृत व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन" इस लेख से पता चलता है। उसी तरह ग्रीक दार्शनिकों के ग्रन्थ उन्होंने ग्रीक में ही अध्ययन करके उन पर लेख लिखे। हिरैक्लाइटस इस निबन्ध पर तो योगी अरविन्द घोष ने एक स्वतंत्र लेख माला ही लिख डाली और यह कहा कि रानडे जैसे लेखकों ने यदि ग्रीक दर्शन के इतिहास पर ग्रन्थ लिखा तो वह अमूल्य लाभ है"। रामभाऊ का यदि स्वास्थ्य ठीक होता और उन्हें काफी समय मिलता तो उन्होंने अरविन्द जी की यह इच्छा पूर्ण की होती इसमें कोई संदेह नहीं।

कौटुम्बिक आपत्ति

सन् १९१८ के इन्फ्लुएन्जा में उनकी माता और पहली पत्नी स्वर्गवासी होने से उन पर कौटुम्बिक आपत्ति आई। उनका भी स्वास्थ्य ठीक न था परन्तु उन्होंने धैर्य न छोड़ा। अपने हाथ से अधिक से अधिक परमार्थ हो इसी कारण सम्भवत: परमेश्वर ने कौटुम्बिक बन्धन तोड़ दिए यह सोचकर हे ईश्वर ! तुम्हारा मेरा एक ही राज्य है और दूसरे का उसमें कुछ कार्य नहीं यह दृढ़ निश्चय करके अपनी रोज की दिनचर्या के साथ साथ अपना ध्यान परमार्थ पर केन्द्रित किया। फर्ग्युसन कालेज और भांडारकर प्राच्य विद्या संशोधन मंदिर के आस-पास की पहाड़ियों में एकांत में वे नियमित रूप से ध्यान करते थे। इसी समय भांडारकर इन्स्टीच्यूट के पास अपने घर अध्यात्म-भवन में जब वे थे तब एक दिन अपने बंगले के चारों ओर चक्कर लगाने लगे। यह देखकर काका कारखानीस ने पूछा कि आप यह चक्कर क्यों लगा रहे हैं तो गुरुवर्य रामभाऊ ने कहा, क्या कहूँ ? आज हनुमान जी का चारों ओर तेजस्वी दर्शन हो रहा है। इस पर गुरुबन्धु ने कहा कि आज हनुमान जयन्ती है। इस तरह उनका पारमार्थिक ध्यान तथा विद्याध्ययन हो रहा था तभी वे फिर बीमार पड़े। हमेशा की औषधियों से लाभ न होने से उन्होंने लम्बी छुट्टी ली और इंचगेरी में अपने गुरु की समाधि के पास जाकर

रहे। बीमारी से ठीक होने पर उनकी बदली सांगली के विलिंग्डन कालेज में हुई। परन्तु सांगली की जलवायु उनके लिए ठीक न सिद्ध हुई और उनका मन परमार्थ की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। इन सब कारणों से उन्होंने नौकरी छोड़ने का विचार किया और इस्तीफा दे दिया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने भारत के अनेक विद्वानों की सहायता से Academy of Philosophy and Religion संस्था स्थापित की और Indian Philosophical Review आरम्भ किया। इस काम में भाँडारकर इंस्टिट्यूट के क्यूरेटर श्री परशुराम गोडे और मेरी भी सहायता उन्हें मिली। परन्तु यह दो तीन वर्ष उनके सत्व की परीक्षा के ही थे। शारीरिक कमजोरी तथा आर्थिक आपत्तियाँ दोनों का ही सामना उन्हें करना पड़ा। फिर भी मुसीबत के समय तुकाराम के कथन के अनुसार कि दास को हरि का स्मरण करना चाहिए, आचरण करके और "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि" इस भगवद्-वचन पर विश्वास रखकर उन्होंने अपने नियम रखे। सब विपत्तियाँ दूर हो गईं। ईश्वर ने उनका योगक्षेम चलाया और उनके मन को कभी-कभी जो अशांति स्पर्श कर जाती थी वह नष्ट हो गई और उन्होंने अपने को परमार्थ के हित समर्पित कर दिया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापक: परमार्थ साधना

सन् १६२६ में गुरुवर्य रामभाऊ ने A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ से उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कीर्त्ति प्राप्त हुई। उपनिषदों में आधुनिक बुद्धिवाद के अनुकूल आत्म-साक्षात्कार-मार्ग का अनुसरण करने वाली तत्वप्रणाली मिलती है इस बात का उन्होंने इस ग्रन्थ में तुलनात्मक विवेचन किया है। इस ग्रन्थ से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा० गंगानाथ झा के मन में गुरुवर्य के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रमुख अध्यापक की जगह उन्हें सादर अर्पित की। यद्यपि यह पद माननीय और आर्थिक दृष्टि से अच्छा था परन्तु इलाहाबाद की जलवायु उनके उपयुक्त है या नहीं और परमार्थ के लिए उपयोगी है या नहीं इन सब बातों का विचार करने पर ही उन्होंने इस पद को स्वीकार किया। निवृत्त होने से पहले वे उपकुलपति भी रहे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उन्हें Doctor of Literature की माननीय डिगरी देकर सन्मानित किया और पद-निवृत्ति के बाद भी उन्हें 'एमेरिटस प्रोफेसर' नियुक्त किया। उनका जीवन सरल था और स्वभाव परोपकारी था। अतः उन्होंने कई योग्य विद्यार्थियों को अपने पास रखकर उनकी सहायता की और जीवन को योग्य मार्ग पर चलाया। साथ ही जनसाधारण का परमार्थ के प्रति आकर्षण हो और साधकों को पारमार्थिक उन्नति की उत्तेजना मिले, सद्गुरु की इस इच्छा को सोच कर उन्होंने अपने वेतन में से सेवानिवृत्ति होने तक पर्याप्त खर्च किया। "आत्मनः मोक्षार्थं जगतः हिताय च" यही उनके जीवन का ध्येय था।

इलाहाबाद में जब वे थे तब कई साल तक दो चार ग्रास भी अन्न न लेकर रात-दिन गंगा-यमुना के किनारे प्रखर तपस्या करके अपना जीवन संपन्न किया। नामरूप का मेल होने से यदि ध्यान हो तो त्रिवेणी-संगम में स्नान करने से जैसे मन स्वच्छ हो जाता है उसी तरह साधक की वृत्तियाँ उत्साहपूर्ण हो जाती हैं, यह एक हिन्दी सन्तकवि का कथन है। इतना ही नहीं अपितु ध्यान करने से अमृत रस का स्नान हो जाता है और साधक का मन संतुष्ट और पुष्ट हो जाता है जिससे उसकी खाने-पीने में रुचि नहीं रहती। एकांत उनको बहुत प्रिय होने के कारण वे द्रौपदी-घाट के पास शहर से दूर खुली जगह में ध्यान के लिए जाते थे। वह स्थान उन्हें विशेष प्रिय होने के कारण वहीं उन्होंने अपनी कोठी बनवाई। उसी तरह शहर से दूर बारह वटवृक्ष जहाँ थे ऐसे निर्जन वन में वे ईशचिंतन के लिए जाते थे। आजकल वहाँ हरिजन आश्रम की इमारतें खड़ी हो गई हैं। गुरुवर रामभाऊ की तपस्या के साक्षी ही मानो वे वटवृक्ष आज भी वहाँ खड़े हैं। इस तरह की उनकी परमार्थ साधना थी। इसी के साथ उनका विद्याध्ययन भी चल रहा था। सन् १९३३ में उनका Mysticism in Maharashtra ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास, इन पाँच मराठी प्रतिनिधि संतकवियों के काव्य से साक्षात्कार-मार्ग का किस तरह दर्शन होता है इसका विवेचन उन्होंने किया। भूमिका में ईसाई और इस्लामी रहस्यवादियों के अनुभवों का भी वर्णन है और उसमें "साक्षात्कार के दर्शन" के विषय में भी सुन्दर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के आधाररूप में उन्होंने उन सब कवियों की बानियों को भी स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया है।

मराठी की तरह हिन्दी सन्त कवियों के साहित्य का अनेक पंडितों की सहायता से अध्ययन करके उन्होंने "Pathway to God in Hindi Literature" और उसके आधाररूप "परमार्थ सोपान" ये दो पुस्तकें १९५४ में प्रकाशित कीं। परमार्थ सोपान में उन्होंने कबीर, तुलसी, सूरदास, मीराबाई, बहिरो, दादू आदि अनेक संतों के ग्रन्थों में से लिए हुए तथा अनेक लोगों से प्राप्त किए हुए दोहे और पदों का संग्रह करके उनको योग्य शीर्षक देकर उनकी रचना की। इस ग्रन्थ के आधार पर लिखी उनकी पुस्तक "हिन्दी संतों का साक्षात्कार-मार्ग" उनके परिपक्व ज्ञान तथा अनुभव का फल है। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का मूर्त स्वरूप ही इस ग्रन्थ में मिलता है।" इसमें पारमार्थिक यात्रा का राजमार्ग और उसके अनुसरण करते समय जो अनुभव होते हैं और अन्त में जो आत्मानन्द मिलता है इसका गुरुवर्य रामभाऊ ने सहज सुन्दर भाषा में उदाहरण सहित विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से परमार्थ-मार्ग पर भटकने वाले लोगों को सरल और सुरक्षित राजमार्ग दीख पड़ता है और इधर-उधर भटके या दौड़-धूप किए बिना ध्येयनिष्ठ यात्रिक की भाँति आगे कैसे पग बढ़ाए जाएँ यह पता चल जाता है।

निंबल-आश्रम, अध्यात्मविद्या-मंदिर और परमार्थ-प्रसार

इलाहाबाद विश्व-विद्यालय से सन् १६४६ में निवृत्त होने पर गुरुवर्य रामभाऊ हमेशा के लिए निम्बल में ही रहने लगे। इलाहाबाद जाने के पहले निम्बल की आबो-हवा सूखी और स्वच्छ है और कुएँ का पानी निर्मल होने के कारण वहीं रहने को सोच कर रहने के लिए एक छोटा-सा घर बनाया था। शरीर-स्वास्थ्य तथा परमार्थ साधन के हित स्टेशन के पास परन्तु बस्ती से दूर तथा गुरु-प्रसाद से परिपूर्ण ऐसी जगह पसन्द की थी।

जब निम्बल में हमेशा वे रहने लगे तो कर्नाटक, महाराष्ट्र व अनेक प्रान्तों के लोग अधिक संख्या में उनकी पारमार्थिक योग्यता और विद्वत्ता के प्रति आदरभाव रखने के कारण उनके पास आया करते थे। निम्बल की दिनचर्या तीनों समय दासबोध का पठन तथा भजन-आरती आदि थी। गुरुवर्य यद्यपि व्याख्यान और प्रवचन नहीं देते थे फिर भी समय मिलने पर सबेरे या दोपहर को लोगों को अपने पास बुला कर भक्ति के गाने, भाऊ साहब महाराज के पत्र और पुरानी स्मृतियों द्वारा तात्विक और पारमार्थिक विषयों पर बोला करते थे। उनका सरल संवाद लोगों को हितोपदेश की तरह लगता और उनकी शंकाओं का समाधान होता और उनको योग्य मार्ग भी मिलता। एक तरह से यह सम्मेलन उपनिषत्कालीन परमार्थ परिषद की तरह था। धीरे-धीरे उनके शिष्य गण बढ़ते गए। उनमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, स्पृश्य, अस्पृश्य, राजे-रजवाड़े, सरकारी अधिकारी, व्यापारी आदि अमीर लोगों से लेकर गरीब गँवारों तक सभी रहते थे। विशेषत: न्यायाधीश, वकील, डाक्टर, अध्यापक आदि विचारशील पढ़े-लिखों का भी उनमें समावेश था। ये सब शिष्य-गण तथा जिन लोगों को उनके प्रति आदर था वे उन्हें अब गुरुवर्य सम्बोधित करने लगे। संक्षेप में, इस तरह से श्री निम्बारगी महाराज, श्री भाऊ साहब महाराज और गुरुदेव के बड़े गुरुबन्धु श्री अम्बुराव महाराज की ओर से जो परम्परागत परमार्थ का प्रसार हुआ था वह अधिक से अधिक होने लगा।

गुरुदेव जब निम्बल में रहने लगे उसके बाद थोड़े ही दिनों में सांगली के राजा साहब की उदार सहायता से निम्बल में 'अध्यात्म विद्यामंदिर' स्थापित हुआ। इसकी शाखा 'अध्यात्म परिषद' के नाम से इलाहाबाद, सांगली और धारवाड़ में खोली गई। इसके द्वारा ग्रन्थ-प्रकाशन तथा भाषणों द्वारा परमार्थ-प्रसार का काम अच्छी तरह चलने लगा। गुरुदेव स्वयं भी बीच-बीच में जब सम्भव हो तब इलाहाबाद, सांगली आदि जगह जाया करते थे। इससे इस काम को उत्साह भी मिलता था। ऐसे ही कारण से गु० रामभाऊ के दिल्ली में भाषण हुए। उनकी विद्वत्ता अधिक थी परन्तु श्रोता पर विशेष प्रभाव उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का होता था। भाषण सुनते समय दे० भ० शंकरराव देव ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करके कहा—दिल्ली में प्रो० श्री रामभाऊ रानडे के राष्ट्रपति भवन में हिन्दी सन्त कवियों पर हुए भाषण सुनने का अवसर मुझे मिला था।

यद्यपि उनका भाषण मेरे कान सुन रहे थे फिर भी मेरी आँखें उनके चेहरे पर ही लगी थीं और भाषण की अपेक्षा उसी का आनन्द मैं ले रहा था, क्योंकि उनको देखते ही यह साक्षात्कारी पुरुष है यह मालूम हो जाता था। ऐसे पुरुषों के चेहरे—विशेषतः उनकी आँखें—देखते ही ऐसे पुरुष इस जगत में विचरण यद्यपि करते हैं फिर भी वास्तव में उनका अस्तित्व किसी दूसरे ही जगत में है इसका अनुभव हो जाता है।

अमृत महोत्सव और तत्पश्चात्

गुरुदेव ३-७-१९५६ को ७० वर्ष के हुए। इस हेतु जमखंडी में जोरदार जो कभी न भूला जाए ऐसा 'अमृत महोत्सव' मिरज के राजा साहब की अध्यक्षता में मनाया गया। इस समारोह को सफल बनाने में गुरुदेव रानडे सत्कार समिति को प्रशासक श्री दाण्डेकर आई० सी० एस० की सक्रिय सहानुभूति मिली और समिति की स्वागताध्यक्ष लीलावती देवी पटवर्धन, जमखंडी की रानी साहब की भी सहायता मिली। जमखंडी जन्मभूमि तथा उनके अनुग्रह और उनके सद्गुरु के परमार्थ का आगार माना जाने के कारण वहाँ अमृत महोत्सव समारोह हुआ, यह उपयुक्त ही था। इस अमृत-महोत्सव समारोह के साथ ही गुरुदेव के भव्य तैलचित्र का अनावरण देशभक्त गंगाधर राव देशपांडे के हाथ से हुआ। जमखंडी म्युनिसिपैलिटी ने उन्हें मानपत्र दिया। जमखंडी में वे महीने भर रहे और उस समय जमखंडी की जनता में भक्ति का प्रसार अधिक होता देख कर उन्हें बहुत संतोष हुआ।

सन् १९५६ में ही गुरुदेव का Conception of Spiritual Life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी की ओर से जो उनके भाषण हुए थे उसमें काफी सुधार करके और उनको बढ़ा कर उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा। इसी तरह 'भगवद्गीता : ईश्वर साक्षात्कार-मीमांसा' (Gita as a Philosophy of God-Realisation) यह पुस्तक भी उन्होंने पूरी कर ली। यह नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से जल्दी ही प्रकाशित होने वाली है। कर्नाटक विश्वविद्यालय की ओर से 'कन्नड सन्तों का साक्षात्कार मार्ग' पर उन्होंने चौदह भाषण दिये। बाकी बचे हुए छः भाषणों को भी उन्होंने तैयार किया था परन्तु उनकी मृत्यु से यह भाषण अव्याख्यात ही रह गये। फिर भी ये सब भाषण ग्रन्थ रूप में यदि प्रकाशित हों तो कर्नाटक के आत्मानुभवी सन्तों का परिचय यह ग्रन्थ करायेगा इसमें सन्देह नहीं। अपने सम्प्रदाय की पारमार्थिक और तात्विक शिक्षा के सारभूत और अपने सद्गुरु से बार-बार कहे गए कन्नड, हिन्दी, मराठी और संस्कृत भाषा के चुने हुए पाँच सौ पद ग्रन्थ-रूप में छपें, यह उनकी इच्छा थी। और इस ग्रन्थ का नाम "परमार्थ-मन्दिर" रखने को उन्होंने सूचित किया था। ये पाँच

सौ पद इस परमार्थ मन्दिर के ५०० खम्भे ही थे। 'परमार्थ सोपान' के बाद 'परमार्थ मन्दिर' की रचना होनी चाहिए यह वे कहा करते थे। उनकी इच्छानुसार इस ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रति प्रस्तुत लेखक और श्री भाऊराव आपटे ने तैयार करके उन्हें दिखाया तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उस पुस्तक को शुभाशीर्वाद देकर कहा कि आगे बढ़िए।

पिछले मार्च में वे इलाहाबाद गए थे पर तबियत खराब हो जाने से जल्दी ही निम्बल को लौट आए। फिर भी उनका स्वास्थ्य ठीक न हुआ और बीमारी बढ़ गई। अपने विवाहित जीवन में उनकी धर्म-पत्नी ने गुरु रामभाऊ की अत्यन्त सेवा की थी और उनको परमार्थ में यथाशक्ति सहायता दी थी, विशेष कर इस अन्तिम बीमारी में तो मन लगा कर काफी सेवा की। कई डाक्टर उनको औषधियाँ देते, परन्तु उन्होंने कभी लिया नहीं। अन्तिम चार दिनों में तो उन्होंने अन्न-पानी भी छोड़ दिया था। परन्तु आखिर तक वे 'जागृत' थे और अपने हाथों जितना देवकार्य होना था वह हो गया, यह सोच कर ६-६-१९५७ को शान्त चित्त से ध्यान-मग्न अवस्था में ही उन्होंने शरीर त्याग दिया।

अनुवादकर्त्री

सरोजिनी ओक एम० ए०

प्रयाग

स्वर्गीय श्री गुरुदेव रानडे का रहस्यपूर्ण जीवन और उपदेश

के० बी० गजेन्द्रगडकर, धारवार

भारतवर्ष के महान् दार्शनिक सन्त श्री गुरुदेव रामभाऊ रानडे का निधन ६ जून १६५७ को उनके अध्यात्म आश्रम निम्बल में हुआ। उनके देहपात से हम लोग एक ऐसे महान् दार्शनिक से वंचित हो गए जिन्होंने अपने नित्यप्रति के जीवन में प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन एवं नवीन, दर्शन के उच्चतम सिद्धान्तों को अनूठे ढंग से उतारा था। उनका गहन पांडित्य, तीक्ष्ण दृष्टि, रचनात्मक कुशलता, गुण-दोष-विवेचक विचार एवम् पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन का गम्भीर ज्ञान उनकी सम्पूर्ण कृतियों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। वे सही अर्थों में बुद्धि के देवता थे। उनके थोड़े से शिष्य जो उनके विशेष निकट सम्पर्क में रहे, जिन्होंने उनके नित्य प्रति के जीवन का सतर्कता और आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया, जानते हैं कि श्री रानडे जी संसार के सर्वोत्कृष्ट सन्तों में एक थे। प्रस्तुत निबन्ध में उनके आत्मिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही उन मौलिक सिद्धान्तों एवं मार्गों का भी विवेचन है जिनसे चलकर उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया। उनकी शिक्षायें उन सत्य अनुभूतियों पर सर्वथा आधारित हैं जिनको उन्होंने स्वयं अनुभव किया और जिनको उन्होंने ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आवश्यक समझा।

उन्होंने अपनी माता से धर्मोन्मुखता ग्रहण की। उन्होंने एक लिङ्गायत संत की सहायता से धार्मिक जीवन में प्रवेश किया था। इन संत महात्मा को गुरुदेव ने कई बार अनन्त-चिन्तन में लीन देखा और उनकी शक्तियों की झलक पाई। जब गुरुदेव कुछ बड़े हुए तो उनकी माता जी ने इन संत महात्मा से उनका धार्मिक संस्कार करने की प्रार्थना की। किन्तु गुरुदेव ने साफ शब्दों में कहा कि उनका धार्मिक गुरु एक दूसरा ही पुरुष है जिनसे वे समय आने पर स्वयं मिलेंगे। जब श्री गुरुदेव जमखन्डी में हाई स्कूल में पढ़ रहे थे तब वे कल्लो बोकरे के नाम से प्रसिद्ध अपने सहपाठी श्री कल्लोपन्त बोकरे के सम्पर्क में आए। ये महाशय निम्बार्गी-संत श्री गुरुलिंग जंगम महाराज के शिष्य उमादी-महराज श्रीभाऊ साहब के शिष्य थे। अपने इस मित्र के साथ श्री गुरुदेव उस स्थान पर जाने लगे, जहाँ उमादी के सन्त दिवाली की छुट्टियों में जमखन्डी में पाँच दिनों के लिए ठहरते थे। एक बार जब उनके परिचय और वय के दो और लड़कों को गुरुमन्त्र *दिया जा रहा था, तब श्री रामभाऊ ने अपने मित्र कल्लो बोकरे से पूछा कि क्या वे भी गुरुमन्त्र ले लें। और, सहमति

मिलने पर उन्होंने भी गुरुमन्त्र ले लिया। गुरुमन्त्र के बाद कुछ वर्षों तक अपने गुरु की आज्ञा के बावजूद भी उन्होंने गम्भीरता पूर्वक ध्यान नहीं किया। वे प्रतिदिन तीन बार ध्यान लगाते थे और गुरुमन्त्र की तीन माला फेरते थे। उमादी सन्त के प्रवचन दिवाली की छुट्टियों में वे रोज सुनते थे, और एक प्रवचन में श्री महाराज ने कहा कि जो भी अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण करता है वह अपनी परीक्षा में समय आने पर गौरवपूर्ण ढंग से उत्तीर्ण हो सकता है। इससे रामभाऊ के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे घर चलने के समय गुरुजी के चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने मन ही मन यह प्रार्थना की कि वे गुरु की कृपा से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में प्रथम संस्कृत छात्रवृत्ति पावें। उसी वर्ष वे परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी पाकर छात्रवृत्ति के अधिकारी हुए। इससे उनका विश्वास नेम (ध्यान) में बढ़ गया। सन् १६०६ में जब कि देश के कोने-कोने में राष्ट्रीयता की लहर फैल रही थी वे नेम का पालन बड़ी गम्भीरता और नियमितता के साथ करने लगे। उन्होंने विवेकानन्द का राजयोग एक दिन में पढ़ डाला और भक्ति-भावना के इस दौर में उन्हें, जैसा कि उन्होंने अपने स्मरणीय ग्रन्थ "ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव द उपनिषदिक फिलासफी" में समझाया है, प्रारम्भिक अनुभूतियाँ होने लगीं। पर इन सुन्दर अनुभूतियों का ठीक-ठीक अनुमानीकरण उनसे न हो सका। उस समय थियासाफिस्ट प्रोफेसर वुडहाउस उनके अध्यापक थे। उन्होंने अपने इन अनुभवों के बारे में अध्यापक महोदय से कहा। प्रोफेसर साहब इसे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि शायद श्रीमती बीसेन्ट इन अनुभूतियों के कारण तथा महत्व पर प्रकाश डाल सकें। वे उस समय थियासाफिकल फेडरेशन में जानेवाले थे। उन्होंने श्री रामभाऊ से भी बनारस चलने को कहा। वहाँ उन्होंने उनका परिचय श्रीमती एनी बीसेन्ट से करा दिया। उन्होंने श्री रामभाऊ से उनके आध्यात्मिक गुरु के बारे में पूछा। जब श्री रामभाऊ ने उन्हें अपने गुरु श्री उमादीकर महाराज का चित्र दिखाया तो वे बोल उठीं, "आप ठीक हाथों में हैं।" वहाँ से वे सीधे इंचगेरी मठ गए जहाँ श्री महाराज ठहरे हुए थे। उन्होंने उनको सब हाल कह सुनाया। उनकी अनुभूतियों का अर्थ गुरु महाराज ने स्पष्ट कर उनकी शंका का समाधान कर दिया। इसी बीच में उन्होंने अपनी विश्वविद्यालय की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर ली थी और एक महान् संस्कृत के पंडित के रूप में उनकी प्रसिद्धि हो चली थी। ग्रेजुएट होने के पश्चात् उच्च गणित का अध्ययन शुरू किया पर अधिक श्रम के कारण बीमार हो गये। स्वस्थ होने के पश्चात् उन्होंने संस्कृत वेदान्त और व्याकरण शास्त्रों का अध्ययन एम० ए० के लिए शुरू किया। इस बार उनकी बीमारी अधिक बढ़ गई। अपने गुरु से इस समय उनका पत्र-व्यवहार बड़ा रोचक और महत्वपूर्ण है। गुरु की कृपा से वे स्वस्थ हो गये किन्तु इस बीमारी के समय में उन्हें नये और अत्यधिक-प्रभावोत्पादक अनुभव हुए। इसके एक या दो वर्ष बाद उन्हें फर्ग्युसन कालेज में दर्शन तथा अंग्रेजी का अध्यापक नियुक्त किया गया। साथ ही साथ वे इस कालेज के 'लाइफ मेम्बर' भी हो गए। उनकी आध्यात्मिक

प्रवृत्तियाँ काफी नियमित तथा विकसित हो चली थीं। इससे उनके आध्यात्मिक-अनुभवों को बहुत योग मिला। वे प्रायः श्री महाराज से भेंट करते रहते और उनके द्वारा प्रोत्साहित किये जाते। इस समय वे अपने जीवन के सबसे अधिक सुखमय (सफलमय) चरण में थे। उन्हें एक सुन्दर और देदीप्यमान पुत्र—जो कि पूर्व जन्म का योगी था—की प्राप्ति हुई। श्री सयाजीराव महाराज की अध्यक्षता में बँगलोर में उपनिषदों पर दिये गये अपने व्याख्यानों से उन्हें भारत-व्यापी ख्याति मिली। उन्होंने ग्रीक दर्शन, विशेष कर अरस्तू के दर्शन पर एक ग्रन्थ लिखने की तैयारी की। हिज हाईनेस स्व० श्री भाऊ साहब पटवर्धन जमखन्डी के महाराज ने इस ग्रन्थ के लिए २५ हजार रुपये की राशि देने का निश्चय किया। किन्तु प्रो० रानडे ने पाँच हजार रुपये ही स्वीकार किये। उन्होंने इस विषय पर कुछ मॉन्ओग्राफ लिखकर छपाए, जिनकी प्रशंसा देशी और विदेशी दार्शनिकों ने की। उन्होंने पूर्वी एवं पाश्चात्य दर्शन पर लिखे सभी ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया। उन्हें एम० ए० की परीक्षा में बैठने के लिए राजी कर लिया गया और उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से सन् १९१४ में दर्शन लेकर एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके लिए उन्हें कुलपति का स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। इस समय उन पर सब प्रकार की आपदाओं का आक्रमण हुआ। उनके एक मिशनरी मित्र ने उनसे कहा, "ईश्वर एक ईर्ष्यालु प्रेमी है। वह नहीं चाहता कि उसका सच्चा भक्त उसके सिवा किसी और से स्नेह (लगाव) रखे।" अतः प्रो० रानडे को आत्मा की अँधेरी रात का सामना करना पड़ा और उनके आध्यात्मिक जीवन में बहुत सी बाधाएँ आईं। उनके पुत्र की मृत्यु अल्प आयु में ही हो गई। सन् '१८ में उनकी पत्नी को इन्फलुएन्जा हो गया और उनके पास सिवा गुरुदेव के और कोई न था। दो मित्रों ने गुरुदेव की सहायता की। पर इसके बावजूद उनकी मृत्यु हो गई। गुरुदेव की माँ अपनी पुत्रवधू की बीमारी का समाचार सुन पूना आईं पर उन्हें भी इन्फलुएन्जा हो गया और एक सप्ताह में उनकी मृत्यु हो गई। इससे प्रो० रानडे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये और उनका चित्त आध्यात्मिक जीवन की ओर और अधिक तेजी से आकर्षित होने लगा। उन्हें मलेरिया हो गया और वे करीब दो वर्षों तक बुखार से पीड़ित रहे। इसी से बढ़कर उन्हें एनीमिया हो गई। उनसे लगभग सभी सम्बन्धी मित्र छूट गये और वे अपने बँगले अध्यात्म-भवन में अकेले रहने लगे। इन विपत्तियों के बीच उन्हें कुछ नये और आनन्ददायक अनुभव हो रहे थे। उनकी सभी छुट्टियाँ खत्म हो चुकी थीं और उन्होंने बेतनख्वाह छुट्टी लेने का निश्चय किया। ऐसे सभी विपत्तियों के समय वे अपने को ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देते थे और ईश्वर उनकी मदद भी करता। इस समय बम्बई विश्वविद्यालय ने भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रथम तीन खण्डों के लिए जिन्हें प्रो० रानडे तथा बेलवल्कर ने प्रस्तुत किया था, ६००० रु० सालाना देने का निश्चय किया। इससे उनकी आर्थिक समस्याओं का हल अपने आप हो गया। वे इंचगेरी मठ में अपने गुरु की समाधि के पास चले गये। मठ में पहले दो महीनों में वे सिर्फ दूध पर रहे। इससे उनके स्वास्थ्य

में काफी सुधार हुआ। किन्तु एक दिन वे एक घूँट दूध भी नहीं पी सके। काफी दिनों तक यही दशा रही, इस बीच वे सिर्फ पानी पीकर रहे। लेकिन उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ वैसे ही चलती रहीं। उनके स्वस्थ होने के लिए सभी हताश हो गये थे, और वे भी निराश होकर अपनी वसीयत लिखने लगे। जब उन्होने वसीयत सन्त अम्बुराव को जो कि उस समय मठ के अध्यक्ष थे दी तो वे रोते हुए बोले—"आप गुरु महाराज के पास इसलिए नहीं आए हैं।" उमादी के सन्त के वार्षिक समारोह के दिन उन्हें उमादी के महाराज के द्वारा आशीष रूप में एक बड़ा विचित्र आध्यात्मिक अनुभव हुआ—यह थी आत्मसिद्धि। इससे उनके स्वास्थ्य पर बड़ा असर पड़ा। उन्होंने अम्बुराव महाराज से पूछा कि क्या वह प्रसाद ले सकेंगे। श्री अम्बुराव महाराज बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने इसके लिए अनुमति दे दी। उन्हें भगवान के नाम पर बड़ा विश्वास था। उन्होंने जीवन भर कभी किसी औषधि का प्रयोग नहीं किया। वे आध्यात्मिक क्षेत्र में धीरे-धीरे बढ़ते गये और एक बार ध्यान के पश्चात् अपने एक पुराने मित्र से कह बैठे—"अब मुझे सिद्ध करने को कुछ बाकी नहीं। देखें भविष्य में महाराज मेरे लिए क्या रखते हैं।" उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। श्री निम्बार्गी महाराज के आदेशानुसार जो कि गुरुदेव को स्वप्न में मिला था, वे सन् १९२५ में निम्बल में रहने लगे। सन् '२२ ही में उन्होंने विलिंगडन कालेज सांगली में अध्यापन कार्य फिर शुरू कर दिया था। यहाँ फिर वे मलेरिया से पीड़ित हुए। अतः उन्होंने डी० ई० सोसायिटी के सामने प्रस्ताव रखा कि वे वर्ष भर में दो तीन बार सांगली आकर कुछ व्याख्यान दे दिया करेंगे जिनसे बी० ए० का पाठ्यक्रम पूरा हो जाया करेगा। इसके लिए उन्हें सिर्फ आने-जाने का खर्च भर दे दिया जाया करे, तनख्वाह नहीं। सोसायटी इसके लिए राजी न हुई और उन्हें अपनी जगह से त्याग पत्र देना पड़ा। अब तक उन्होंने भारतीय दर्शन के इतिहास के एक भाग को समाप्त कर दिया था। इसके साथ उन्होंने १३ उपनिषदों पर लिखे गये ग्रन्थ "द् क्रियेटिव पीरियड" और "मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र" को भी समाप्त कर दिया था। इन्हीं वर्षों में उन्होंने "द कान्सट्रक्टिव सर्वे आव् द उपनिषदिक फिलासफी" के सातों अध्यायों को बोलकर लिखवा डाला। यह उनके जीवन का सबसे अधिक रचनात्मक भाग था। उन्होंने अपना दर्शन पूर्णरूप से निर्मित कर लिया था। वे प्रकृतिवाद, निर्गुण-वाद, बहुपुरुषवाद, सगुणवाद तथा रहस्यवाद इत्यादि को दार्शनिक विचार के विकास की सीढ़ियाँ मानते थे। जब विज्ञान का तर्क सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों का अर्थ स्पष्ट करने में असफल रहता है तो मनुष्य निर्गुणवादी हो जाता है। पर बाद में वह सांख्यकारों के बहुपुरुषवाद का अनुयायी हो जाता है। यह केवल एक ऐसी सीढ़ी है जिससे कि उस अकेले सिद्धान्त की सिद्धि हो सकती है जो ब्रह्म या आत्मा कहलाता है। तर्क द्वारा सिद्ध किसी वस्तु की अनुभूति के लिए एक ऐसी आंतरिक दृष्टि की आवश्यकता होती है जो निरन्तर कठोर मनन से उत्पन्न होती है। तर्क की उल्टवाँसियों को समझने के लिए रहस्यवादी अनुभव की आवश्यकता होती है। तर्क तथा विश्वास में

बहुत अधिक अन्तर नहीं होता, विश्वास एक उच्चतर स्तर का तर्क होता है जिसमें भावना और इच्छा का मिलाव हो। वे इसे तर्कवादी रहस्यवाद कहते थे। जैसे विज्ञान के विद्यार्थी को एक विशेषज्ञ की आवश्यकता महसूस होती है वैसे ही अध्यात्म के विद्यार्थी को एक विशेषज्ञ गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है। जैसे वैज्ञानिक को अपने प्रोफेसर की आज्ञानुसार अपना प्रयोग करना पड़ता है वैसे ही आध्यात्मिक विद्यार्थी भी करता है। प्रयोग करने के लिए बड़े धैर्य, और श्रम की आवश्यकता होती है। ऐसे ही आध्यात्मिक प्रयोग भी किये जाते हैं। साधक को भी अपना ध्यान प्रयोग के विषय पर एकाग्र करना पड़ता है। साधक को दो बड़े प्रभावों से बचना चाहिये, स्त्री और धन—यौन-इच्छा तथा प्राप्त करने की इच्छा। इन इच्छाओं का स्वरूप इस तरह बदल दिया जाना चाहिए कि हम आध्यात्मिक जीवन में सफलता तथा प्रगति पा सकें। इसके लिए जो पहली चीज आवश्यक है वह यह कि किसी अच्छे गुरु से दीक्षित होना चाहिए जो कि नाम-जप द्वारा ईश्वर की महत्ता समझा सके। भगवान की सिद्धि के लिए इसको छोड़ कर दूसरा मार्ग नहीं है—"नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।" श्री गुरुदेव रानडे गुरु का स्तर प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने विलिङ्ग्डन कालेज से त्यागपत्र दे दिया, और उनका बम्बई विश्वविद्यालय से मिला धन भी समाप्त हो चुका था। अतः उन्हें अपनी जमीन तथा "ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव द उपनिषदिक फिलासफी" के कापी राइट के आय से जीवन-यापन करना पड़ता था। इस आर्थिक संकट से उनके आध्यात्मिक कृत्य और तेजी से चलने लगे। इसी समय उन्होंने "एकेडमी आव फिलासफी एन्ड रिलिजन" चलाई। उनका दर्शन का अध्ययन तथा आध्यात्मिक कृत्य उत्साह के साथ चलते रहे। सन् '२७ में उन्हें सहायता मिली वह भी अनहोनी जगह से। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रोफेसर की जगह खाली हुई। इसके लिए कुछ बड़े विद्वानों ने आवेदन किया था। डा० गंगानाथ झा उस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उप-कुलपति थे। वे प्रो० रानडे को जानते थे और उनमें उनकी अपार श्रद्धा थी। अतः उन्होंने प्रो० रानडे को एक निजी पत्र लिखा जिसमें उन्होंने प्रो० रानडे से इस पद को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की थी। उन्होंने लिखा था, "मैं इस विश्वविद्यालय का उप-कुलपति होने के नाते अपने को धन्य समझूँगा यदि मैं आपकी सेवायें इस विश्वविद्यालय के लिए पा सकूँ।" स्वास्थ्य के कारण प्रो० रानडे इतना दूर आने में हिचकिचाए। उनके मित्रों ने उन्हे प्रोत्साहित किया और अन्ततोगत्वा उन्होंने दर्शन विभाग के प्रधान का पद स्वीकार कर लिया। बाद में तो इलाहाबाद की जलवायु उन्हें इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने अपना एक बँगला द्रौपदीघाट में बनवाया जहाँ वे अवकाश ग्रहण करने के बाद भी हर वर्ष कुछ महीने रहा करते थे।

इलाहाबाद में पदार्पण के बाद उनके जीवन में एक नया अध्याय खुला। अक्सर वे एक तांगे पर किसी शांत जगह जैसे गंगा या यमुना के किनारे चले जाते। इससे उन की आध्यात्मिक अनुभूतियों में तेजी से प्रगति हुई। उन्होंने हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी

कविता का अध्ययन करना शुरू किया। करीब बीस वर्षों के अध्ययन के बाद उन्होंने कबीर, सूरदास, मीरांबाई, रविदास आदि की रहस्यवादी कविताओं में से १०० गीत तथा १०० दोहे चुन कर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से सजाया। इस समय उन्होंने दो पुस्तकें, पाथ वे टु गॉड तथा "हिन्दी परमार्थ सोपान" लिखी। अपने सभी ग्रन्थों में वे अपने समय के सभी विद्वानों से आगे निकल गये थे—क्योंकि वे सब बिना किसी प्रकार की अनुभूति के बिना ही दूसरों की अनुभूतियों पर विचार करते थे, पर गुरुदेव को तो स्वयं अनुभूतियां होती थीं। एक बार उनके एक मित्र ने उनसे अपने अनुभवों को लिखने का आग्रह किया। प्रो० रानडे ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। फिर भी उनके मित्र न माने और उनसे बराबर आग्रह करने लगे। इस पर प्रो० रानडे ने कहा, "मैंने उपनिषदों के दर्शन पर ग्रन्थ बिना अनुभव के नहीं लिखा। उनमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो मैंने स्वयं अनुभव न की हो या जिसे मेरे गुरु ने अनुभव न किया हो। इसलिए अब एक दूसरी पुस्तक छपाने से क्या लाभ ?" इससे मालूम होता है कि उनके अनुभव कितने गहरे थे। एक बार उन्होंने कहा था कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है कि कुछ संत दो या तीन बार, वह भी कुछ अवधि के लिए, समाधि में रह चुके हैं। उन्होंने कहा कि प्रारम्भिक स्तर में साधक को एकाग्र चित्त होने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, बाद में यह अपने आप होने लगता है और साधक अपने आप को भूल जाता है। तब यह ईश्वर की इच्छा पर होता है कि साधक कितनी दूर तक साधना करेगा। अपने जीवन के अंतिम सप्ताह में उन्होंने साधना की तीन श्रेणियां बताई थीं। पहली वह जिसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रारम्भिक श्रेणी है। दूसरी वह जब वह साधना में अपने आप को भूल जाता है। तीसरी वह जब वह ईश्वर की उपस्थिति महसूस करता है। यही आत्मबोध है। इससे मायाजाल, बीमारी तथा मृत्यु पर विजय मिल जाती है। यहाँ वे पहुँच चुके थे। इसी से उन्होंने एनीमिया तथा क्षय रोगों पर विजय प्राप्त की। उनके कई मित्र उस समय उपस्थित थे जब उनके थूक की जाँच के बाद एक पैथॉलॉजिस्ट का पत्र पढ़ा जा रहा था। सभी लोग रो पड़े। इसके लिए उन्होंने सब को डाँटा और कहा—"इस क्षय रोग पर क्या ? गुरुजी की कृपा से मैं इससे भी भयानक बीमारियों पर विजय प्राप्त कर सका हूँ। सभी के शरीर में ये कीटाणु होते हैं। सिर्फ मुझे ठीक से ध्यान करने दिया जाय और मैं इसको ठीक कर लूंगा। उन्होंने अपनी साधना शुरू कर दी। हर दिन उनका थूक जाँच के लिए भेजा जाने लगा। वे अपने शिष्यों से दो भजन गाने को कहते थे। कबीर और कर्नाटक के शरीफसाहब के इन भजनों में उनका बड़ा विश्वास था— "करम, भरम, अघ, व्याधि तराई" तथा "रोग वलिदू निज रागवु नुदियालू"। इनमें भगवान के नाम की रोगों पर विजय की महिमा गाई गई है। सभी को उस समय आश्चर्य हुआ जब कि डॉक्टरों ने प्रो० रानडे को क्षय रोग से मुक्त घोषित किया।

अपनी मृत्यु के कुछ सालों पहले से वे भगवद्गीता पर एक ऐसा ग्रन्थ लिख

रहे थे जिसमें गीता को भगवत्प्राप्ति का साधन बताया गया है। जब वे कम उम्र के थे तभी से वे कर्नाटक का रहस्यवादी साहित्य पढ़ रहे थे। उन्होंने कई रहस्यवादी कन्नड़ गीत प्रकाशित किये थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने पर कर्नाटक विश्वविद्यालय ने उनसे महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के साथ-साथ कर्नाटक रहस्यवाद पर एक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रार्थना की। यह सोचा गया कि वे उस विषय पर व्याख्यान देंगे जिसमें उस ग्रन्थ के बीस अध्याय आ जायेंगे और इसे विश्वविद्यालय स्वयं अपने खर्चे पर प्रकाशित करेगा। इन दोनों ग्रन्थों में—भगवद्गीता तथा कर्नाटक-रहस्यवाद में—उनके परिपक्व विचारों, बुद्धि तथा अनुभवों की स्पष्ट झलक मिलती है। भगवद्गीता पर उनका कार्य चिरस्मरणीय है। उनका कर्नाटक रहस्यवाद पर ग्रन्थ अभी भी पूरी तौर पर ठीक से नहीं लिखा गया है। उनके अंतिम ६ व्याख्यान उनकी अचानक मृत्यु हो जाने के कारण न हो सके (यद्यपि वे व्याख्यान ठीक से लिख गये हैं और उनकी टीका-टिप्पणी भी हो गई थी।) परन्तु जब यह ग्रन्थ उनके शिष्य पूरा करेंगे तब सचमुच इससे उनके दार्शनिक तथा धार्मिक व्यक्तित्व की एक स्पष्ट झलक हमें मिल सकेगी। वे इधर कई वर्षों तक इन ग्रन्थों के निर्माण में लगे रहे। इस बीच में उन्हें आध्यात्मिक अनुभव भी होते रहे। श्री अम्बुराव महाराज की मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् उन्हे ईश्वर तथा गुरु से आदेश मिला कि वे उत्साहियों को आध्यात्मि-जीवन में प्रवेश करा सकते हैं अर्थात् गुरुमंत्र दे सकते हैं। प्रारंभ में वे बड़ी जाँच के बाद ही गुरुमंत्र देते थे, पर बाद में वे उदार होते गए और लगभग सभी लोगों को गुरुमंत्र देने लगे। सन् १६३६ से सन् १६४७ तक आध्यात्मिक-प्रवृत्तियों के उत्तेजन के लिए वे सामूहिक ध्यान, सभाएँ, प्रवचन, भजन इत्यादि करवाया करते थे। श्रीगुरुदेव स्वयं हमेशा हर सभा में उपस्थित रहते थे। सभी कार्य-क्रम उनके निरीक्षण में होते थे। वे आत्मा के लिए सभी वस्तुओं का मूल्यांकन करते थे—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" वे लोगों के आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा करने में 'धन, शक्ति और समय, किसी चीज की परवाह नहीं करते थे। ग्रीष्म-ऋतु की छुट्टियों में शिष्यगण प्रतिवर्ष तीन माह तक ध्यान करने आते थे। हमारा ही सम्प्रदाय ऐसा है जिसमें गुरु द्वारा भगवान के नाम का ध्यान करने की आज्ञा दी जाती है। जो लोग निम्बल जाते थे वे ७ बजे प्रातःकाल से १२ बजे मध्याह्न तक गुरुदेव के निरीक्षण तथा संचालन में ध्यान करते थे। प्रतिदिन अपराह्न में एक संत-सभा होती जिसमें आध्यात्मिक भजन गाए जाते, संतों के लिखे हुये ग्रन्थों का पाठ तथा विवेचन होता। श्री महाराज के पत्र पढ़े जाते अथवा उनके जीवन के बारे में चर्चा होती। इन सभाओं में जिस समय आध्यात्मिक गीत गाए जाते उस समय गुरुदेव समाधिस्थ हो जाते थे। प्रायः ऐसा होता कि जो वस्तु भजन में गायी जाती उसी को वे समाधि-अवस्था में देखते रहते। कभी-कभी "विट्ठल-विट्ठल गजरीं अवधीं दुम दुमली पंढरी (पंढरी का नगर विट्ठल भगवान के नाम से गूंज रहा है)' गाया जाता। कुछ समय बाद गुरुदेव कहते, "सब कुछ

एक साथ रख दो। पंढरी का नगर विट्ठल भगवान के नाम से गूँज रहा है। और मानव देह ही पंढरी नगर है। उनका सारा शरीर पंढरी के नाम से गूँजने लगता और उनका मुख अनिर्वचनीय आनन्द से भर जाता। एक बार भगवद्गीता लिखते समय उन्होंने अक्रूर और उद्धव के अनुभवों को सुनाया। वे यह देखना चाहते थे कि एक यूरोपीय समालोचक का यह कहना कहाँ तक ठीक है कि नृसिंह पूर्वोत्तरतापनीय उपनिषद् भगवद्गीता के पहले लिखा गया है क्योंकि पहले ग्रन्थ के कुछ श्लोकों का पूर्णतया उद्धरण दूसरे ग्रन्थ में किया गया है। उन्होंने वह उपनिषद् पूरा पढ़वाया और उससे उन्हें कुछ ऐसे उच्चतम अनुभव हुए जो कि उस उपनिषद् में लिखे गये है। इस तरह वे अनुभव के एक उच्चतम शिखर से दूसरे पर चढ़ते जा रहे थे। अक्सर वे ध्यान करने के कमरे में अपने किसी शिष्य से कहते, "मुझे कभी-कभी ऐसे अनुभव होते हैं जिसे मैंने किसी देश के रहस्यवादी साहित्य में नहीं पढ़ा। इससे यह मालूम होता है कि ईश्वर कितना अनन्त है।"

वे अपने अंतिम वर्षों में भगवद्गीता पर एक ग्रन्थ लिखने में व्यस्त थे। इसे उन्होंने अपनी सामर्थ्य भर लिखा। उसके बाद वे वेदान्त पर एक ग्रन्थ लिखने को सोच रहे थे। उन्होंने कर्नाटक रहस्यवाद पर अपने अंतिम व्याख्यान दिसम्बर सन् १९५६ में धारवार में दिये। वे निम्बल लौटे और हमेशा की तरह इलाहाबाद जाकर हमेशा की तरह दो महीने बिताने को सोच रहे थे। इसके लिए उन्हें कोई 'सूचना' नहीं मिली, वे उस 'पवित्रशक्ति' के आदेशानुसार चलने के आदी हो गये थे। उन्होंने एकबार अपने शिष्यों से पूछा—"तुम लोगों को यह कैसे मालूम है कि मैं इलाहाबाद जाना स्थगित करूँगा ?" शिष्यों ने कुछ पूछने का साहस नहीं किया, और वे चुप रहे। उन्होंने बिना आज्ञा के ही इलाहाबाद जाने के लिए, बीस मार्च सन् १९५७ में, सोचा। वे इलाहाबाद जाते समय हमेशा की तरह सुखी नहीं थे। कुछ लोगों ने उनसे इलाहाबाद न जाने के लिए प्रार्थना करने की सोची। बाद में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि उन्हें नहीं जाना चाहिए था। परन्तु कुछ अंतिम घटनाओं से हमें ऐसा मालूम होता है कि गुरुदेव को यह ज्ञात हो गया था कि उनका इस जगत से जाने का समय पास आता जा रहा था। वे इलाहाबाद की उन पवित्र जगहों को एक बार फिर से देखना चाहते थे जहाँ उन्होंने ध्यान किया था, जहाँ उन्हें सुन्दर अनुभव हुए थे। इसके बाद वे निम्बल लौट जाना चाहते थे। इलाहाबाद पहुँचने के दस-बारह दिन पश्चात् तक वे ठीक थे। इसके बाद एक दिन तूफान में उनके बँगले के पास के मकान में बिजली गिरी और एक लड़का पक्षाघात से पीड़ित हो गया। उन्होंने सोचा निम्बल की तरह इलाहाबाद में भी उनके बँगले पर बिजली गिरी है और वे बोल उठे, "यह बिजली मेरा पीछा हर जगह कर रही है।" पूरा इलाहाबाद, उन्हें ऐसा लगता था, मानों उन्हें निगल जाना चाहता है। उन्हें ठंड लगी और वह बढ़कर ब्रांको-न्यूमोनिया हो गया। वे बड़े दुर्बल हो गये। हमने उन्हें इतना दुर्बल कभी नहीं देखा था। वे इतने दुर्बल हो गए थे कि खड़े या बैठ नहीं पाते

थे। खाँसने पर बड़ी तकलीफ़ होती थी। डा० पदाकि को तार द्वारा मद्रास से इलाहाबाद बुलवाया गया। श्री गुरुदेव तब तक किसी औषधि का प्रयोग नहीं करते थे जब तक कि उन्हें इस बात का विश्वास न हो जाता था कि वह दवा उन्हें लाभ करेगी। दवा भी वे आयुर्वेदिक ही लेते। वे कभी-कभी अपनी बीमारी ठीक करने के लिए अपने उस अंग पर ध्यान एकाग्र करने लगते जिसके कारण यह गड़बड़ी हो रही थी। इससे उनकी दशा कुछ सुधरी। वे अपने मित्रों तथा सम्बधियों के बीच में होने के लिए उत्सुक थे। उनके सभी मित्र, पहले के सहयोगी, उपकुलपति, प्रोफेसर, मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य व्यक्ति उनकी अवस्था का समाचार सुनते ही उनके बंगले की ओर दौड़ पड़े। वे इलाहाबाद से निम्बल इस दशा में चले कि उनके मित्र तथा शुभचिंतक उनके निम्बल पहुँचने के बारे में चिंतित हुए। पर वे निम्बल ठीक-ठीक पहुँच गये और अपने मित्रों, सम्बन्धियों और शिष्यों की उपस्थिति में बड़े प्रसन्न रहे। सदा की भाँति उन्होंने कहा कि वे इस बीमारी पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे, यदि वे ठीक तरह से ध्यान कर सकें। यही वे इतना ठीक से नहीं कर पाये जिससे कि यह बीमारी चली जाती। कभी-कभी जब वे कुछ मिन्टों के लिए ठीक से ध्यान कर लेते तो उनकी तबियत काफी ठीक रहती। वे सभी को अपने पास बुला लेते और श्रीमहाराज के पत्र पढ़वाते। उन्होंने अपने सब प्यारे शिष्यों को देखा, उन्हें भगवान को याद करने के लिए तथा पवित्र जीवन बिताने के लिए कहा। अपने जीवन के अंतिम दिन तक उन्होंने लोगों को दीक्षा दी तथा नेम करते रहे। सुबह ही वे अपनी कार में बैठकर लगभग उन सभी जगहों पर जाते जहाँ उन्होंने पहले ध्यान किया था। अक्सर वे उन ग्रामों में जाते जहाँ श्री महाराज पहले ठहरा करते थे। शाम होने पर फिर एक बार यही कार्य-क्रम दोहराया जाता और कभी-कभी दोपहर में भी। अपने आध्यात्मिक गुरुओं पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी और उन्होंने जिन प्रयत्नों से लोगों को इस मार्ग पर बढ़ाने का प्रयत्न किया था, उनका शब्दों में ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्होंने प्राण उसी प्रकार तज दिये जिस प्रकार श्री निम्बार्गी महाराज तथा श्री भाऊ साहेब महाराज ने दिये थे। श्री भाऊ साहब महाराज ने एक बार अपने शिष्यों से पूछा था कि उन्हें यह शारीरिक कष्ट क्यों होते हैं। श्री गुरुदेव ने भी ऐसा ही किया था। हमारे सम्प्रदाय का यह विश्वास है कि शिष्यों द्वारा किये गए पापों का फल उनके गुरुओं को भोगना पड़ता है। यह कोई विश्वास तो नहीं किया जा सकता पर यह एक ऐसा विचार है जिसके पीछे कुछ तथ्य है। श्री भाऊ साहब महाराज ने ठीक ग्यारह दिन पहले से खाना-पीना छोड़ दिया था। ऐसा लगता है कि श्री गुरुदेव को अपने निर्वाण का दिन मालूम हो गया था, क्योंकि उन्होंने भी अपनी मृत्यु के ठीक पाँच दिन पहले से खाना-पीना छोड़ दिया था। पर उनकी दिनचर्या पहले जैसी ही चलती रही। वृहस्पतिवार, ६ जून १९५७ को वे रोज से जल्दी ध्यान करने के लिए चले गए। लौटने पर रोज की तरह अपना काम करते रहे। दोपहर को उन्होंने चाय माँगी। चाय पाने पर उन्होंने अपनी उँगलियाँ चाय में डुबोकर चूसीं। उनकी पत्नी तथा

शिष्यों ने समझा शायद अब गुरु जी की तबियत ठीक हो जायगी। पर वही न हुआ। ठीक ४ बजे शाम को वे अपने ध्यान करने के कमरे में लेट गये। उन्होंने अपनी पत्नी को बुलाया और हाथ के इशारे से बतलाया कि उनकी मृत्यु हो रही है और उन्हें (उनकी पत्नी को) दुःख न करना चाहिए और आध्यात्मिक कार्य-क्रम ठीक-ठीक चलाना चाहिए। उन्होंने अपने नेत्र और मुख बन्द कर लिए और ईश्वर के नाम का ध्यान करने लगे। उनके श्वास ठीक-ठीक चल रहे थे। उनकी पत्नी दुःख-विह्वल हो गईं, पर गुरुदेव के ध्यान में रुकावट न डालने के लिए वे बगल के कमरे में जाकर रोने लगीं। उनकी पुत्री यह सुन ध्यान-कक्ष में आई। गुरुदेव ने उन्हें बुलाकर अपने पास बैठाया, उनका हाथ अपने हाथ में लेकर एक अजीब इशारे से उन्होंने कहा—"बहुत सुन्दर!" उनसे पूछा गया कि क्या उन्हें बगल के कमरे में, जो ज्यादा हवादार था, कर दिया जाय तो उन्होंने सर हिलाकर स्वीकृति दे दी। उन्हें वहाँ ले जाया गया। केवल उनकी पत्नी तथा एक अत्यन्त भाग्यवान शिष्य मधुकर कुण्ठेकर जो उनकी सेवा बीमारी के शुरू होने से कर रहे थे, उनके पास रहने दिये गए। श्री निम्बार्गी महाराज की भाँति गुरुदेव ने भी अपनी मृत्यु के छः घंटे पहले इसकी सूचना दे दी। मृत्यु के दो मिनट पहले साँस लेने में कुछ कठिनाई होने लगी। श्रीमती रानडे ने उनके कानों में उनसे पानी पीने की प्रार्थना की क्योंकि उनका गला सूख-सा गया मालूम होता था। उन्होंने अपना मुँह खोला। उनकी पुत्री के श्वसुर सरदार आप्टे अपने साथ कुछ गंगा जल लाए थे वही उन्हें पिलाया गया। उनके उन सभी शिष्यों से जो निम्बल में थे भजन करने को कहा गया। जब उनमें से एक ने आकर आरती करने की सूचना दी तो गुरुदेव ने अंतिम घूँट पानी पिया, संतोष प्रकट किया और शान्तिपूर्वक आखिरी साँस ली।

इस तरह भारत ही नहीं बल्कि विश्व का एक महान् सन्त, बड़ी आध्यात्मिक साधना के बाद स्वर्ग सिधार गया। इससे एक ऐसा स्थान रिक्त हुआ जिसे पूरा करना हमारे लिए सम्भव नहीं।

———

स्वर्गीय प्रो० डा० रा० द० रानडे, एम० ए०, डी० लिट० के विषय में मेरे संस्मरण

पी० के० गोडे, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना

"वृत्तेन हि भवत्यार्यः न धनेन न विद्यया" महाभारत ५,६०,५३।

वृत्त अथवा चरित्र वाला व्यक्ति ही सच्चा आर्य है, मात्र धनार्जन या मात्र विद्या-र्जन से कोई व्यक्ति आर्य नहीं कहला सकता। स्व० डा० रानडे के १६१० से १६५७ तक सैंतालीस वर्ष के सम्पर्क ने महाभारत में दी गई 'आर्य' की उपर्युक्त परिभाषा के सत्य को मुझे हृदयंगम करा दिया है।

१६१० में मैट्रिक पास करने के बाद मैं फर्गुसन कालेज में प्रीवियस कक्षा में प्रविष्ट हुआ। उस कक्षा को डा० रानडे अंग्रेजी-रचना पढ़ाते थे। इसी समय मैंने डा० रानडे से व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने की प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने हमें गम्भीर अध्ययन के लिए बेन (Bain) की Rhetoric (दो भाग) पढ़ने का परामर्श दिया, जिसे मैंने श्रद्धापूर्वक माना। पूर्ण संतुलित वाक्य का जो एक उदाहरण उन्होंने बेन की Rhetoric से दिया था, वह मुझे अभी तक याद है—"जब मित्र सहायता नहीं करते तो पुस्तकें करती हैं, और जब पुस्तकें नहीं करतीं, तो ध्यान करता है।"

मुझे मित्रों से अधिक पुस्तकों ने सहायता की है। परन्तु डा० रानडे तो चालीस की वय के आसपास ही, यदि इससे पहले नहीं, ध्यान की अवस्था में पहुँच गये थे। २६ मई १६५५ को डा० रानडे ने पूना के दक्षिण जिमखाना कालोनी में स्थित मेरे मकान पर दर्शन देने की कृपा की। वह ग्रीष्म का एक उज्जवल प्रभात था। डा० रानडे, प्रो० दामले और अन्य मित्रों का सत्कार करने के बाद मैंने डा० रानडे को अपनी पुस्तक "Studies in Indian Literary History" के प्रथम और द्वितीय भाग भेंट करके उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे भाव-विभोर हृदय और सन्तोष से आशीष दिया। इस समय मैंने उन्हें बेन के Rhetoric के वाक्य की याद दिलाई, जब "मित्र सहायता नहीं करते तो पुस्तकें करती हैं, और जब पुस्तकें नहीं करतीं तो ध्यान करता है" और उनसे निवेदन किया कि वे उस समय जीवन की ध्यान-प्रधान स्थिति में थे जो मित्रों और पुस्तकों के परे है। डा० रानडे मेरे कथन की प्रशंसा करते हुए मुस्कराये। तब

मैंने उन्हें चीनी यात्री इत्सिंग द्वारा उसके Record (ताकाकुसु द्वारा अनूदित, आक्सफोर्ड १८९६, पृष्ठ १५०) में दी गई उसके गुरु की कथा सुनाई जिसमें गुरु ने अपनी सब पुस्तकों को फाड़कर उस समय निर्मित होती हुई वज्र की मूर्ति के उपयोग में आने वाले गारे में मिला दिया था। उनके शिष्यों ने कहा, "यदि कागज का उपयोग करना आवश्यक हो तो हम कोरे कागजों का उपयोग करें।" गुरु ने कहा कि गारे में मिले हुये साहित्य के द्वारा ही वह पथ से भटके थे।

डा० रानडे ने इस कथा को बहुत पसन्द किया क्योंकि पुस्तकों और मनुष्यों के अपने अनुभव से इस कथा का रहस्यात्मक अभिप्राय वे जानते थे।

१९१५ में डा० रानडे फ़र्गुसन कालेज की बी० ए० कक्षाओं को कार्लाइल का "Heroes and Heroworship" पढ़ाते थे। मैं इस कक्षा में उनका विद्यार्थी था और उनके घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्पर्क में तभी आया। कक्षा में मैंने, कार्लाइल के विचार और भारतीय दर्शन से उसकी प्रगाढ़ समानता से डा० रानडे को पूर्णतः अभिभूत पाया। आजकल ऊँची आवाज से बोलना ही कालेज में किसी को अच्छा अध्यापक बना देता है चाहे वह जो विषय पढ़ा रहा है उसके बारे में उसे कुछ भी गम्भीर ज्ञान न हो। कार्लाइल ने अपने समय के कुछ विश्व विद्यालयों का वर्णन इस प्रकार किया है—उनमें "एक चौकोर घिरा हुआ स्थान और उच्च स्वर की घोषणा" होती है। यह कथन हमारे कुछ विद्यालयों के विषय में अभी भी सच है। डा० रानडे की पढ़ाने की विधि फ़र्गुसन कालेज में तब प्रचलित विधि से बिल्कुल भिन्न थी। पाठ्य-पुस्तक का जो अंश वे पढ़ाने वाले होते थे हमसे पहले ही पढ़कर आने को कहते थे। उन्होंने हमें यह सिखाया कि पुस्तक के प्रत्येक प्रघट्टक का जहाँ सम्भव हो, लेखक के ही शब्दों में सार कैसे निकालना चाहिये। इसके बाद वे पूरे अर्थ तथा कर्लाइल के अन्य ग्रन्थों के समानार्थक गद्यांशों के साथ पाठ्य-पुस्तक के सभी कठिन अंशों को समझाते थे। वास्तव में उन्होंने हमें यह सिखाया कि किस तरह पाठ्य-पुस्तक को पढ़ना तथा विषय में रुचि विकसित करनी चाहिये। मुझे अध्ययन की यह विधि इतनी अच्छी लगी कि मैंने कम से कम पचास महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के जो मुझे १९१४ से १९१८ तक, संस्कृत तथा अंग्रेजी में, बी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षाओं के लिये पढ़नी थीं—संक्षिप्त-सार बना डाले। तत्पश्चात् मैंने पिछले चालीस वर्षों के अपने अनुसन्धान कार्य में भी इसी विधि का सफलता से उपयोग किया। मेरे लिये पढ़ने में लिखना सम्मिलित है और यद्यपि घर में दो आराम कुर्सियाँ हैं, तथापि मैं उनका कभी उपयोग नहीं करता।

जब डा० रानडे हमें कर्लाइल पढ़ाते थे उसके कुछ समय पूर्व वे Deccan Education Seciety के आजीवन सदस्य बन चुके थे (१९१५ में)। कार्लाइल के लेखों के अध्ययन ने उनके मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाला था और इसी समय उन्होंने कार्लाइल के "Characteristics and Signs of His Times" का विद्यार्थियों

के लिये संस्करण, आलोचनात्मक परिचय और टिप्पणियों के साथ, निकाला। आश्चर्य की बात यह है कि इसी समय उन्होंने फर्गुसन कालेज के हाते में अपने लिए एक छोटी सी कुटिया बनाई जिसका नाम "कार्लाइल काटेज" रक्खा, वहाँ मैं प्रायः जाया करता था। डा० रानडे से मेरा प्रथम साहित्यिक सम्पर्क इसी समय आरम्भ हुआ जब उन्होंने भारतीय वर्ण व्यवस्था पर मेरा लेख फर्गुसन कालेज पत्रिका, जिसके वे सम्पादक थे, में प्रकाशित किया था (१९१५)। १९१६ में मैंने "महाभारत की कला, शैली और पद्य रचना" पर एक मौलिक गवेषणात्मक निबन्ध, स्व० डा० पी० डी० गुणे, जो भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के संस्थापकों में से एक थे और मैट्रिक से लेकर एम० ए० परीक्षा तक मेरे संस्कृत शिक्षक रहे थे, के पथप्रदर्शन में तैयार किया। उसे मैंने डा० रानडे को दिखाया और उन्होंने डा० कूर्तकोटि (अब-जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, नासिक) को दिखाया। दोनों ने उसे इतना पसन्द किया कि मुझे तभी ५०) का पुरस्कार दिया और निबन्ध को बँगलौर के "संस्कृत रिसर्च" पत्र में (भाग १, पृष्ठ ३६५-३८६) प्रकाशित करा दिया। यह निबन्ध भारतीय पुरातत्त्व (Indology) में पिछले ४१ वर्षों की मेरी गवेषणा का आरम्भ-बिन्दु सिद्ध हुआ और मैं अपने गुरुओं, डा० रानडे और डा० गुणे, का सादर, आभारी हूँ जो मुझे भारतीय पुरातत्त्व के पथ पर लाये। इस पथ पर मैं अब तक बिना रुके चलता रहा हूँ। इन गुरुओं के ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता, यद्यपि मैंने अपनी पुस्तक "Studies in Indian Literary History" (१९५६) के तृतीय भाग को डा० रानडे को और प्रथम भाग को डा० गुणे को समर्पित करके आनृण्य प्राप्त करने का आंशिक प्रयास किया है। आवश्यक कोष-संग्रह के द्वारा मैं पूना विश्व विद्यालय में त्रैवार्षिक "डा० पी० डी० गुणे स्मारक लेक्चररशिप" का भी प्रबन्ध और स्थापना करने में सफल हुआ हूँ। इस लेक्चररशिप के अन्तर्गत प्रथम भाषणमाला १९५८ में दी जायगी।

डा० रानडे विचारवान् और आदर्शपूर्ण व्यक्ति थे। महाराष्ट्र में, तथा अन्य प्रान्तों में भी, पिछले पचास वर्षों में, बहुत सी शिक्षा-संस्थायें बनी हैं और उपयोगी कार्य भी कर रही हैं। ये संस्थायें अपने जन्मदाताओं के विचारों की मूर्ति हैं। कार्लाइल सेंट पाल के गिरजे को "एक शिल्पसम्बन्धी विचार" कहा करता था। महाराष्ट्र में भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्टीच्यूट जो अब तीन महाद्वीपों में प्रसिद्ध हो गया है, का जन्म अपने संस्थापकों के विचारों में हुआ था। भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट की रिपोर्ट (६ जुलाई १९१५ से १० सितम्बर १९१८ तक), जो Annals (१९२०) के प्रथम भाग में परिशेष (पृष्ठ पाँच) रूप में प्रकाशित हुई थी, के अनुसार इस इंस्टीच्यूट को स्थापित करने का विचार सर्वप्रथम डा० कूर्तकोटि, डा० रानडे, डा० एस० के० बेलवलकर और डा० पी० डी० गुणे द्वारा मई १९१५ में विवेचित किया गया था। तब डा० रानडे फर्गुसन कालेज पूना के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर पद पर थे। वे इस संस्था की कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे और इंस्टीच्यूट की Regulating Coun-

cil द्वारा ८ सितम्बर १९१८ को उसके प्रथम Executive Board के सदस्य भी चुने गये थे। इंस्टीच्यूट के इस निर्माणकाल में विद्यार्थी होने के नाते मैं डा० रानडे और डा० गुणे के निकट सम्पर्क में रहा। ६ जुलाई १९१७ को इंस्टीच्यूट के स्थापना-समारोह में उपस्थित था और पहली अप्रैल १९१९ को भी उपस्थित था, जब डा० रा० गो० भण्डारकर ने महाभारत का प्रथम श्लोक (नारायणं नमस्कृत्य आदि), सम्मानित अतिथियों के सामने, पाठ भेद वाले पृष्ठ (Collation Sheet) पर लिखकर इंस्टीच्यूट के महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण के काम का शुभारम्भ किया था। उनके द्वारा लिखित श्लोक अब इंस्टीच्यूट के महाभारत विभाग में सुरक्षित है।

१९१२ में एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद मेरी नियुक्ति जून १९१२ में भारतीय महिला विश्वविद्यालय (Indian Women's University) के अंग्रेजी और संस्कृत के प्रोफेसर पद पर हो गई थी। इस समय मैं पूना के समीप हिंगणे में रहता था, बहुधा डा० रानडे और डा० गुणे से मिला करता था। २० मार्च १९१९ को डा० रानडे ने पत्र द्वारा मुझसे पूछा कि क्या मैं इंस्टीच्यूट के सहायक क्यूरेटर का पद स्वीकार करूँगा। मेरे स्वीकारात्मक उत्तर देने पर इंस्टीच्यूट के मंत्री पद से डा० गुणे के हस्ताक्षर सहित सहायक क्यूरेटर के पद का नियुक्ति पत्र मुझे ८ अप्रैल १९१९ को मिल गया। भारतीय महिला विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद से त्याग-पत्र देकर मैंने २६ अप्रैल १९१९ को इंस्टीच्यूट का काम ले लिया और नौकरी की शर्तों के अनुसार इंस्टीच्यूट के पास ही क्यूरेटर के बँगले में रहने लगा।

"कार्लाइल काटेज" से अब हम "अध्यात्म भवन" आते हैं। यह अत्यन्त सार्थक नाम डा० रानडे ने १९२०-२१ में भण्डारकर इंस्टीच्यूट के समीप ही थोड़ी सी जमीन पर बने हुये अपने छोटे से बँगले को दिया था। डा० रानडे का यह नया निवास क्यूरेटर के बँगले के बहुत समीप था जिसमें मैं उस समय रहता था। इसलिये मुझे उनसे नित्यप्रति मिलने और उनके अध्ययन आदि का निरीक्षण करने का सुअवसर मिला। दर्शन और तत्सम्बन्धित अन्य विषयों पर चुनी हुई पुस्तकों के छोटे से पुस्तकालय सहित इस अध्यात्म भवन में डा० रानडे ने अपना सर्वोत्तम ग्रन्थ "The Constructive Survey of Upanishadic Philosophy" लिखा। डा० रानडे मित्रों और विद्यार्थियों को अपने पुस्तकालय का उपयोग इतनी उदारता से करने देते थे कि यद्यपि पुस्तकालय में बड़े-बड़े अक्षरों में सूचना लिखी हुई थी "पुस्तकें घर ले जाने के लिये न कहिये", तथापि कई महत्वपूर्ण पुस्तकें खो गईं क्योंकि ले जाने वालों ने कभी लौटाई नहीं। उपनिषद् साहित्य का अध्ययन बाद के उनके आध्यात्मिक जीवन, जिसे वह अपनी बौद्धिक सफलताओं से कहीं अधिक मूल्यवान मानते थे, का आधार सिद्ध हुआ। उपनिषदों के अध्ययन के लगभग साथ-साथ ही डा० रानडे ने तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास तथा अन्य

महाराष्ट्रीय सन्तों के लेखों का गम्भीर अध्ययन आरम्भ किया और "Mysticism in Maharastra" ग्रन्थ की योजना बनाई। इस ग्रन्थ के स्रोतों को अध्यात्मग्रन्थमाला के चार भागों में प्रकाशित किया और पूरा ग्रन्थ १९३३ में निकला।

अपने 'अध्यात्म भवन' में ही डा० रानडे ने दर्शन और धर्म की एकेडेमी स्थापित की जिसका घोषित उद्देश्य उन सब लोगों को संगठित करना था जो ईश्वर की समस्या के दार्शनिक अनुसन्धान में रुचि रखते हैं। इस एकेडेमी के प्रथम संचालक के पद से डा० रानडे ने मुझे और प्रो० न० ग० दामले को इसका मन्त्री बनाया। इस एकेडेमी की प्रथम तात्कालिक शास्त्रीय योजनाओं में उन्होंने १६ भागों में भारतीय दर्शन के विश्वकोषात्मक इतिहास की योजना को सम्मिलित किया और उसको कार्यान्वित करने के लिए एक विशेष सम्पादक मंडल बनाया। दर्शन और धर्म में रुचि रखने वाले विद्वानों और अन्य लोगों ने इस योजना का अच्छा स्वागत किया। उस समय बम्बई के गवर्नर हिज एक्सेलेन्सी सर लेस्ली विल्सन ने "शिक्षा मन्त्री और अर्थमन्त्री को इस योजना का महत्व बताकर इसमें अपनी बहुत रुचि प्रदर्शित की।" प्रारम्भिक शिक्षा और उच्च शिक्षा की माँगों के विरोध के कारण शिक्षा मन्त्री को इस योजना को अपने बजट में स्थान देकर प्रोत्साहित करना सम्भव नहीं लगा।' १

डा० रानडे ईश्वर की समस्या में अधिक व्यस्त थे जब कि शिक्षा मन्त्री मानव की समस्या में, अर्थ-समस्या में। उसके बाद भी अपनी योजना के लिए आर्थिक सहायता पाने के डा० रानडे के प्रयत्न सफल न हो सके। फलस्वरूप डा० रा० नागराज शर्मा२ और स्वयं डा० रानडे को छोड़कर अन्य किसी भी विद्वान ने अपने जिम्मे का काम नहीं किया। डा० रानडे को ईश्वर पर और अपने ऊपर भी विश्वास था। उन्होंने अकेले ही अपना अध्ययन ६ जून सन् १९५७ को अपनी मृत्यु तक जारी रक्खा।

१९२६ में डा० रानडे ने मुझे एकेडेमी की योजनाओं के अन्तर्गत "रिव्यू आव् फिलासफी एन्ड रिलीजन" नामक पत्र का प्रबन्ध करने की आज्ञा दी। मेरे मित्र प्रो० न० ग० दामले और मैंने प्रबन्ध करके इस पत्र का प्रारम्भ कराया। मेरे सफलतापूर्वक सम्पादन काल में इसके ६ भाग निकले :—

---

(१) पहली जून १९२७ से ३० एप्रिल १९२९ तक की एकेडेमी की द्वितीय द्विवार्षिक रिपोर्ट (१९२९) का पहला पृष्ठ देखिये।

(२) चूँकि एकेडेमी के पास डा० आर० एन० शर्मा की पुस्तक "Reign of Realism in Indian Philosophy' को प्रकाशित करने के लिए धन का अभाव था इसलिए उन्होंने उसे स्वयं ही प्रकाशित किया।

(१) पहला भाग १६३० (४) चौथा भाग १६३३
(२) दूसरा भाग १६३१ (५) पाँचवा भाग १६३४
(३) तीसरा भाग १६३२ (६) छठा भाग १६३५

हमारे पत्र के आदान-प्रदान में मुझे संसार के सभी देशों से ऊँचे स्तर के अनुसन्धान पत्र तो मिले, किन्तु चन्दे से मिला हुआ धन इतना न हो सका कि पत्र आत्म-निर्भर हो पाता। वस्तुतः प्रत्येक भाग के लिए ५००) की वार्षिक कमी डा० रानडे स्वयं ही पूरी करते थे। निश्चय ही ईश्वर की समस्या डा० रानडे के लिए बहुत महँगी पड़ी और मैंने उन्हें इस पत्र को बन्द करने की सलाह दी। इस पत्र के ६ और भाग, १६३६ से १६४१ तक इलाहाबाद के डा० तैमिनी और प्रो० रामनाथ कौल ने प्रकाशित किये थे।

प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर डा० गंगानाथ झा के निमन्त्रण पर दिसम्बर १६२७ में डा० रानडे ने प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर का पद ग्रहण किया। बाद में उन्होंने इस विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर का काम भी किया और १६४६ में अवकाश ग्रहण किया। अध्यापन, अनुसन्धान और प्रकाशनों द्वारा भारतीय दर्शन तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रति उनकी सेवाओं की कृतज्ञता के फल-स्वरूप प्रयाग विश्वविद्यालय ने उन्हे डी० लिट० से सम्मानित किया। अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्हें विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र का एमीरिटस प्रोफेसर भी बनाया गया।

१६३८ में नागपुर विश्वविद्यालय में किन्खेडे भाषणों के अन्तर्गत डा० रानडे ने भगवद्गीता पर भाषण दिये। ये भाषण नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। मार्च १६२६ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में बसुमल्लिक भाषणों के अन्तर्गत "वेदान्त और पश्चिमी विचार" पर भाषण दिये।

यद्यपि डा० रानडे १६२७ में पूना छोड़कर प्रयाग आ गये थे, तथापि १६३६ तक अध्यात्म भवन में एकेडेमी की पूना शाखा का काम मेरे ऊपर ही रहा और वहीं से १६३० से १६३६ तक Riview of Philosophy and Religion प्रकाशित हुआ। जीवन में ईश्वरीय पथ का अनुसरण करने के लिये डा० रानडे एकान्त से प्रेम करते थे। १६२५ के कुछ पहले उन्होंने बीजापुर के पास निम्बल में एक छोटा सा आश्रम बनाया। उनका यह आश्रम प्रशंसनीय रूप से अध्ययन और ध्यान के उपयुक्त था और वे अपनी छुट्टियाँ वहीं बिताया करते थे। मुझे अभी तक १६३० में उनके आश्रम में जाना और विशेष कर उनका वह निवात ध्यान-कक्ष याद है जिसमें उन्होंने मुझे गरम चाय पिलाई थी। उससे मुझे पसीना आ गया था। यहाँ तक कि ठंडक के लिये मुझे कमरे से निकल कर उस तूफानी हवा में आना पड़ा था जो आश्रम के चट्टानी मैदानों में प्रायः बहा करती

है। १९२७ से १९४१ तक डा० रानडे इलाहाबाद में एक किराये के मकान में रहते थे जो स्पष्ट ही उनके ध्यानपरक जीवन के उपयुक्त नहीं था। अतः उन्होंने इलाहाबाद में गङ्गा के तट पर द्रौपदीघाट के समीप, भीड़भाड़ से बहुत दूर, एक मकान बनाया। इस मकान में उन्होंने हिन्दी के संत कवियों का, अपने अनुभवों के दृष्टिकोण से, गम्भीर अध्ययन किया और दो बृहद् भागों में "Pathway to God in Hindi Literature" लिखा।

डा० रानडे लगभग अट्ठारह वर्ष (१९२७ से १९४६) तक इलाहाबाद में रहे। बीच-बीच में वे निम्बल भी जाते थे। वहाँ साधना करने तथा सरल आध्यात्मिक चर्चाओं को सुनने के लिये आने वाले शिष्यों तथा गुरु-बन्धुओं से वे मिलते थे। वस्तुतः उनके आध्यात्मिक अनुयायिओं और मित्रों में से अधिकांश के लिये निम्बल एक तीर्थ स्थान बन गया। ३ जुलाई १९५९ को, डा० रानडे की सत्तरवीं वर्ष गाँठ पर, उनके जन्म स्थान जमखंडी में, जमखंडी के नागरिकों तथा भारत के विभिन्न भागों से आये उनके मित्रों और शिष्यों ने "अमृत महोत्सव" मनाया था। इस विशिष्ट अवसर पर श्री गुरुदेव रानडे सत्कार समिति द्वारा सम्पादित एक ग्रन्थ "Philosophical and other Essays of Dr. Rande" उन्हें भेंट किया गया था। डा० रानडे के प्रत्येक मित्र, प्रशंसक और शिष्य के पास इस ग्रन्थ की प्रति होनी चाहिये, केवल इसलिये नहीं कि इसमें गम्भीर दार्शनिकता है, वरन् निम्नलिखित विशेषताओं के कारण, जो हमें डा० रानडे के प्रारम्भिक जीवन और उनके साहित्यिक तथा आध्यात्मिक विकास का अच्छा परिचय देती हैं:—

(१) डा० रानडे के आध्यात्मिक गुरु श्री सद्गुरु भाऊ साहेब महाराज का चित्र

(२) बैठने की मुद्रा में डा० रानडे का चित्र

(३) जमखंडी के उस मकान का चित्र जहाँ डा० रानडे का जन्म हुआ था।

(४) जमखंडी के परशुराम भाऊ हाई स्कूल का चित्र जहाँ से डा० रानडे ने १९०२ में सर्व प्रथम संस्कृत के लिये जगन्नाथ शंकरसेठ छात्रवृत्ति सहित, मैट्रिक परीक्षा पास की थी।

(५) विहार के भूतपूर्व गवर्नर लोकमान्य श्री एम० एस० अणे द्वारा डा० रानडे की प्रशस्ति में लिखे गये तीन श्लोक।

(६) प्रो० न० ग० दामले द्वारा लिखत एक विशद भूमिका जिससे हमें डा० रानडे के जीवन, उनके दर्शन, उनके आध्यात्मिक उपदेश और साहित्यिक कृतियों के विषय में सब प्राप्य सूचना मिल जाती है।

वर्ष में कम से कम एक बार डा० रानडे पूना आया करते थे और उस समय मैं उनसे मिलकर सुख पाता था। परन्तु अभाग्यवश इस वर्ष मैं उनसे न मिल पाया क्योंकि

वे अत्यन्त अस्वस्थ अवस्था में पूना आये थे और तुरन्त ही निम्बल चले गये थे। वहाँ अस्वस्थता के कुछ दिनों बाद ही ६ जून १९५७ को वे शान्तिपूर्वक इस जगत से प्रस्थान कर गये। उनके अभाव का शोक हम सभी को है। वह मेरे ही नहीं, अपने सैकड़ों मित्रों और शिष्यों के पथप्रदर्शक, मित्र और दार्शनिक थे। निश्चय ही जो पुरुष उस ऊसर मैदान में अपने अन्तिम संस्कार के लिये एक हजार से भी अधिक तरुण और वृद्ध मित्रों को आकर्षित कर सकता है, उसका जीवन व्यर्थ नहीं गया है।

उस महान् व्यक्तित्व के प्रति अपनी यह अल्प श्रद्धांजलि समाप्त करने के पहले, मैं नीचे डा० रानडे की कृतियों की एक सूची दे रहा हूँ जो दर्शन और धर्म के जिज्ञासुओं द्वारा सदा पढ़ी जायँगी—

१—Philosophical and other Essays भाग प्रथम (१९५६,)

रानडे सत्कार समिति द्वारा सम्पादित जिसमें निम्नलिखित निबन्ध हैं :—

(१) Herakleitos (पृष्ठ १-२३ तक)

(२) Aristotle's Criticism of the Eleatics (पृष्ठ २४ से ७१ तक)।

(३) Thales (पृष्ठ ७२ से ९१ तक)।

(४) Aristotle's Critique of Protagoreanism (पृष्ठ ९३ से १११ तक)।

(५) A Philosophy of Spirit (पृष्ठ ११२ से १२० तक)।

(दिसम्बर १९३७ की Indian Philosophical Congress के नागपुर अधिवेशन के सभापति पद से दिये गए भाषण का संक्षेप)।

(६) Yajnavalkya and the Philosophy of Fictions (पृष्ठ १२१ से १३३ तक)।

(७) Meditations on a Firefly (पृष्ठ १३४ से १३९ तक)।

(८) The Centre of the Universe (पृष्ठ १४० से १४३ तक)।

(९) Indian Theism (पृष्ठ १४४ से १५२ तक, डा० मैक्नीकल की पुस्तक की समीक्षा)।

(१०) The Ideal of Kingship (पृष्ठ १५३ से १६४ तक—१९२५ में प्रकाशित डा० डी० आर० भन्डारकर की "अशोक" पुस्तक की समीक्षा)।

(११) A Vindication of Indian Philosophy (पृष्ठ १६५ से १८४ तक)।

२—A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy
(पृष्ठ संख्या ४७ , सन् १९२६)।

३—Creative Period डा० आर० डी० रानडे और एस० के० बेलवलकर
(पृष्ठ संख्या ५७४ सन् १९२७)

४—अध्यात्मक ग्रन्थ माला (चार भाग)

(१) ज्ञानेश्वर वचनामृत

(२) तुकाराम वचनामृत

(३) संत वचनामृत

(४) एकनाथ वचनामृत

(५) रामदास वचनामृत (दूसरा संस्करण प्रेस में)

५ Mysticism in Maharastra (पृष्ठ संख्या ५४०, सन् १९३३)

६—The Vedanta as a Culmination of Indian Thought
(बसु मल्लिक भाषण, कलकत्ता विश्वविद्यालय—अप्रकाशित)

७—Pathway to God in Hindi Literature (पृष्ठ संख्या ४५०, सन् १९५४)।

८—परमार्थ सोपान (पृष्ठ संख्या ४५४)।

९—Conception of Spiritual life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints (१९५६ में गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद के समक्ष भाषण)।

१०—Mysticism in Karnatak (उद्गम सहित) (कर्नाटक विश्वविद्यालय भाषण सन् १९५६)।

११—The Bhagvadgita as a Philosophy of God-Realisation
(किन्खेडे भाषण, नागपुर विश्वविद्यालय (शीघ्र ही प्रकाशित होगा)।

१२—The Ka'ushika Lectures (एस० पी० कालेज पूना में दिये गए)।

डा० रानडे का विद्यार्थी जीवन बहुत सफल रहा और इस सफलता का चरम उत्कर्ष एम. ए. परीक्षा में चांसलर का स्वर्ण पदक मिलने से हुआ। किन्तु १९०७ के बाद एक गम्भीर रोग के कारण (जिससे उन्हें आंशिक मुक्ति १९१२ के आसपास मिली थी) उनका स्वास्थ्य बहुत नष्ट हो गया था। इस समय से मृत्यु पर्यन्त वे अस्थि-पंजर मात्र थे। हम लोगों के लिये यह वास्तव में एक 'रहस्यवाद' है कि कैसे ऐसा हड्डियों का ढाँचा मात्र इतनी उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थों का सृजन कर सका। किसी अंग्रेजी कवि ने कहा था, "आत्मा की वस्तुयें मिट्टी की वस्तुयें नहीं हैं।" डा० रानडे की साहित्यिक सृष्टि अमर बन गई है क्योंकि उस पर उनके आध्यात्मिक जीवन की अमिट छाप है।

४५ वर्ष पहले जब श्री अरविन्द ने डा० रानडे के ग्रीक दर्शन पर निबन्ध पढ़े थे तो उसके लेखक का वर्णन एक "पूर्ण लेखक और विद्वान" कहकर किया था। डा० रानडे की साहित्यिक सृष्टि ने जैसा कि सूची से पता चलता है लिम्बल के सन्तदार्शनिक के विषय में पांडिचेरी के संत दार्शनिक की प्रशंसात्मक भविष्यवाणी को सार्थक कर दिखाया। डा० रानडे को विद्वत्वर-लोकमान्य बापूजी अणे, बिहार के भूतपूर्व गवर्नर, द्वारा ३ जुलाई १६५६ को उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर लिखित तीन श्लोकों* से अच्छी श्रद्धांजलि नहीं दी जा सकती।

मैं भी रामचन्द्र-प्रशस्ति करता हुआ 'तत्त्वज्ञानपरायणाय गुरवे रामाय तस्मै नमः' से अपनी श्रद्धांजलि समाप्त करता हूँ।

गोकुलाष्टमी, १६ अगस्त १६५७

अनुवाद कर्त्री
प्रीतिलता अग्रवाल
प्रयाग विश्वविद्यालय

* ये श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में प्रकाशित हैं।

श्री रा० द० रानडेजी की पावन स्मृति में

श्रीराम माधव चिंगले, एम० ए०, तत्वज्ञान मन्दिर, अमलनेर

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् (६-२३)।

श्वेताश्वतर श्रुति के अनुसार उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या का रहस्य वही समझ सकता है जिसकी ईश्वर के प्रति पराकोटि की भक्ति हो; और जैसे ईश्वर के प्रति वैसे ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाले गुरु के प्रति भी उतनी ही उत्कट कोटि की भक्ति हो। यह सुविदित है कि श्री रानडे इसी श्रेष्ठ कोटि के अधिकारी पुरुष थे; कारण वे ईश्वर के अनन्य भक्त तो थे ही किन्तु सद्गुरु के भी उतने ही अनन्य भक्त थे। उनकी ईश्वर-भक्ति तथा गुरु-भक्ति सब तरह से आदर्श थी। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक ईश्वर-भक्ति तथा गुरु-भक्ति का निर्वाह किया। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार वेदान्त शास्त्र, सद्गुरु तथा ईश्वर की उपासना आजीवन करनी चाहिये—प्रारम्भ में ज्ञान-प्राप्ति के लिये और ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर कृतघ्नता का निवारण करने के उद्देश्य से :—

आजीवितं त्रयः सेव्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानाप्तये पश्चात् कृतघ्नत्वनिवृत्तये॥

श्री रानडे जी ने उक्त शास्त्र मर्यादा का पूरी तरह से पालन किया। वे आजीवन नियमपूर्वक दिन में कई बार सद्गुरु की प्रतिमा की पूजा, आरती इ० करते रहे। साथ ही उन्होंने गुरूपदिष्ट मार्ग पर चल कर सक्रिय रूप से भी सद्गुरु की सच्ची उपासना की। ईश्वर की उपासना, घन्टों तक ईश्वर का ध्यान तथा शास्त्र-चिंतन उनके जीवन के श्वास-प्रश्वास की तरह अविभाज्य अंग बन गये थे।

'बिन गुरु नहिं ज्ञान'—यह अध्यात्म-मार्ग का अटल सिद्धान्त है। आध्यात्मिक क्षेत्र के सभी अनुभवी पुरुषों की इस विषय में एकवाक्यता है। वह साधक सचमुच ही भाग्यशाली है जिसे सद्गुरु की प्राप्ति हो गई हो। रानडेजी इन्हीं इने-गिने भाग्यशाली व्यक्तियों में से थे। पन्द्रह वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही उन्हें सद्गुरु की प्राप्ति हुई और वे अध्यात्म विद्या में विधिपूर्वक दीक्षित हुए। सद्गुरु की कृपा एवं उपदेशों के प्रभाव से, दर्शन-शास्त्र के अध्ययन एवं चिंतन-मननादि से तथा श्रद्धाभक्ति पूर्वक किये हुए साधनानुष्ठान के कारण धीरे-धीरे ब्रह्मविद्या का रहस्य उनके प्रति

खुलने लगा—यहाँ तक कि अध्यात्म विद्या का कोई भी रहस्य उनसे छिपा न रहा। वे ज्ञान तथा अनुभव दोनों दृष्टि से निस्सन्दिग्ध हुए। कहा है न—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

- मुण्डकोपनिषत् २-२-८

इस प्रकार उन्होंने 'शाब्दे निष्णात' और 'परे निष्णात' होकर भारतीय ब्रह्मविद्या के द्वितीय आदर्श की पूर्ति की।

रानडे जी आज हम में सदेह रूप में वर्त्तमान नहीं हैं। इसलिये हममें से अनेक शोकाकुल भी हैं और यह बिलकुल स्वाभाविक भी है। इस अवसर पर हमें भास का निम्न श्लोक याद आता है:—

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रात्वेषा यद्विमुच्येह बाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्॥

किन्तु यह तो व्यवहार-दृष्टि है। श्री रानडे जी जैसे तत्वदर्शी पुरुष के पुण्य-स्मरण के अवसर पर इसके तात्विकपक्ष को भी हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जिस समय श्री रानडे सदेह रूप में वर्तमान थे उस समय भी वे वस्तुतः देह से मुक्त ही थे। इसका कारण यह है कि वे देहभाव से अर्थात् 'मैं देह हूँ' इस प्रकार के मिथ्या देहाभिमान या देहतादात्म्याध्यास से मुक्त थे। तत्वज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुष में यही महत्व का अन्तर है। ज्ञानी पुरुष देह में रहते हुये भी तत्वज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान के प्रभाव से देहाभिमान से रहित होने के कारण देह से मुक्त होता है। इसके ठीक विपरीत अज्ञानी पुरुष की स्थिति होती है। तत्वतः या वस्तुतः अर्थात् आत्मस्वरूप की दृष्टि से वह देहादि उपाधियों से मुक्त होता है। किन्तु आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण वह अपने आपको देहयुक्त समझता है और उसके अधिकांश व्यवहार देहात्म-भावमूलक होते हैं। इसलिये ज्ञानी सदेह होते हुए भी (अर्थात् आपाततः सदेह दिखाई देते हुए भी) विदेह होता है और अज्ञानी पुरुष वस्तुतः विदेह होते हुए भी सदेह होता है। इस विषय में श्रीमद्भागवत का निम्न श्लोक मननीय है—

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥ ११-११-८

श्री शंकराचार्य की ब्रह्मसूत्र भाष्य की निम्न पंक्तियाँ भी इस दृष्टि से विचारणीय हैं:—

"शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवत इति चेन्न; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। नह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं

शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम ।...तस्मान्मिथ्या-प्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् ।" (१-१-४)

ज्ञान-अज्ञान के जरा से दीखने वाले भेद के कारण ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों के व्यवहार में भी महत्वपूर्ण भेद हो जाता है। ज्ञानी पुरुष ज्ञान के प्रभाव से मुक्त होता है, अज्ञानी बद्ध। ज्ञानी पुरुष देहादिगत सुख-दुःखादि को मिथ्या समझ कर उनको समदृष्टि से सहन करता है, अज्ञानी मनुष्य उन्हें सत्य समझ कर सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में फँसा रहता है। ज्ञानाधीन ही तो हमारे समस्त व्यवहार, भावना, इच्छा तथा मूल्यादि होते हैं। अज्ञान या सदोष एवं विपर्यस्त ज्ञान और तत्वज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान के कारण हमारे जीवन में कितना महत्वपूर्ण अन्तर हो जाता है! श्री रानडे जी जैसे तत्वदर्शी पुरुष के जीवन से हमें यही शिक्षा प्रत्यक्ष रूप में मिलती है, देह में रहते हुए भी देहभाव से रहित होने का सक्रिय पाठ हम अध्यात्म क्षेत्र के अनुभवी पुरुषों के प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा ही सीख सकते हैं।

श्री रानडे अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि सम्पन्न थे। मैट्रिक में उन्हें जगन्नाथ शंकर सेठ शिष्यवृत्ति मिली थी जो संस्कृत में सबसे अधिक अंक पाने वाले छात्र को दी जाती है; और ये अंक प्रायः शतप्रतिशत ही होते हैं। एम० ए० में वे प्रथम श्रेणी में भी सर्व-प्रथम पास हुए थे जिसके लिए उन्हें चांसलर का स्वर्ण पदक मिला था। कहा जाता है कि उनके एम० ए० के परीक्षकों ने उनके पर्चे पढ़कर यह कहा था कि इतने उच्च कोटि के पर्चे ही उन्होंने तब तक न देखे थे। किन्तु इस प्रकार की बुद्धिमत्ता का पारमार्थिक दृष्टि से क्या मूल्य है? श्री शंकराचार्य ने इसका उत्तर निम्न श्लोक में दिया है :—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये—विवेक चूडामणि ॥ ६० ॥

इस प्रकार की बौद्धिक प्रतिभा के बल पर वे पाश्चात्य पद्धति के तत्त्वविचारक हो सकते थे, भारतीय आदर्श के दार्शनिक नहीं। इस बुद्धि को लेकर ही उपनिषदों में कहा गया है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'

—मुंडक, ३-२-३

किन्तु श्री रानडे केवल लौकिक प्रतिभा से ही युक्त न थे। वे साधन-संपन्न थे, शुद्धांतःकरणयुक्त थे, परमात्मप्रवण थे, गुरूपदिष्ट थे। इसलिये उन्हें अध्यात्म मार्ग में उपयोगी वह पैनी दृष्टि प्राप्त हुई थी जो परतत्त्व का साक्षात्कार करने में सहायक होती है और जिसके कारण मानव जीवन के संपूर्ण मूल्य बदल जाते हैं। इसी दृष्टि को लक्ष्य करके श्रुति कहती है :—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः ।

—कठोपनिषत्, १-३-१२

यह दृष्टि उनके ग्रंथों तथा लेखों में प्रचुरता से दिखाई देती है। श्री राधाकृष्णन् ने यथार्थता के साथ कहा है कि 'श्री रानडे के लिये दर्शन शास्त्र आध्यात्मिक अनुभूति की वस्तु है, केवल बौद्धिक व्यायाम के रूप में नहीं। उनके लिये वह आत्मचिंतन का विषय है और इसी के लिये उनका जीवन समर्पित है। १

रानडे जी का लौकिक जीवन सच्चे आध्यात्मिक पुरुष के जीवन जैसा अत्यन्त सीधा सादा था। गोबर से लिपा हुआ साफ कमरा—इसी में बैठकर वे ध्यानादि परमार्थ साधन किया करते थे। देशविदेश से आये हुए बड़े-बड़े जिज्ञासु विद्वान वहीं बैठकर उनसे घंटों वार्तालाप किया करते थे। प्रयाग में गङ्गा मैया के किनारे एक निजी मकान बनाया था—वह आध्यात्मिक साधना के ही लिये :—

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं।
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ॥

ध्यानादि सदृश अध्यात्म साधन में आप छोटेपन से ही इतने आगे बढ़े हुए थे कि विद्यार्थी दशा में, यौवन में पदार्पण करने के समय जब साधारणतया वृत्तियाँ उद्दाम तथा बहिर्मुख होती हैं, आप चित्त को एकाग्र करके घन्टों तक ध्यान-धारणा किया करते थे। आपने अपने आध्यात्मिक आत्मवृत्त में स्वयं ही लिखा है कि "प्रारंभ से ही मैं अध्यात्म प्रवण था।" २

जिस मन को जीतना अत्यन्त कठिन समझा जाता है, जिसे अर्जुन ने अत्यन्त चञ्चल और प्रमाथि कहकर इसे जीतना उतना ही कठिन बतलाया जितना कि वायु को रोकना—उसी मन के विषय में श्री रानडे ने एक बार हमसे अध्यात्म विषयक वार्तालाप के प्रसंग में बिलकुल सहज भाव से कहा कि मन ? 'मन बेचारा क्या है ? वह तो बिलकुल पङ्गु है।' यह सुनकर मैं दंग रह गया, कारण इसी पङ्गु मन ने सारी दुनिया को पङ्गु बना रखा है। भगवान शङ्कराचार्य ने कहा है—'जितं जगत् केन ? मनोहि येन।' जगत् को किसने जीत लिया ?—जिसने अपने मन को जीत लिया। किन्तु श्री रानडे जी के जीवन की ओर यदि हम देखें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता। जो मन बहिर्मुख है, विषयों में फँसा हुआ है वही चञ्चल और जीतने के लिये दुष्कर होता है।

---

1. "With Rande, philosophy is the pursuit of wisdom, not a mere intellectual exereise, It is for him meditation on the Spirit, a dedicated way of life"

2. "One can see...how I was inclined from early days to spiritual life"—Contemporary Indian philosophy II Edition P. 561

किन्तु जो मन विषयों से हटकर परमात्मा में लग चुका हो वह बाधक न होकर साधक ही होता है। ऐसा मन कोई समस्या नहीं उपस्थित करता है। वह तो अक्षरशः पङ्गु होता है। कहा है न,—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

उक्त उदाहरण से श्री रानडे जी की आध्यात्मिक अवस्था का पता चलता है। शरीर कृश होते हुए भी आपने अध्यात्म-साधन में कभी शिथिलता न आने दी। जिस दिन आपने रात्रि के समय अपनी इहलीला समाप्त की उसी दिन प्रातःकाल ध्यानादि यथावत् किये। इसलिये उनसे मिलने के लिये आये हुए सज्जन दोपहर को ही अपने-अपने स्थान पर वापिस चले गये। उन्हें इस बात की कल्पना तक न आने पाई कि यही उनके अन्तिम दर्शन हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक ध्येय को लेकर ही आपके जीवन का प्रारम्भ होता है और इस ध्येय की पूर्ति में ही उसका पर्यवसान। यही आपके जीवन की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी। इस विषय में आपकी आत्मवृत्तात्मक पंक्तियाँ देखिये—'Spiritual life has been my aim from the beginnig of my philosophic career; let me hope that it would be its culmination also." (Ibid p. 562)

एक बार आपने बातचीत के अवसर पर श्री० शं० वा० दांडेकर जी से कहा, "दांडेकर, मैं सामाजिक जीवन से रहित ही हूँ" ("Dandekar, I have no social life")। यह विधान आपाततः सत्य मालूम होता है किन्तु साथ ही कुछ गहरा अर्थ भी रखता है। लौकिक दृष्टि से व्यवहारिक भूमिको पर हम सामाजिक जीवन से जिन बातों के अभ्यस्त हैं—उदा० लोगों में आना-जाना, मंडली में बैठकर गपशप लड़ाना, ताश इ० खेलकर मन बहलाव करना—सामाजिक जीवन से यदि इस प्रकार की बातें अभिप्रेत हैं तो निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि रानडे जी समाज-जीवन से शून्य थे। किन्तु अधिक गहरे अर्थ में वे समाज-जीवन के संपर्क में थे, समाज-जीवन के वे सच्चे उपकारक एवं हितैषी थे। दार्शनिक दृष्टि से उनको यह आदर्श संमत नहीं था कि मनुष्य अपने ही अध्यात्म-साधन में लगा रहे और समाज-जीवन की कुछ भी पर्वाह न करे, उससे पूर्णतया विमुख हो जाय। इस विषय को लेकर उनकी स्वयं की निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

"The philosopher's work is not done when he has realised within himself the peace of mind....His supreme business is to bring about peace and harmony in the society, the state, and the world at large. From this point of view, it may be said, without exaggeration that the future of the world rests with

the philosophers'. (Philosophical and other Essays, Part I by R. D. Ranade, p 120)

अर्थः—"दार्शनिक का कार्य आत्मशान्ति लाभ करने के साथ ही परिसमाप्त नहीं हो जाता। उसका महत्त्वपूर्ण या मुख्य कर्तव्य है समाज में, राष्ट्र में तथा सम्पूर्ण विश्व में शान्ति तथा सामंजस्य की स्थापना करना। इस दृष्टि से यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि विश्व का भविष्य दार्शनिक के हाथों में ही है।"

फ्रान्स के सुप्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ (Henri Bergson) ने संतों को व्यापक एवं निरपेक्षनीति तथा सजीव धर्म के मूर्तिमंत अवतार कहा है। इसके विरुद्ध हैं रूढ़िगत नीति तथा रूढ़िग्रस्त धर्म जिन्हें बर्गसाँ संकुचित एवं सापेक्ष नीति तथा गतिहीन (Static) धर्म कहते हैं। श्रीबर्गसाँ के अनुसार संतों का जीवन ही उनके उपदेशों से भी अधिक प्रभाव रखता है। ("They have no need to exhort, their mere existence suffices"—The Two Sources of Morality and Religion by Henri Bergson, p. 23)। विश्वबंधुत्व सदृश महान् आदर्श इन्हीं संतों के प्रत्यक्ष आचरण की दुनिया को देन है। संतों के कृतिपूर्ण आदर्श को सामने रखकर तथा उनके अनुकरण द्वारा साधारण मनुष्य अपना जीवन ऊँचा उठा सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा हुआ लोकसंग्रह का आदर्श इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करता है। भगवान् इसके साथ ही यह भी कहते हैं कि इसीलिये समाज धुरीण पुरुषों को अपने आचरण को सब तरह से आदर्श बनाना चाहिये, क्योंकि साधारण मनुष्य उनका ही अनुकरण करते हैं :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ ३-२१

कहने की आवश्यकता नहीं कि रानडेजी इसी संतकोटि के दार्शनिक थे। उनके जीवन तथा उपदेशों द्वारा असंख्य लोगों को अपना जीवन उन्नत बनाने की प्रेरणा मिली है। हम स्वयं उनके अनेक शिष्यों से परिचित हैं जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये श्री रानडेजी के अत्यन्त ऋणी हैं। इनमें से अनेक ऐसे भी हैं जो उन्हें साक्षात् देहधारी ईश्वर से कम नहीं समझते।

श्री रानडे ने अपने 'परमार्थ सोपान' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में श्री गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में लिखा है कि यह ग्रन्थ उन्होंने 'स्वांतः सुखाय' लिखा है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि गोस्वामी तुलसीदासजी तथा रानडे जी सदृश संतों का 'स्व' व्यक्ति या परिवार तक ही सीमित नहीं हुआ करता। इनका 'स्व' 'व्यापक अहंता-कवलित' होता है। कारण, चराचर सृष्टि में ये अपना ही या अपने इष्टदेव का ही स्वरूप देखा करते हैं—सब जगत् को 'सियाराममय' देखते हैं। इनके 'स्व' में वैयक्तिक स्वार्थ का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं होता। श्रीमद्भागवत में श्रेष्ठ भगवद्भक्त उसे

कहा है जो समस्त प्राणियों में वर्त्तमान अपने सच्चे आत्मस्वरूप या भगवद्भाव को देखता है, तथा जो अपने आत्मस्वरूप या भगवत्स्वरूप में ही समस्त प्राणियों को देखता है :—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ११-२-४५

दूसरों का निस्स्वार्थ एवं निरपेक्ष हित करना संतों का ही काम है, यह उनका सहज स्वभाव ही हो जाता है। संतों के इस स्वभाव का वर्णन श्री शङ्कराचार्य ने निम्न श्लोकों में बहुत ही सुन्दर रीति से किया है।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥३६॥
अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥४०॥

—विवेक चूडामणि

अर्थ—दुस्तर संसार-सागर से स्वयं पार होकर, दूसरों को भी निष्काम भाव से तारते हुए अतिशांत महापुरुष ऋतुराज बसंत के समान लोक हित का आचरण करते हुए निवास करते हैं। (३६)

महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है कि वे स्वयं ही दूसरों के कष्ट निवारण करने में प्रवृत्त होते हैं। सूर्य के प्रचण्ड तेज से संतप्त पृथ्वीतल को चन्द्रदेव स्वयं ही शांत कर देते हैं। (४०)

श्री रानडेजी की दार्शनिक तथा आध्यात्मिक जगत् को अनेकविधि तथा चिर स्थायी देन है। इस विषय में उनके आध्यात्मिक तथा संत साहित्य विषयक ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है। उपनिषद् दर्शन पर उनका एक ग्रन्थ अत्यन्त ख्यातिप्राप्त है। भारतीय दर्शन के इतिहास की उन्होंने अनेक भागों में सविस्तर योजना बनाई थी जिनमें से कुछ भाग प्रकाशित भी हो चुके हैं। किन्तु उनकी संत-साहित्य विषयक सेवाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र संत, हिंदी संत तथा कर्नाटक के संतों पर उनके ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और प्रथम दो प्रकाशित भी हो चुके हैं। ये ग्रन्थ सर्वाङ्ग-सुन्दर तथा आदर्श रूप हैं जिनको सामने रखकर अन्य प्रान्तों के संतों के बारे में भी इसी पद्धति से सुगमता के साथ लिखा जा सकता है। हमें यह न भूलना चाहिये कि संतों के विषय में कुछ भी लिखना ऐरों-गैरों का काम नहीं है। संत साहित्य लौकिक साहित्य से अपनी विशेषता रखता है जिसे संत कोटि पर पहुँच कर ही पूरी तरह से समझा जा सकता है। कारण स्पष्ट है। इसका सम्पूर्ण विषय आध्यात्मिक अनुभूति से संबन्ध रखता है जिसे प्राप्त करना खेल नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कुछ भेदा' का सिद्धांत, कबीर साहब की 'सहज समाधि' या 'उन्मनि रहनी,' मीरा का पाया

हुआ 'राम रतन धन' और 'जोत में जोत मिलाई रे' का अनुभव, सूरदासजी के 'नयनन मांझ समानी' और 'रोम रोम उरझानी' मोहन की सुन्दर मूरति—ये सब बातें बिना स्वानुभूति के या आध्यात्मिक अनुभव की गहराई में घुसे बिना लौकिक स्तर पर शब्द मात्र रहेंगी या इन्हें गलत-सलत समझा जायगा। आध्यात्मिक अनुभव कष्ट-साध्य वस्तु है। प्रथम तो विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय द्वारा अध्यात्म के प्रवेश-द्वार तक पहुँचने का अधिकार प्राप्त करना ही कठिन बात है, फिर आगे बढ़ना तो दूर की बात रही। किन्तु गुरु कृपा-प्राप्त योग्य अधिकारी पुरुष के लिये अध्यात्म मार्ग का सम्पूर्ण रहस्य करतलामलकवत् हो जाता है। अतएव ऐसे पुरुष इसे सुगमता से समझ कर दूसरों को भी समझा दें इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। श्री रानडे इन्हीं परम भाग्यशाली अधिकारी पुरुषों में से थे। इसीलिये वे संतसाहित्य के रहस्य को इतनी सुगमता के साथ विशद कर सके। 'दुनिया के सारे संत या अध्यात्म क्षेत्र के अनुभवी व्यक्ति एक ही भाषा बोलते हैं'—श्री रानडे जी के इसी एक विधान से हम उनके संत-विषयक दृष्टिकोण को भलीभाँति समझ सकते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री रानडे जी ने अनेकानेक ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ लिखकर उनके महत्त्व को बढ़ाया है। उनके लेखों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। दूसरे अनेक लेख तथा भगवद्गीता तथा वेदान्त दर्शन पर उनके अप्रकाशित ग्रन्थ भी हैं।

अंत में श्री रानडे जी के दार्शनिक मतों के बारे में एक दो बातें लिखना अप्रासंगिक न होगा। दर्शन के क्षेत्र में हम विभिन्न वादों से परिचित हैं। श्री रानडेजी के मत को हम 'आत्म साक्षात्कारवाद' या 'आध्यात्मिक अनुभूतिवाद' कह सकते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। यह तो वही प्राचीनकाल से प्रचलित एवं उपनिषदों में प्रतिपादित 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' का सिद्धांत है। इसी का अपर पर्याय ब्रह्मविद्या है। अतएव तात्त्विक धरातल पर श्री रानडे निर्गुण-सगुण में भेद न मानें और व्यवहार भूमि पर श्रेष्ठ कोटि के भगवद्भक्त और सगुणोपासक भी बने रहें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इस रहस्य को सम्यक्तया न समझने वाले तथा आध्यात्मिक अनुभव से रहित एक पाश्चात्य सज्जन उन्हें विशिष्टाद्वैती कह बैठे! इस प्राचीन औपनिषद् दर्शन को श्री रानडेजी ने प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हुए, गुरुमुख से श्रवण करके मननादि द्वारा उसका अनुभव किया; और फिर उसे जनहित की दृष्टि से अपने विभिन्न ग्रन्थों तथा लेखों में आधुनिक तर्कशुद्ध एवं सुबोधरूप में उपस्थित किया। इस आत्मसाक्षात्कारवाद को श्री रानडेजी 'विवेक बुद्धि पर अधिष्ठित अनुभूतिवाद' (Rational Mysticism) भी कहा करते थे। पाश्चात्य दर्शन में 'Mysticism'—अनुभूतिवाद कुछ कुख्याति प्राप्त एवं अप्रतिष्ठित-सा शब्द है। किन्तु रानडेजी के मतानुसार इसमें कोई गूढ़ रहस्य नहीं। यह प्रकट विद्या है जिसके अनुभव का द्वार प्रत्येक अधिकारी के लिये खुला है। किन्तु यह अधिकार प्राप्त करना कोई खेल नहीं। इसके लिये सम्पूर्ण जीवन को पूर्णतया नीतिमान् एवं सदाचार-सम्पन्न बनाना पड़ता है; उसे

परमार्थ-प्रवण करना पड़ता है; ईश्वर-भक्ति तथा नाम-जप जैसे योग्य साधन का श्रद्धापूर्वक तथा दीर्घकाल तक अवलंब करना पड़ता है। इस प्रकार योग्य दिशा में प्रयत्न करने पर तथा सद्गुरु की कृपा होने पर इसी जन्म में मनुष्य आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार तक पहुँच सकता है। इस बात को रानडेजी स्वानुभव के बल पर अधिकारवाणी से कहा करते थे। श्री रानडेजी के अनुसार प्रातिभज्ञान (Intuition) आध्यात्मिक अनुभव का प्रधान साधन है। किन्तु यह साधन हमारी बुद्धि, भावना या इच्छा का विरोधी नहीं। इन तीनों को उसमें अवकाश है। फिर भी केवल तीनों से काम नहीं चलता। इसके साथ ही प्रातिभज्ञान (Intuition) की विशेषतः आवश्यकता है।[१] इसके द्वारा साधक को शब्दातीत, अनिर्वाच्य, पराकोटि के आनन्द की प्राप्ति होती है, आत्म-प्रतीति ही इसकी सबसे बड़ी कसौटी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रानडेजी ने अपने जीवन में सच्चे भारतीय दार्शनिक के आदर्श का पूर्णरूप से निर्वाह किया। विशेषता तो यह है कि गृहस्थाश्रम की मर्यादा में उन्होंने यह सब करके भारतीय दर्शन पर प्रायः दिये जाने वाले पलायनवाद (escapism) के आक्षेप को झूठा सिद्ध कर दिया। बाह्यतः सीधा-सादा जीवन आंतरिक या आध्यात्मिक दृष्टि से कितना उदात्त तथा समृद्ध हो सकता है—इस बात की शिक्षा हमें श्री रानडेजी के जीवन से मिलती है। साथ ही हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्य यदि अपनी निसर्गप्रदत्त शक्तियों का अपव्यय न करके उन्हें अध्यात्माभिमुख कर दे तो वह एक ही जन्म में अपना स्वयं पूर्ण उद्धार करके दूसरों का भी आध्यात्मिक कल्याण कर सकता है। कहा है न, 'नर करनी करे तो नर का नारायण होय।'

—:०:—

[१] "......Intelligence, Will, and Feeling are all necessary in the case of Mystical endeavour; only intuition must back them all."

—Contemporary Indian Philosophy p. 559

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्

डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष दर्शन एवं मनोविज्ञान
विभाग, महारानी श्री जया कालेज, भरतपुर

प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के द्वार पर एक बड़ी काली कार मन्द गति से आकर अचानक रुक गई। चपरासी ने व्यग्रतापूर्वक उठकर कार का दरवाजा खोला। सिर पर मराठी लाल पगड़ी, पैर में पिचकी ऐड़ी का मराठी लाल जूता और बदन में कोट और धोती पहने तथा गले में सफेद दुपट्टा डाले एक अल्पकाय पुरुष वेगपूर्वक कार से निकला और शीघ्रता से दर्शन विभाग के कक्ष में प्रविष्ट हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो काली कार के काले बादल से निकल कर बिजली के समान एक कृश किन्तु तेजस्वी काया एक क्षण झलक कर अन्तरिक्ष में विलीन हो गई।

प्रोफेसर रानडे के चमत्कारी व्यक्तित्व का यह प्रथम और सामान्य दर्शन था। विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और दर्शनाभिलाषी आगन्तुक इसी रूप में इनका प्रथम परिचय पाते थे। विद्युत के समान तेजस्वी और दीप्तिमान व्यक्तित्व के इस प्रथम दर्शन से कोई भी अपरिचित सहसा चमत्कृत हो जाता था। चमत्कार के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में एक ऐसा अद्भुत आकर्षण था जिससे प्रेरित होकर प्रत्येक दर्शक उनका निकट सम्पर्क और परिचय पाने की इच्छा करता था। सन् १९३८ में दर्शन विभाग में प्रवेश करने के बाद मुझे भी ऐसा ही अनुभव और कौतूहल हुआ।

अंग्रेजी की एक कहावत है कि अधिक परिचय होने पर मनुष्यों के सम्बन्ध में अवज्ञा पैदा होने लगती है। प्रोफेसर रानडे लोक व्यवहार के इस नियम के एक अपवाद थे। उनके व्यक्तित्व में निरन्तर आकर्षण और विस्मय का एक ऐसा अक्षय स्रोत था कि दीर्घ सम्बन्ध में भी मनुष्य के कौतूहल का अन्त न होता था। नित्य नवीन तत्वों के उद्घाटन के अर्थ में उनके व्यक्तित्व को हम रहस्यमय भी कह सकते हैं। किन्तु कूट और दुर्ग्राह्य होने के अर्थ में वह रहस्यमय न था। गम्भीर होते हुए भी उनका व्यक्तित्व सरल था। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में इनके व्यक्तित्व को शंकराचार्य के शारीरक भाष्य के समान "प्रसन्न गम्भीर" कह सकते हैं। शारदीय नर्मदा के प्रवाह के समान उनका जीवन स्वच्छ गम्भीर और वेगवान था। दुराव और दूरी के द्वारा व्यक्तित्व के आकर्षण को बनाये रखना सम्भव है। किन्तु सरल और मुक्त व्यवहार में भी

निरन्तर आकर्षण और आनन्द बनाये रखना प्रोफेसर रानडे के व्यक्तित्व का एक अद्भुत चमत्कार था।

वस्तुतः उनका व्यक्तित्व उपनिषद् के "पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" का जीवन्त उदाहरण था। चाय और योग पर अपने दीर्घ जीवन के लगभग उत्तरार्द्ध को व्यतीत करने वाले इस दार्शनिक और सन्त के जीवन में बालकों की सी स्फूर्ति और इनकी ही सरलता, कौतूहल, विनोद, विस्मय आदि का अनन्त स्रोत प्रवाहित था। शरीर से वे कृश थे किन्तु उनके मुख पर आध्यात्मिक प्रतिभा का अद्भुत तेज विभासित होता था और नेत्रों में बाल-सुलभ सरलता के साथ एक अद्भुत रहस्य की दीप्ति आलोकित रहती थी। स्वभाव के समान ही उनका व्यवहार और रहन-सहन भी सरल था। वेश-भूषा, निवास, सज्जा आदि किसी में भी उन्होंने अपने पद और वेतन के अनुरूप ठाट-बाट को स्थान नहीं दिया। उनके प्रतीक्षालय में एक ओर चार बाँस की बनी हुई मेज कुर्सियाँ आगन्तुकों के लिए पड़ी रहती थीं और दूसरी ओर एक पाट के फर्श पर दस पाँच विद्यार्थियों के आसन लगे रहते थे। घर के भीतर जिस कमरे में बैठकर वे प्रायः आगन्तुकों से मिला करते थे वह सरलता का नमूना था। उस सज्जाहीन शून्यकक्ष के एक कोने में सफेद गाढ़े की कमीज पहन कर पाट के स्वच्छ फर्श पर बैठे हुए इस अल्पकाय महापुरुष का दर्शन करके किसी भी विवेकी आगन्तुक को बौद्ध माध्यमिकों के शून्य और अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म की समानता अथवा उनका अन्तर सहज ही समझ में आ सकता था।

उनके बाह्य वेष, रहन-सहन और व्यवहार की यह सरलता उनके स्वभाव की उस बाल-सुलभ सरलता का प्रतीक मात्र थी जो उपनिषदों के अनुसार आध्यात्मिक पांडित्य की पूर्णता का लक्षण है। बालकों की अबोध सरलता के समान निश्छल, निर्मल और नम्र इस आध्यात्मिक सरलता का राजकमल पांडित्य के परिपूर्ण सरोवर में विकसित होता है। पांडित्य के अहंकार की सहज विजय अध्यात्म के अनन्त आनन्दलोक का द्वार है। इसी द्वार से प्रवेश करके प्रोफेसर रानाडे अपने दीर्घ जीवन के उत्तरार्ध में एक सहज भाव से अध्यात्म के इस आनन्दलोक में निरन्तर प्रतिष्ठित रहे। जो अवस्था साधना के मार्ग में किसी सौभाग्यशाली को अल्पकाल के लिए प्राप्त होती है वह अवस्था उनकी सहज और नित्य स्थिति बन गई थी। आध्यात्मिक उल्लास का जो उत्स किसी साधक के जीवन में दुर्लभ सिद्धि के रूप में कदाचित् उदय होता है वह उनके जीवन का एक सहज और निरन्तर प्रवाह बन गया था। जीवन्मुक्ति के समान आध्यात्मिक आनन्द और व्यवहार के अद्भुत समन्वय से पूर्ण उनका जीवन आकाश के समान मुक्त तथा नित्य नवीन रहस्यमय रूपों के आनन्दमय उद्घाटन का अक्षय आगार था।

बाल-सुलभ सरलता के साथ-साथ एक दार्शनिक की गम्भीरता और एक सन्त

की भावुकता का यह् जीवन प्रोफेसर रानडे की एक सहज और नित्य स्थिति बन गया था। एक नीरस निर्वेद के समत्व के विपरीत एक अत्यन्त सरस और उल्लासमय समत्व उनका स्वभाव था। इसीलिये सर्वकाल और सर्वत्र वे एक ही मनःस्थिति अथवा भाव-दशा में रहते थे। उदासीनता और आवेग के अवरोह-आरोह उनके जीवन-संगीत के एक स्थायो सम में बिलीन हो चुके थे। उनकी वेष-भूषा, रहन-सहन और दिनचर्या की एकरसता इनके आन्तरिक और आध्यात्मिक जीवन की समरसता का एक बाह्य प्रतीक मात्र थी। आध्यात्मिक भाव स्रोतों की नित्य नवीन तरंगे इस समरसता के पटल को अभिनव उल्लासों से आन्दोलित कर कौतूहल और विस्मय के अनन्त इन्द्रधनुष रचती रहती थीं। इस प्रकार बाहर से एकरूप और समरस दिखाई देने वाला इनका जीवन उनके लिये तथा इनके सम्पर्क में आने वाले लोगों के लिये नित्य नवीन रहने वाले उल्लास और आनन्द का अक्षय स्रोत बन गया था।

उनके इस आन्तरिक उल्लास का प्रसार जीवन की सभी दिशाओं और व्यवहार के सभी रूपों में रहता था। उनकी यह स्थिति इतनी आत्म-निष्ठ थी कि उसे उपनिषदों के शब्दों में ब्रह्म के तेज के समान अपनी ही महिमा में (स्वएव महिम्नि) प्रतिष्ठित कहा जा सकता था। वस्तु, विषय, अवसर आदि की महिमा पर उनके उल्लास की महिमा अवलम्बित न थी। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बात उनके लिये समान रूप से कौतूहल, विस्मय और उल्लास का कारण बन जाती थी। छोटी-छोटी बातों और वस्तुओं की महत्ता और आनन्दावगाहिनी क्षमता देख कर उनके सम्पर्क में आने वाले आनन्द का मर्म समझ सकते थे। वस्तुतः आनन्द वस्तुनिष्ठ नहीं एक आत्मनिष्ठ तत्व है। जीवन में बड़ी बातें कम होती हैं अतः छोटी-छोटी बातों को आनन्द का निमित्त बना कर जीवन को आनन्दमय रूप दिया जा सकता है।

जिस प्रकार वेअपनी आत्मा से महिमा के द्वारा छोटी से छोटी वस्तु को महिमा से मण्डित कर देते थे उसी प्रकार उनके सम्पर्क में आते ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में एक अपूर्व उत्थान का अनुभव होता था। गुण-ग्राहकता उनका एक महान गुण था। वे गान्धी जी के समान अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों की विशेषताओं को बड़े विवेकपूर्वक समझते थे। प्रत्येक मनुष्य के श्रेष्ठ गुण और उसकी उत्तम सम्भावनायें उनकी प्रशंसा का मुख्य विषय होती थीं। सब की प्रशंसा और सबका प्रोत्साहन एक प्रकार से उनका स्वभाव था। किन्तु उनकी प्रशंसा मनुष्य को प्रसन्न करने के लिए नहीं वरन् प्रोत्साहन और पथ-प्रदर्शन प्रदान करने के लिए होती थी। इसीलिये यह प्रशंसा मनुष्य को मिथ्या अभिमान पैदा करने के स्थान पर उसे उन्नति के लिये प्रोत्साहित करती थी। मनुष्य के श्रेष्ठ गुणों के उद्घाटन के रूप में होने के कारण यह प्रशंसा मनुष्य को अज्ञानमय अभिमान के स्थान पर उज्ज्वल आत्मबल और सजग उत्साह प्रदान करती थी। उनकी प्रशंसा से जाग्रत और प्रेरित होकर न जाने उनके

कितने शिष्यों ने अपने श्रेष्ठ गुणों के उत्कर्ष और उपयोग के द्वारा अपने जीवन की उत्ताम सम्भावनाओं को सफल बनाया है।

अपने श्रेष्ठ गुणों का बोध आत्मज्ञान की नैतिक भूमिका है। व्यावहारिक जीवन की सफलता के अतिरिक्त सद्गुणों का बोध आध्यात्मिक साधना का भी पथ प्रशस्त करता है। सभी में कुछ सद्गुण होते हैं किन्तु बहुत कम लोग उनको समझ कर उनका सदुपयोग और उत्कर्ष कर पाते हैं। जीवन के श्रेष्ठ पक्ष को प्रकाश में लाकर तथा उसे एक स्फूर्तिमय प्रेरणा देकर वे प्रत्येक व्यक्ति के लिये सहज ही एक सद्गुरु बन जाते थे। सत्व का गौरव रखने वाला और दूसरों के सत्व को जाग्रत करने वाला ही सच्चा सद्गुरु है। जिस बाल-सुलभ सरलता और सद्भावना के साथ वे मनुष्य के सद्गुणों का उद्घाटन करते थे उसे देख कर किसी को भी उपनिषदों के सद्गुरु सनत्-कुमार का स्मरण हो आना स्वाभाविक था। नारद के समान समस्त शास्त्रों में पारंगत विद्वान को भी जीवन के शोक से मुक्ति पाने का आनन्दमय मन्त्र उनसे प्राप्त हो सकता था। वस्तुतः उनका जीवन एक स्नेह-भरे और देदीप्यमान दीपक के समान था जिसका सम्पर्क पाकर किसी का भी जीवन-दीप प्रज्वलित होकर आलोकित हो उठता। बाल सुलभ में पांडित्य को पूर्ण बना कर आन्तरिक उल्लास के समभाव में सर्वदा स्थित रहने वाले इस महान् दार्शनिक और सन्त के जीवन में इतनी स्फूर्ति और इतनी प्रेरणा थी कि उनके थोड़े से भी सम्पर्क में आकर कोई भी व्यक्ति एक अत्यन्त सफल और सार्थक जीवन के लिये ज्योति और जागरण प्राप्त कर सकता था। स्फूर्ति, आलोक, जागरण और प्रेरणा प्रदान करने वाले ये महान् सद्गुरु प्रातः सूर्य के समान वन्दनीय थे।

आत्मनिष्ठ आनन्द से पूर्ण होने के कारण उनका जीवन व्यावहारिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र था। जिस प्रकार बाहर से देखने पर उनके जीवन में समरसता दिखाई देती थी उसी प्रकार उनकी जीवनचर्या में भी एकरूपता थी। उसमें कुछ ऐसे नियम दिखाई देते थे जिनका वे कदाचित् जीवनपर्यन्त पालन करते रहे। किन्तु इनके इस नियम-पालन में एक अद्भुत स्वतन्त्रता थी। नियमों के दास न बनकर वे नियमों के स्वामी थे। नियमों का अनुशीलन करते हुये भी उन्होंने अपनी जीवन-विधि को स्व-तन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत बना रखा था। जिस प्रकार उनके जीवन की एक रसता में उल्लास और आनन्द के नव-नव उत्स उमड़ते रहते थे उसी प्रकार उनकी दिनचर्या की एकरूपता में भी नवीनता और स्वतंत्रता के स्रोत तरंगित होते थे। प्रातः सायं मैदान में विहार और ध्यान के लिये जाना दैनिक नियम था। उनका नियम पालन इतना सूक्ष्म और कठोर था कि जिस पेड़ के नीचे स्थिति में आकर उनकी मोटर खड़ी होती थी उसी स्थान और स्थिति में उसे रोज खड़ा होना पड़ता था। अक्षपाद के चरणों के समान उनका समस्त शरीर एक अद्भुत दृष्टि और संवेदना से पूर्ण था। तनिक सा

भी अन्तर उन्हें दिखाई देता था। किंतु इतनी नियमितता में भी इतनी स्वतंत्रता थी कि वे अपने भ्रमण और ध्यान के दिशा-काल को कभी भी इच्छानुसार बदल देते थे। समय और नियम के वे इतने स्वतंत्र स्वामी थे कि विश्वविद्यालय आने का भी उनका कोई निश्चित समय न था। जिस प्रकार बाल-सुलभ सरलता और उल्लास में पांडित्य की परिणति उनके जीवन में हुई थी उसी प्रकार नियमितता और स्वतन्त्रता का एक अद्भुत समन्वय भी उनके जीवन में चरितार्थ हुआ था।

दर्शन और अध्यात्म के अन्तगामी तत्वों का सरलतापूर्वक उद्घाटन करने वाले तथा जीवन के महान रहस्यों को सहज ही प्रकाशित करने वाले ज्योर्तिदीप सद्गुरु को शत-शत बार प्रणाम है। निर्वाणलीन होकर भी उनकी आत्मा का अमृतालोक अमृत और आनन्दमय जीवन का चिरन्तन प्रकाश है।

———

IN SEARCH OF LIGHT

(In Memory of Guru deva Prof. R. D. Ranade, the Saint of Nimbal)

I went to Him with soul a-thirst
For nectar from his ruby lips ;
He came to me and always comes
And makes me drink his nectared looks.
He knew me and my sister bright[1]
In our golden days of innocence ;
He said, "I loved you more than most
For your souls were transparently pure".
He truly said. I went to Him to ask His blessings
On my Sire's sad demise[2]
(Who died in harness ; a soldier-Saint
of Truth, fighting untruth and ignorance.)
Gurudeva said, "You are children of Love and Truth
For your parents worshipped Love and Truth
And nothing else ! Fear not, for God looks after you."

*** *** *** ***

I went to Him when He had found
His Pathway unto God. The Hall[3] was full ;
And His Voice was like the Thunder
Of the Ocean of Eternity. He had made
A science of Experience reaching God.
In the intense crucible of His soul he tested
Life and circumstance, and found the Truth
Between the angles and the corners and the chinks
Of thought and thought ! He said :
"Material life and the body of Man

1. In 1914, 2. In 1923. 3. Lady Ramabai Hall, Poona, S. P. College,

Are ripples on the Ocean of Eternity.
Life and Body are not the Ocean
But the ocean is in the life of Everyman : "
He then explained how the Spider-soul
Lives in the Cobweb that he is made to make.
He moves on here and there within the web
Along its warp and woof. But he lives
Most joyously in the Cobweb's roof
Which is found in the inner centre
Of the thousand-petalled lotus[4] woof
Atop the brain. This top is reached
By Consciousness which spirals upwards
From the root[5] to the solar plexus[6] and thence the throat[7],
From cardiac centre[8] till it reaches the mid-brow space[9]
From
Mid-brow space the transition to brain's central lotus is
steep and narrow.
This is the path of the razor's edge, needle's eye -
Through which the Ego-Elephant can't
Enter to drink the clear nectar water
Of the Manasa lake, mixed with moonlight
And star light, cool, soft and sweet. 'Tis only
When you find a Teacher-God and when
He looks benignly on your inner soul
To wash it clean and showers His infinite mercy
On your finite self-Then your soul expands
And bursts into infinity, breaking the bonds
Of Samsara. Then the ground is ready
And the seed is sown, and Grace is granted unto you.
When the lofty glance-angle of the Guru's gaze
Picks up your diamond soul from the heap of dust.
Then your soul burns bright, you realize

---

4. The Sahasrar Padma. 5. Mooladhara, 6. Svadhishthana, 7. Manipur.
8. Vishuddhi, 9. Ajny chakra etc.

What Life is and what Love is
Which are neither matter nor energy nor mind,
Atom nor proton nor neutron, but
Something far more bright and far more subtle—
Something which makes the light of the sun and moon
And the million shining stars, and the Milky Way
And Earth and Clouds and the rainbow's colours and
Beauty and Truth and Joy and Life and Love.
This realization is your reward of the upward climbing steep
And inspiration[10] deep. It comes when you catch
By the callipers of your inspiration and expiration
The subtlest ether-essence of your "you-ness" ;
Your "you-ness" and my 'me-ness'
Are between the acute angles and the corners and the chinks
Of thought and thought and breath and breath." He said

*** *** ***

I went to Him in meekness[11]
When He was bound for the North ;
(I took my friends with me for witness)
He called me near Him, an inch or two
Of space alone divided Him from me.
I offered Him incense sweet and golden lemon
And star-white garland of the freshest Mogra flowers
I was all eagerness to drink his Form and fix it in my soul[12]
As the lotus drinks the sun's rays. But lo !
'Twas He drank me up with his Form soul-filled eyes[12]
And left not a drop behind, till drop and Ocean were unified :
He looked at me with his infinite gaze
And He poured Infinity into my soul.

---

10. Pranayama with Varieties of Kumbhaka, Rechaka, Pooraka.
11. In Feb 1957 at Nimbal. 12. Amrita Drishti of the Saint with focus at infinity.

It was the Mother's gaze on the hungry calf
That had doubted and feared and fumbled and trembled
and stumbled
And cried and sufferred long !
Fixing His mid-brow gaze on me
In time as long as eternity
He said : "Fear not, have no anxiety
For Yogakshema ; I fix in Thee
The spiral stair-case of bright gold
By which thou shalt climb
From Thy root-force to Brahmi state !"
He then made my corruption take on
Incorruption ; my imperfection take
On perfection. He said, bathing me with tears—
"My Child ! Much hast Thou wandered, long suffered much ;
Lost much ; lost Thy sons and all !
Now are all thy seeds of passion burned
To pop-corn ; Thy soul is fried
Thy soul is tried and freed-
For the seeds and deeds of Immortality
To be sown on Thy ripe field. Rejoice
You came, and worship Him through me.
Thy Night of Ignorance is done. The golden light
Of the rising sun is a-shine on you.
Thy muscles and flesh and veins and nerves
Are purified in fire and now Thou shalt
Travel on by the Pathway to God. "Thou shalt not return."
Then lo ! if by hands unseen
My "me-ness" was united with the Over-soul ;
Then I felt this world was a garden of Joy—
All its water was holy water
All trees were holy trees
All words were the Gospel of God
And all birds were angles of His grace

And all that I ate and drank
Was His holy eating and drinking.
He said—
"There is no going beyond His circumference[13]
All are centres of His great circle.
All Paths the radii, all relations the ratio
Between His radius and His circumference—
But He circumference hath none.
His boundary is infinity; his bounty boundless;
And focussed in Love, the soul looks on
And touches His infinity.
Then Love is where Death is not
As the Rose is where the worm is not;
And Death is where Love is not;
And doubt is where God is not;
And the ebb and the flow of the Ocean of Love
Is Death and Life aud Doubt and Faith in Man."
And then like the murmur of golden bees above
His golden words I heard and locked
Them up in my soul:
"Always, night and day
From Golden Dawn to milk-white night
Climb step by step the spiral ladder
And by breath-control through name of God
Adjust the pulley system of the Vayus[14] in you
To perfect balance. This achieved
Pierce a hole in the velvet-screen of the Bhutas within
And gain an inner focus. Through it behold thy soul.
As the Manasa lake atop the Himalayas
Reflects the star-spangled sky
And the Golden pitcher of the rising sun,
So, through the pin-hole screen-hole Thou shalt behold

---

13. Vide Prof. Damle's articles in Kesari: Sept—Oct 1957. 14. By Pranayama and Japa of God's name.

In Thy inner soul the golden bowl of nectar.
Drink deep that nectar ; meditate on that orange light
And make Thyself bond-free."
As the night sky gathers white clouds around
The moon's bright bowl of gold,
So I gathered his winged words
Around my soul's centre of Truth.
Now, life and death are no more to me
Than light and shade as children play on Kartik nights.[1]
And Love has filled my soul and I see His face
In all that I see and love.

SHOLAPUR N. P. GUNE.

Wednesday, 4th Sept. 1957.

15. The game is known as पटपटसापटी in Marathi.

प्रकाश की खोज में ?*

निम्बाल के सन्त, गुरुदेव प्रो० रा० द० रानडे की स्मृति में

उनके समीप गया आत्मा की प्यास लेकर,
लेने सुधादान उनके पाटलोपम अधरों से,
आये समीप मेरे और सदा आते हैं,
अमृत - कटाक्षों की धारा बरसाते - से,
जानते थे मुझे, मेरी भगिनी तेजस्विनी को,
स्वर्णिम दिवसों में हमारे भोलेपन के,
बोले, "बहुतों से अधिक तुम प्रिय हो हमारे,
आत्मायें हैं तुम्हारी विशुद्ध स्फटिक - सी",
सत्य ही कहा था। गया लेने आशीष उनसे,
अपने पिता की दुःखद मृत्यु पर,
दिवंगत हुए जो कार्य-रत रहते,
योद्धा-सन्त सत्य के, बैरी अज्ञान के, असत्य के।

× × × ×

उनके समीप गया जब कि पा चुके थे वे,
ईश्वरार्थ मार्ग अपना। भरा था विशाल हाल,
वाणी उनकी थी अनन्तता के वारिधि की गर्जना-सी।
खोज कर चुके थे दिव्यानुभूतियों की विद्या की।
अपनी आत्मा की गहन कसौटी पर,
बार-बार परखा परिस्थिति को, जीवन को,
और पाया सत्य; विचारों की वीथिका में कोने में,
बोले वे "मानव का शरीर और जीवन-जड़ उसका,
क्षुद्र तरंगे हैं अमरता के जलधि की,
प्राण औ' शरीर नहीं स्वयं समुद्र हैं,
किन्तु है समुद्र जन - जन के जीवन में!"
और समझाया कैसे आत्मा की मकड़ी,
बुनती है जाल जो कि उसको बनाना है,

---

* काव्य-सरलता की रक्षा के लिये मूल के साथ छायाकार ने कुछ स्वतन्त्रता ली है जिसका दायित्व उस पर ही है—छायाकार

घूमती है इधर - उधर जाल के ही भीतर,
ताने-बाने पर। किन्तु वह रहती है,
अतिशय आनन्द से, जाल के शिखर पर,
जो कि स्थित है अन्तरंग केन्द्र में,
सहस्रार पद्म के, ब्रह्मरन्ध्र-अन्तर्गत।
उठती है चेतना, इस मस्तिष्क के शिखर तक,
मूलबन्ध से पहुंचती है स्वाधिष्ठान, औ' फिर मणिपूर तक,
फिर हृत्केन्द्र से पहुंचती है आज्ञाचक्र,
इससे ब्रह्मरन्ध्र तक का मार्ग है घोर कठिन,
छुरे की धारा-सा, सूचिका के छिद्र-सा,
जिससे प्रवेश कर सकता नहीं जीव-गज,
पीने हेतु निर्मल जल मानस की झील का,
मिश्रित शुभ्र ज्योत्सना-से, तारक आलोक-से,
शीतल, मृदु, कोमल जल।
सम्भव तभी यह जब मिले गुरु ईश्वर-सा,
देखे अन्तरात्मा में करुणा से, कृपा से,
कर दे विशद उसे अजस्र दया-धारा से,
आत्मा तुम्हारी करेगी प्रसार तब,
मग्न हो निमज्जित हो जायेगी अनन्तता में,
तोड़ कर बन्धन संसार के। होगी तैयार भूमि,
बीज के वपन-हेतु, मिलेगा प्रसाद तब।
जबकि उदात्त कटाक्ष-पात गुरु का,
हीरक-सी आत्मा उठा लेगा धूल से।
तेजोदीप्त होकर ज्वलन्त होगा जीव तब,
समझोगे क्या है मर्म जीवन का प्रेम का,
जो है नहीं जड़ पदार्थ, नहीं शक्ति, नहीं मन,
नहीं अणु, प्रोतन नहीं और नहीं न्यूट्रन भी,
किन्तु कुछ अतिशय दीप्ततर, सूक्ष्मतर,
जिससे निर्मित है प्रभा भानु की, सुधांशु की,
अनन्त नक्षत्रों की, दिव्य स्वर्गङ्गा की,
वसुधा की, मेघों की, सुरधनु के रंगों की,
और सौन्दर्य की, सत्य-आनन्द की, जीवन औ' प्रेम की।
यह है प्रसाद' तुम्हारे उच्च आरोहण का,
गहन प्राणायाम का। "करोगे प्राप्त इसे,

प्राणों के आरोहावरोह - रूपी धागों से,
बांध लोगे जब निज सूक्ष्म-वायवीय 'युष्मत्ता' को;
तुम्हारी 'युष्मत्ता' और मेरी 'अस्मत्ता' ही,
बन कर दीवारें खड़ी हैं, हमारे औ' तुम्हारे,
विचारों और प्राणों बीच", बोले वे,
× × × ×
उनके समीप गया नम्रता - भरित हो
जा रहे थे जब वे उत्तर की ओर,
ले गया साथ अपने मित्र जो साक्षी थे—
मुझको बुलाया पास, थोड़ा व्यवधान था
मेरे औ' उनके बीच, दिया मधु-अर्घ्य उन्हें
स्वर्ण-निर्मित नीबू-फल, तारक-धवल माला एक
अम्लान मोगरा कुसुमों की, मैं था उत्कंठित अति
करने पान उनका रूप, अंकित कर आत्मा में;
पी लेता वारिज ज्यों किरणें अंशुमान की
किन्तु आश्चर्य ! वही पी गये मुझको
आत्म-पूर्ण नेत्रों से, छोड़ी नहीं एक बूँद
जब तक न बूँद और वारिधि मिल एक हुए।
डाली दृष्टि मेरी ओर भरी जो अनन्तता से
आप्लावित कर दी असीमता से आत्मा मम,
यह थी दृष्टि माता की क्षुधित निज वत्स पर
जो था सन्देहग्रस्त, भय-ग्रस्त, कम्पित - सा
भूलता, भटकता, ठोकरें खाता हुआ
रोता हुआ दीर्घकाल तक जो दुखी रहा।
देखा मुझे ध्यान से भृकुटि-मध्य दृष्टि डाल।
कुछ काल तक जो था बस कालातीत,
बोले वे "डरो मत, चिन्ता की बात नहीं,
होगा वहन योग-क्षेम, करता हूं स्थापित तुम में
सोपान-मार्ग चक्राकार तेजो-दृप्त स्वर्णका
जिसके द्वारा होगा आरोहण तुम्हारा
कुण्डलिनी-शान्ति-केन्द्र से ब्राह्मी-स्थिति तक।"
मेरी भ्रष्टता को रूप दिया फिर पवित्रता का
मेरी अपूर्णता बनाते हुये पूर्णता।
बोले वे, करते हुये मुझे अश्रु धारा-स्नान

"मेरे वत्स ! भटके तुम बहुत, दुखी रहे चिरकाल तक,
खोया बहुत; खोये पुत्र अपने औ' सर्वस्व ही।
हो चुके हैं भस्मसात् बीज सब विकारों के
समूले, आत्मा तब जल कर पवित्र हुई—
हो गई मुक्त, कसी जा चुकी कसौटी पर
क्षेत्र तैयार है पूर्ण अब वपन-हेतु
तुममें, अब बीज और कार्य अमरत्व के।
होकर आनन्दित पूजा करो उस ईश की
मेरे द्वारा, गहन-तमिस्रा अज्ञान की,
गत हो चुकी है, औ' बरस रही तुम पर
स्वर्णाभा अरुण, तरुण बाल-रवि की।
तुम्हारी मांसपेशियाँ, शिरायें औ' धमनियाँ
हो गईं अग्निपूत, करोगे प्रयाण अब
ईश्वर के मार्ग पर, जहाँ से प्रत्यागमन नहीं।
कैसा आश्चर्य ! मानो अदृष्ट करों द्वारा
मेरा 'ममत्व' एकाकार हुआ 'महत्' से
और पाया जगत् यह प्रफुल्लित उद्यान-सा—
जिसका समस्त जल अतिशय पवित्र था
जिसकी तरु-राजि मानो मूर्ति थी पवित्रता की
सभी शब्द लगे मुझे दिव्य सन्देश-से
और थे विहंग सब दिव्य-कृपा-दूत-से

बोले वे—

"उस परमेश की परिधि परे गमन नहीं
सभी हैं केन्द्र उस विराट् वृत्त के।
सभी मार्ग अर्धव्यास और सम्बन्ध सभी
हैं सम्बन्ध उस व्यास और' परिधि बीच—
किन्तु स्वयं वह ईश है परिधि-हीन।
सीमा उसकी है असीमता, और कृपा सीमातीत;
प्रेम में केन्द्रीभूत होकर ये आत्मा
छू लेती छोर है उसकी असीमता के।
प्रेम है वहीं जहाँ नहीं मृत्यु है
है गुलाब वहीं जहाँ नहीं कीड़े हैं
मृत्यु है वहाँ जहाँ नहीं प्रेम है
शंका वहाँ है जहाँ नहीं ईश्वर है

प्रेम के समुद्र का उतार औ' चढ़ाव ही
मरण और जीवन है, शंका और श्रद्धा है मानव में।"
और फिर स्वर्ण-मक्षिकाओं के गुंजन-तुल्य
सुने ये शब्द मैंने और पाया उनको
चमकते हुये - से अपनी अन्तरात्मा में :
"सदैव ही दिवस - रात्रि,
स्वर्णिम प्रभात से दुग्ध-धवल रजनी तक,
क्रमशः आरूढ़ रहो इस सोपान पर,
श्वास-नियन्त्रण से और ईश-नेम द्वारा
कर लो पूर्ण सन्तुलित निज वायु-संस्थान
पंच महाभूतों की रेशमी-यवनिका में
कर लो एक छिद्र जिससे अन्तरंग आभा की
पा सको झलक, प्रतिबिम्ब निज आत्मा का।
जैसे हिमालय के शिखरों पर मानस-झील
करती प्रतिबिम्बित है तारकित गगन को
स्वर्ण-कलश सदृश उदीयमान अरुण को
वैसे ही भूतों की यवनिका के रन्ध्र में
पाओगे दर्शन अमृत-पूर्ण स्वर्णघट का
अपनी अन्तरात्मा में, आकण्ठ करो सुधा-पान
करते हुए चिन्तन उस दिव्य स्वर्णाभा का
कर लो स्वयं को शुद्ध, बुद्ध, बन्धन-मुक्त।"
जैसे नैश-गगन में बिखरे हुये श्वेत मेघ
घेर लिया करते हैं सुनहले शशि-कलश को
वैसे ही प्रवहमान उन दिव्य-शब्दों से
मैंने घेर लिया आत्मस्थ सत्य-केन्द्र को।
और अब, मेरे लिये जीवन औ' मरण हैं
छाया औ' प्रकाश के खेल जिन्हें बालक गण
खेलते हैं कार्तिक की उजियाली रातों में।
कर दिया प्रेम ने आत्मा को ओत-प्रोत
देखता हूँ सबमें उनके ही मुख को
जो कुछ भी देखता हूँ जिसे प्यार करता हूँ।

छायाकार

सुरेशचन्द्र दीक्षित एम० ए०
अग्रवाल डिग्री कालेज, इलाहाबाद।

निम्बल के महान् रहस्यवादी दार्शनिक-सन्त

डा० पी० डी० खनोलकर एम० डी०, सिविल सर्जन, शोलापुर

डाक्टर रा० द० रानडे ने, जो एक महान रहस्यवादी दार्शनिक थे और उत्तर व दक्षिण के बहुत से सतसंगियों के सद्‌गुरु भी थे, बीजापुर जिले के निम्बल ग्राम में अपने आश्रम में, जो बीसों साल से साधकों और भक्तों के लिये एक मात्र सुविधाजनक स्थान था, ता० ६ जून १९५७ को समाधि ली और इस प्रकार उनके बहुत से शिष्यों पर एक महान अन्धकार-सा छा गया। ऐसे लोगों में से मैं भी एक हूँ, जो उनको इतने दिनों तक केवल सद्‌गुरु ही नहीं किन्तु पिता-तुल्य आदर व सम्मान भी करते रहे। डा० रानडे बालक-जैसी साधारण प्रकृति के मनुष्य थे। परन्तु उनके सत्संग करने का ढंग इतना सुन्दर व उत्तेजनाजनक था कि जो भी साधक या मनुष्य उनके निकट आया अत्यधिक प्रभावित हुआ। वे अपने शिष्यों और साधकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते थे। वे संसार की वस्तुओं को भूल कर सदैव ब्रह्म अर्थात् परम की आज्ञानुसार क्रियायें किया करते थे। इस प्रकार वे परम में विलीन थे। उनका साधकों की समस्याओं को हल करने का एक निराला ही ढङ्ग था जो नित्य नवीन था। अपने साधकों की मानसिक तथा संसारिक भलाई पर ध्यान देना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। इस प्रकार उनमें बहुमुखी उदारता भरी हुई थी और इसी कारण वे सर्वप्रिय थे।

जुलाई १९५६ ही से डा० रा० द० रानडे धीरे-धीरे संसारिक वस्तुओं से दूर होने लगे और मार्च १९५७ से सारी वस्तुओं से अचेत हो कर संसार से बिलग हो गये। इसी बीच उनको बड़े जोरों का बरानकितिस (Bronchitis) हो गया जो कि बढ़ कर भयानक Bronchiectasis हो गया। उन्होंने शमक अवलेह (Sedative linctis) के अतिरिक्त कोई दूसरी प्रकार की दवा लेने पर कोई ध्यान न दिया जिससे कि ध्यान-मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न न हो। जीवन-काल में ऐसे भी अवसर आए जब उनकी दशा गम्भीर हुई तथा चिकित्सक और अन्य निकटवर्ती लोग उनके जीवन के लिये चिन्तित हुये, पर आश्चर्य की सीमा न रही जब गुरुदेव अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा डाक्टरों को चकित करते हुए पूर्णतया स्वस्थ होने में सफल हो गए।

३० अप्रैल १९५७ को श्री गुरुदेव रानडे इलाहाबाद से निम्बल वापस आये। तब मुझे उनके स्वास्थ्य-परीक्षण का सुअवसर प्राप्त हुआ और २ मई १९५७ को एक्सरे परीक्षण पर मुझे ज्ञात हुआ कि उनके फेफड़ों के दोनों अंशों में तपेदिक के

पुराने भरे हुए घाव और दायें पर धुँधलापन था जो १२ दिन बाद लुप्त हो गया। उनकी नाड़ी की गति ६० से ११० के बीच में चल रही थी और वे घोषित्रकोप (लेरिंगिटिस) के कारण सन्तापक प्रतिश्यान से पीड़ित थे। इससे वे धीरे-धीरे कृश हो रहे थे।

१६ मई १६५७ को जब वे अन्तिम बार शोलापुर मेरे पास आए और मेरे अनुरोध पर एक्सरे कराने को प्रस्तुत हुये तो मुझे यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि बिना किसी रोगाणुनाशी (एन्टीबायोटिक) चिकित्सा के उनके दोनों फेफड़े साफ थे और दायाँ खण्ड मधुजालक के समान विशिष्ट छाया से युक्त था।

मैंने उन्हें उनकी बीमारी की स्थिति बताई। उनकी सूखी, रह-रह कर आने वाली खाँसी तथा गम्भीर घोषित्रकोप जारी रहे। फेफड़े केवल धीमी आवाज के अतिरिक्त कोई लक्षण नहीं प्रकट कर रहे थे। बहुत से सुप्रसिद्ध डाक्टरों द्वारा उनका परीक्षण किया गया। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उनका ब्रान्कीकटेसिस भी बाहर और भीतर दोनों तरफ से साफ हो रहा था। अन्त में उनका ज्वर भी उतर गया, पर भूखे रहने के कारण वे विशेष रूप से शक्तिहीन थे। उनका बाका बन्द हो गया जिसके कारण वे अपने विचार इशारों से व्यक्त करते थे। उनकी साँस पूर्णरूप से नियमित थी तथा नाड़ी स्थिर थी। उनके थूक में तपेदिक के कीटाणुओं का अभाव पा गया।

निर्वाण के पूर्व अन्तिम ३ दिनों में वे संसार से पूर्णतया विलग थे। ६ जून १६५७ को साढ़े दस बजे सुबह शरीर छोड़ने के १२ घन्टे पूर्व उन्होंने अपना पूर्ण रूप से शोलापुर के डाक्टर यन० यस० परिपत्यदार द्वारा परीक्षण करवाया, मानो वे यह निश्चय करना चाहते हों कि उनका शरीर पूर्णरूप से रोगमुक्त है। अन्तिम ५ दिनों में उन्होंने न एक कौर खाना खाया न एक बूँद पानी पिया पर अपने पेट को जुलाब द्वारा साफ रखने के लिये विशेष यत्न किया। डाक्टर ने परीक्षण पर उनके फेफड़े साफ पाये तथा इसके अलावा कोई भी अनियमितता नहीं पायी कि वे अत्यधिक शक्तिहीन थे। डाक्टर को आश्चर्य हुआ कि उनके स्थूल आन्त्र में किसी प्रकार का मल नहीं था।

आदरणीय गुरुदेव ने साढ़े दस बजे आत्मा के शरीर से अलग होने के ठीक पूर्व अन्तिम बार जल की घूँट ली और यह भी श्रीमती काकू साहेब (श्रीमती रानडे) की मार्मिक प्रार्थना पर उनको सात्वना देने के लिये ली क्योंकि वे अन्तिम साँस तक पूर्णतया होश में थे।

इस प्रकार आदरणीय तथा उन्नत महात्मा, अपने रोगों पर पूर्णतया अधिकार रखते हुये और शुद्ध शरीर को इसके निर्माता को समर्पित करते हुये प्रस्थान कर गये जिस प्रकार कबीर ने अपने शरीर रूपी चादर को निष्कलंक परमात्मा को लौटाया था।

"दास कबीर जतन कर ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।"

और जैसा कि कर्नाटक के महान सन्त, श्री महाराज निम्बार्गी महाराज ने किया था—"अप्पा गुरुराया निन्नदु निनगे ओधितु" अर्थात् हे प्रभु, आपके द्वारा प्रदत्त शरीर जितना निर्मल आपने दिया था उतना ही वापस है।

उनकी मृत्यु के पश्चात भी उनका शरीर पूर्णतया दीप्तिमान रहा एवं अन्तिम क्रियाओं के होने तक १८ घन्टों में उनका शरीर नीलापन अथवा मौत के उपरान्त आने वाली कड़ाहट से पूर्णतया मुक्त रहा। मैंने आश्चर्य से नोट किया कि उनके नाक का ऊपरी भाग विशेष रूप से चमक रहा था और आँख की पुतलियाँ कालिमा-रहित दीप्तिमान तथा श्वेत थीं।

वह आदरणीय आत्मा ईश्वर में हर्षित, साधना में लीन तथा पार्थिव संसार से दूर अपने पीछे ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित महान कार्यों को छोड़ कर प्रस्थान कर गई। उन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों को भक्ति, अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद में, किसी ऊँची शक्ति पर विश्वास रखते हुए मिलाया।

गुरुदेव रानडे मूर्तिमान परमार्थ थे। उस महात्मा के जीवन का अध्ययन बतायेगा कि उनके जीवन का आदि और अन्त आध्यात्मिक था। उनका कथन था कि भगवान का स्वरूप-साक्षात्कार ही उनके जीवन का आदि था तथा इसे ही अन्त भी होना चाहिए। रहस्यमय महात्मा श्री गुरुदेव रानडे ने सबीज नाम अर्थात ईश्वर के नाम का ध्यान करने के महत्व पर जोर दिया जो कि आज के झंझटमय संसार में अपना अस्तित्व बनाये रख सकने का अत्यन्त साधारण पर शक्तियुक्त साधन है। उन्होंने ५० वर्षों तक साधना का अभ्यास करते हुए झगड़ों तथा कष्टों से भरे हुए वर्तमान जगत् को दिखा दिया कि केवल साधना ही ईश्वरप्राप्ति तथा आत्मिक प्रसन्नता प्राप्त करने का सबसे सरल तथा अचूक रास्ता है।

जैसा कि पूर्व महात्माओं और भविष्यदर्शी ऋषियों ने कहा था कि आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिये अच्छे आदर्शों की उत्पत्ति, अधर्म एवम् बुरी बातों से दूर होना तथा ईश्वर-भक्ति और उससे स्नेह तथा सत्संग अनिवार्य वस्तुएं हैं, इसी पर इन्होंने भी जोर दिया। उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व के परिणाम-स्वरूप समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग उनकी ओर आकर्षित थे तथा उन्हें 'सद्गुरु' मानते थे। इस प्रकार स्वर्गीय व्यक्तित्व ने हजारों आकांक्षी व्यक्तियों को मन्त्रों द्वारा आशीर्वाद दिया जिसके आधार पर वे ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग सदैव के लिए पा सके।

मैं उन भाग्यशाली मनुष्यों में से एक था जिसको ऐसी महान् आत्मा का शिष्य होने का अवसर प्राप्त हुआ जो नम्रतापूर्ण तथा अहंकाररहित थी। महान रहस्यवादी गुरुदेव रानडे मेरे एक मित्र डा० एन० यस० क्रिश्चियन के, जो गुरुदेव के परम पुजारी भी थे, निम्नलिखित शब्दों में इस प्रकार वर्णित किये जा सकते हैं:—

"जगत की आत्मा एक ऐसे हाथी दाँत के बक्स में जो अधिकतर चाम और हड्डी

का बना हुआ है, बन्द है। यह उस समय प्रकटशील होती है जब कि वह (गुरुदेव) उन नयनों के साथ जिनमें ईश्वर-मद भरा हुआ है, बैठ जाते हैं। उनके दोनों नयन गढ़ों में चढ़ी हुई भौंहों के नीचे इस प्रकार से चमकते हैं मानों वे उनके जीवन भर के कठिन योग तथा विजय के चिह्न हैं। उनका हृदय उदारता तथा प्रेम से भरा रहता था और उससे हर समय ईश्वर-ज्ञान जीवन-दायक अमृत की भाँति टपकता रहता था और हम लोग उनके सुरीले शब्दों में ही मोहित रहा करते थे। हमारे गुरुदेव अपने आंतरिक रूप में ईश्वर के दूत ही थे और उनके भीतर उनके शिष्य तथा पुजारी सदा निकलते हुये सूर्य की चमकती हुई ज्योति देखा करते थे। संभवतः ऐसी महान आत्मा हम लोगों को भविष्य में वर्षों तक न मिल सके।"

मैं इस लेख की समाप्ति अपने निम्बल के महान् सन्त की पूर्ण विनय-श्रद्धा के साथ करता हूँ जो हम भक्तों के समक्ष इस भूमि पर ईश्वर के प्रतिरूप थे।

अनुवादकर्ता

बजरंगी प्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० फिल०

प्रयाग।

———

श्री सद्गुरु-प्रसङ्ग

गुरुदेव रामभाऊ रानडे के जीवन और उपदेशों की कुछ झाँकियाँ

श्री बी० जी० अप्संगी, हेडमास्टर, पी० बी० हाई स्कूल, जमखंडी

"यदि हम ईश्वर-दर्शन न कर सकें तो इस संसार में आने का लाभ क्या ?"
— पाइथागोरस ।

श्री गुरुदेव रानडे सत्कार समिति को, बृहस्पतिवार ६ जून १९५७ को १०-३० बजे रात में निम्बल में, जो उनका आध्यात्मिक विश्राम स्थल था, अपने सर्व प्रमुख सन्त के आकस्मिक देहावसान का समाचार पाकर अत्यन्त तीव्र आघात लगा । यह समिति ३ जुलाई १९५६ को जमखंडी में गुरुदेव का अमृत महोत्सव (सत्तरवीं वर्ष गाँठ) मना चुकने का आनन्द ले रही थी और जमखंडी में तथा आस-पास गहराई से जमी हुई महान् आध्यात्मिक परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करने की भावी योजनाओं पर विचार कर रही थी । अमृत महोत्सव के बाद से माता धरती को सूर्य के चारों ओर का अपना चक्कर पूरा करना शेष था कि वह हमारे महात्मा रानडे के मूल्यवान् व्यक्तित्व से वंचित हो गई । गुरुदेव रानडे पिछले तीस से अधिक वर्षों से औपनिषदिक अर्थों में उन सभी आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक और सत्य के अन्वेषक लोगों के लिये बड़ी अन्तः प्रेरणा और पथप्रदर्शन के स्रोत बन गये थे, जो गुरु-रूप में उन्हें खोजते थे । उनके प्रथम सम्पर्क में ही, चाहे वह कितना थोड़ा क्यों न हो, अपराधी और अधम व्यक्ति तक उनके मनोहर व्यक्तित्व से अभिभूत हो जाते थे । जिन बहुत से व्यक्तियों ने उनकी आश्चर्य-जनक ऊँची सिद्धि के बारे में सुना था, उनके मन पर निराश्रयता की भावना छा गई है । यह भावना सरलता से दूर नहीं हो सकती । यह तभी दूर हो सकती है जब उनके सहयोगियों और शिष्यों से उनके जीवन तथा उपदेशों के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करके आन्तरिक शक्ति पाई जाय ।

प्रस्तुत लेखक इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर पाठकों के सामने ऐसे तथ्य रख रहा है जो या तो व्यक्तिगत रूप से स्वयं गुरुदेव से मिले हैं या ऐसे व्यक्तियों से जो गुरुदेव के निकटतम शिष्य और सहयोगी माने जाते हैं ।

हमारे गुरुदेव इस मरणशील संसार से उसी शान से बिदा हुये जिससे वह आये थे । हमारे इन आधुनिक मुनि की अन्तिम साँस में ईश्वर-नाम की मौन प्रतिध्वनि थी,

वह नाम जो १६०१ में जमखंडी में उनके गुरुदेव श्री समर्थ भाऊसाहब महाराज ने मंत्र-रूप में उन्हें दिया था। तब से, उनके इस द्वितीय जन्म के बाद से, अन्तिम क्षण तक उनका सम्पूर्ण जीवन परम प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण का था। जब आज्ञा आई तो उनका क्षीण परन्तु उज्ज्वल शरीर, जो उन्हें विधाता ने अपने और दूसरों में परमात्मा का अनुभव कराने के लिए उपहार-स्वरूप दिया था, शान्ति और कृतज्ञता के साथ विधाता को लौटा दिया गया। कहा जाता है कि हमारे गुरुदेव को पिछली अप्रैल में इलाहाबाद में ही इसका पूर्व ज्ञान हो गया था। जब एक दिन इलाहाबाद के उनके निवास स्थान पर बिजली चमकी तो उन्होंने कहा था, "इस बार प्रकृति तक षडयन्त्र करती मालूम पड़ती है।" तभी से, या शायद और भी पहले से, निम्बल के सन्त अपनी शानदार बिदाई और मरणशील शरीर को सदा के लिए विधाता के हाथों सौंपने की तैयारी कर रहे थे, परम शान्ति के साथ, जो परम सन्त का लक्षण है। जीवन के अन्तिम चार दिनों में इस वीरात्मा ने पानी तक पीना बन्द कर दिया था। इस बात से हमें अपनी मातृभूमि की शोभा बढ़ाने वाले प्राचीन सन्तों और मुनियों के ऐसे ही वीरतापूर्ण "प्रायोपवेशन" याद आ जाते हैं। जो व्यक्ति दर्शन और प्रणाम करने के लिए निम्बल गये थे, उन्हें मृत्यु के पाँच दिन पहले तक दीक्षा मिली थी। ईश्वर के प्रिय की ऐसी उपकारी वृत्ति थी! उस दुःखमयी निशा के प्रभात में जब एक पुराने घनिष्ठ मित्र उनके अत्यन्त दुर्बल शरीर के प्रति चिन्ताग्रस्त होकर पहुँचे थे, गुरुदेव ने प्रेमातिरेक से उन्हीं के स्वास्थ्य के बारे में प्रश्न पूछ कर उन्हें अभिभूत कर दिया था। गुरुदेव के जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी चरम स्थितप्रज्ञता, जो ईश्वर-प्राप्ति से ही उत्पन्न होती है, दृष्टिगोचर होती थी। वह अन्तिम क्षण इतने शीघ्र और अकस्मात् क्यों आ गया? इसे ईश्वर ही बता सकते हैं। सम्भवतः इसका उद्देश्य दुर्बल शरीर की सीमाओं के परे हो जाना हो। भागवत में भक्त का जो उत्कृष्ट वर्णन मिलता है, वह मानो हमारे गुरुदेव के व्यक्तित्व में अवतरित हो गया हो। आगे आने वाली पीढ़ियाँ सरलता से विश्वास नहीं कर पायेंगी कि ऐसा महान् व्यक्ति वास्तव में इस पृथ्वी पर आया था।

रामभाऊ का जन्म भी इतना ही महत्त्वपूर्ण और शानदार था। मई १६५६ में जब मैं निम्बल में उनके कमरे में उनसे प्रार्थना कर रहा था कि मुझे अमृत महोत्सव के लिये जमखण्डी जाने की अनुमति दे दें, उन्होंने एकाएक कहा था, "तुम जानते हो जन्म लेने के पहले ही मैं खण्ड-खण्ड होने वाला था?" मेरे अज्ञान को देखकर उन्होंने कहा, "मेरी धर्मपरायणा माँ को कई दिनों तक लगातार प्रसववेदना होती रही थी। अन्त में डाक्टर बुलाया गया। डाक्टर ने कहा कि स्थिति माँ के लिये संकट की है इसलिए उन्हें बचाने के लिये बच्चे को टुकड़ों में काट देना चाहिये। लेकिन माँ ने इसे स्वीकार नहीं किया। जमखण्डी के तत्कालीन शासक श्रीमन्त अप्पा साहब को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने रामेश्वर के सम्मुख प्रार्थना की और मूर्ति के चरण धोकर वह चरणोदक भावी

माता के लिए भेजा। महत्त्वपूर्ण आश्चर्य की बात यह कि जैसे ही माँ ने वह जल पिया कि मैं स्वस्थ सकुशल उत्पन्न हो गया और माँ भी स्वस्थ तथा प्रसन्न रहीं। ऋषि-तुल्य राजा श्रीमन्त अप्पा साहब इस समाचार से अत्यधिक प्रसन्न हुए और तुरन्त हमारे यहाँ कहलाया कि जिन ईश्वर की अपार कृपा से शिशु उत्पन्न हुआ है, उन्हीं के नाम पर शिशु का नाम रामचन्द्र रक्खा जाये। जब मैं गर्भावस्था में था तभी एक यायावर साधु ने भविष्यवाणी की थी कि मेरी माँ एक विश्वगुरु का अपने गर्भ में वहन कर रही थी।" एक दिव्य हृदयभेदिनी दृष्टि, जो मेरे हृदय में बहुत भीतर तक चली गई थी, मेरे ऊपर डालकर गुरुदेव ने कहा, "इसलिये तुम जमखण्डियों को चाहिये कि रामेश्वर मन्दिर के समीप, रामतीर्थ में, एक "साधना सप्ताह" मनाओ जिसमें उपस्थित होकर मैं सुख पाऊँ।" इस प्रकार जमखण्डी अतीव भाग्यशाली था कि प्रभु के उद्यान से उसे एक सुकुमार पुष्प भेजा गया जो ठीक समय पर एक दिव्य महान् संत में विकसित होकर सत्तर साल तक पूर्व और पश्चिम दोनों में पुष्प और सौरभ बिखेरता रहा। प्रभु की महत्तम कृति, श्री रामभाऊ का महान् जीवन, निश्चय ही हमारे पथ को प्रकाशित करेगा, विशेष कर तब, जब सौभाग्य से हम प्रभु के पथ के यात्री हों।

लड़कपन से ही श्री रामभाऊ में प्रबल आध्यात्मिक सम्भावनायें प्रकट होने लगी थीं। सात साल के रामू सहज भाव से प्रेरित होकर, जब कभी कोई तुलसी का पौधा, बेल वृक्ष और गाय देखते थे, जो ईश्वरत्व के प्रतीक हैं, सिर झुकाया करते थे। जब पहली बार उन्होंने एक नदी देखी तो उसके गौरव से अभिभूत होकर भावमग्न खड़े रह गये थे। जब वह मैट्रिक के पूर्व की कक्षाओं के विद्यार्थी थे, उन्हें कई बार लोगों ने कक्षा में पहाड़ियों को देखते-देखते बिलकुल रमा हुआ पाया था। उनके शिक्षकों ने इसे अवधान की कमी मानने की भूल की। निश्चय ही वह बालक पहाड़ियों के भीतर से उनके निर्माता को देखता था। अतः इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि इस बालक को १९०१ में, बैकुण्ठ चतुर्दशी के दिन, पन्द्रह वर्ष की आयु में ही श्री समर्थ भाऊसाहेब महाराज उमादी ने ईश्वर नाम का मन्त्र देकर परमार्थ-पथ में दीक्षित कर लिया। आरम्भ में इस बालशिष्य ने परीक्षा में प्रशंसनीय सफलता पाने के लिये ईश्वर-नाम का ध्यान करना शुरु किया। प्रभु के ढंग भी रहस्यमय हैं। १९०२ में परशुराम भाऊ स्कूल का यह अयोग्य विद्यार्थी जनता की दृष्टि के प्रकाश में आ गया। उसे प्रथम शंकर सेठ छात्रवृत्ति मिली और मैट्रिक परीक्षा में उसका दूसरा स्थान रहा। इस सफलता से उनकी गुरुभक्ति दृढ़तर हो गई और साधना गम्भीरतर। गर्व और अहंकार से बिल्कुल अछूते रहकर इस विनम्र बालक ने डेकन कालेज में नाम लिखाया और कालेज जीवन में अपनी सफलता में और वृद्धि की। जब कालेज की प्रथम वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई तो रामभाऊ के एक घनिष्ठ सहपाठी मित्र ने, जिसे अंग्रेजी में अपनी योग्यता का अभिमान था, उनसे पूछा कि अंग्रेजी के पर्चे कैसे हुये। "साधारण पास होने लायक" सीधा-सादा उत्तर था।

परीक्षा फल की घोषणा के दिन अंग्रेजी के प्राध्यापक ने उनकी उत्तर-पुस्तक उठाकर कहा, "यह एक मेधावी छात्र है, इसके उत्तर बहुत मौलिक और अनुकरणीय हैं। न्याय से सबसे अधिक अंक इसे मिले हैं।" प्रथम वर्ष और इन्टर दोनों परीक्षाओं में रामभाऊ ने प्रथम श्रेणी पाई थी। डेकन कालेज के विख्यात प्राध्यापक, वुडहाउस, क्लार्क, बेन और अन्य विद्वान अंग्रेज और स्काटलैण्ड वाले मिशनरी जो उस समय पूना में रहते थे, रामभाऊ की विद्वत्ता, ज्ञान और गम्भीर अन्तर्दृष्टि से आश्चर्यचकित थे। ये सभी कहते थे, "इस तरह की असामान्य लगन और मौलिकता हमने आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय के विद्वानों में ही देखी है।" बी० ए० में रामभाऊ ने गणित लिया और ऊँची सफलता पाई। इन वर्षों में कालेज का विद्यार्थी गोधूलि के बाद एकान्त स्थान को चला जाता था और पूना के श्मशान में गम्भीर साधना किया करता था। शीघ्रता से विकसित होते हुये रहस्यवादी के लिये मृत्यु का भय बिल्कुल ही समाप्त हो चला था। इसी अवस्था में उन्हें ध्वनि और दृष्टि के रहस्यमय अनुभव हो चुके थे। १९०७ में श्री रामभाऊ डेकन कालेज के दक्षिण फेलो नियुक्त हुये। इसके कुछ समय बाद ही एक लम्बी और गम्भीर बीमारी उनके पोस्ट ग्रेजुएट अध्ययन की बाधा बन गई। इससे अप्रतिहत, श्री रामभाऊ ने जीवन को एक नई दिशा में मोड़ दिया और अपने गुरु की त्राणशक्ति में अविचल श्रद्धा रखकर सतत गम्भीरतम साधना में लीन रहने लगे। इस काल में एक बार मृत्यु की छाया उनके सामने आई थी। परन्तु यह कहा जाता है कि उन्होंने उसे दृढ़तापूर्वक हाथ हिलाकर, "मेरे पास मत आओ" कहकर दूर भगा दिया था। इस समय तक श्री रामभाऊ की रहस्यात्मक अनुभवों में पर्याप्त सफलता और उन्नति हो गई थी।

उन्हें "ब्रह्म के बिन जलाये प्रकाश और बिन बजाये संगीत" का स्थायी अनुभव हो चुका था। लेकिन वह अनुभव करते थे कि उन्हें तब तक विश्राम नहीं मिल सकता जब तक वे और अन्य रहस्यात्मक अनुभव दर्शन की कसौटी पर तर्कसंगत भी सिद्ध न हो जायें। अतएव, तब से इस तीव्र बुद्धि विद्वान ने दर्शन और धर्म पर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों को आत्मसात किया, मूल में ग्रीक दार्शनिकों का अध्ययन किया और पाश्चात्य दर्शन पर अधिकार पा लिया। तब तक वह एम० ए० परीक्षा में दर्शन लेकर प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाने के कारण चांसलर का स्वर्ण पदक पा चुके थे। इस सम्मान के लिए लोग लालायित रहते थे। १९१३ तक कुछ अंशों में उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया था और डेकन कालेज से संलग्न Oriental Manuscript Library में संस्कृत के प्राध्यापक का काम करते हुए यह अत्यन्त अध्ययनशील विद्वान धीरे-धीरे एक अद्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय बुद्धिवादी संत में विकसित होता जा रहा था। कुछ समय बाद ही उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य की निःस्वार्थ सेवा के भाव से डी० ई० सोसाइटी की सदस्यता स्वीकार कर ली और फर्गुसन कालेज में दर्शन के प्रखर बुद्धि प्रोफेसर की प्रसिद्धि पाई। कुछ

ग्रीक दार्शनिकों पर उनके श्रेष्ठ विद्वतापूर्ण लेखों से प्रभावित होकर आधुनिक युग के महर्षि श्री अरबिन्द ने उन्हें "एक पूर्ण लेखक" और उनकी कृतियों को "अमूल्य लाभ" कह कर उनकी योग्यता नापी थी।

जब श्री रामभाऊ फर्गुसन कालेज में प्रोफेसर थे, उस समय के वाइसराय अतिथि रूप में आये। रैंगलर (Wrangler) परान्जपे ने, जो उस समय प्रिंसिपल थे, मुख्य द्वार पर उनका स्वागत किया। रैंगलर के पास चार प्रोफ़ेसर खड़े थे, एक संस्कृत के, दूसरे अंग्रेजी के, तीसरे दर्शन के, और चौथे प्रो० रानडे। यह कहा जाता है कि अपना और अन्य प्रोफ़ेसरों का सम्मानित अतिथि से परिचय कराते हुये रैंगलर साहब ने कहा था, "अच्छा! देखिये आप हम चारों में तो इस या उस विषय का एक प्रोफ़ेसर पायेंगे, परन्तु प्रो० रानडे में आप हम चारों को एक में लिपटा पायेंगे।"

स्वभावतः जमखंडी के प्रतिष्ठित नागरिक चांसलर का स्वर्ण पदक पाने वाले अपने विद्यार्थी को, जिसने अपने जन्मस्थान और शिक्षा के पालने को इतना गौरव दिया था, सम्मानित करना चाहते थे। अतः कुछ प्रमुख लोग उनसे इन्चगेरी में मिले जहाँ वह अखंड नेम करने गये थे। ये लोग सौजन्य से लौटा दिये गये। कहते हैं कि उन्होंने कहा, "आप लोग मुझ पर दया करके मुझे क्षमा करें क्योंकि मैं हर्निया (Hernia) का रोगी हूँ और अखंड नेम करके इससे मुक्त होना चाहता हूँ।" श्री राम भाऊ के लिये अखंड नेम की आश्चर्यजनक चिकित्सा की सफलता श्रद्धा का विषय थी। अनेक अवसरों पर वह कहते थे, "आधे घन्टे का एकाग्र नेम वैसा ही स्फूर्तिदायक होता है जैसा आधा सेर दूध का पान।" हमारे महान संत की यह महान औषधि अपना जादूभरा प्रभाव दिखा चुकी है। वह केवल हर्निया, जो उन्हें प्रभुनाम के ध्यान के लिये लगातार बैठे रहने से हो गया था, से ही मुक्त नहीं हुये वरन् उस घातक क्षयरोग, जिसके कीटाणु उनके थूक में प्रसिद्ध डाक्टरों ने देखे थे, से भी मुक्त हो गये। कितना भी प्रार्थनापूर्ण आग्रह हो, वह किसी भी रूप में दवा नहीं लेते थे। वह सदा ईश्वर-नाम की दिव्य औषधि जी भरकर पिया करते थे। वह किसी भी मानसिक या शारीरिक कष्ट के लिये प्रभु के पथ से विचलित नहीं होते थे, उनकी आत्मा प्रभु चरणों में शरण ले चुकी थी। उनकी अन्तिम बीमारी में गुरुदेव के एक सम्मानित मित्र और प्रख्यात आयुर्वेद चिकित्सक बम्बई से निम्बल तक आये थे। उन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से प्रार्थना की, मूल्यवान औषधि की एक बोतल देते हुये, कि गुरुदेव आयुर्वेदीय औषधि ले लें। गुरुदेव ने मुस्कराते हुये बोतल और चिकित्सक दोनों की प्रशंसा की और बोतल को अपने पास रखा लिया। चिन्ता और विषाद लिये हुये यह सम्मानित मित्र बम्बई लौटने को विवश हो गये। जीवन के अधिकांश में श्री रामभाऊ अस्वस्थ रहे। कभी-कभी उन पर विपत्तियों की सेना ही टूट पड़ी। उनकी

दादी की मृत्यु हुई और फिर प्रथम पत्नी की। उनकी आर्थिक अवस्था भी शोचनीय हो गई थी। इन सबसे अविचलित रहकर, यह सोचते हुये कि ये विपत्तियाँ ईश्वर-प्रेषित हैं, उन्होंने अपने को गुरु को समर्पित कर दिया और अपना सारा अस्तित्व इसी एकमात्र महत्प्रयोजन कि वह पूर्णतः ईश्वरमय हो जायें, की पूर्ति में लगा दिया। हमारे गुरुदेव की कठोर तपस्या सफल हुई और उस परम गायक के हाथों में संगीत यन्त्र बनकर उन्होंने पूर्णता का शिखर पा लिया। जब उनके गुरुबन्धु इन्चगेरी के श्री अम्बुराव महाराज ने उनकी यह अवस्था देखी तो प्रसन्नता से कह पड़े, "हमारा रामू जगत्गुरु होने योग्य हो गया है। हमारे महान् गुरु द्वारा दिया गया तारक मंत्र फलीभूत हुआ और बीज मंत्र में अंकुरित हो गया है। अब वह दूसरी आत्माओं में प्रभु नाम जगा सकता है।" सन्त ही सन्त को पहचान सकता है। हमारे गुरुदेव अपनी इस सिद्धि को अपने गुरु की महती कृपा का फल मानते थे और आदरपूर्वक अपने को प्रभु-इच्छा को समर्पित कर चुके थे। हमारे गुरुदेव की ऊँची आध्यात्मिक सिद्धि के बारे में एक महत्वपूर्ण घटना बताई जाती है। गुरुदेव के एक अत्यन्त घनिष्ठ, विद्वान मित्र बहुत बीमार थे। गुरुदेव ने उनके यहाँ जाने और सान्त्वना देने का विचार किया। किन्तु उनके गुरुबन्धु ने कहा, "देखो, रामराय तुम जाओ तो पर यह मत कहना कि "तुम अच्छे हो जाओगे" क्योंकि तुम वाक्सिद्धि पा चुके हो और तुम्हारे शब्दों से ईश्वर को अपने ढँग बदलने पड़ेंगे।" इस प्रकार हमारे गुरुदेव स्वयं परम गायक में विकसित हो गये थे और दिव्य संगीत में अपना स्वर-योग देने लगे थे। अब वह दिव्य सत्य और जीवन के तथ्यों को फैला सकते थे। उनका अपना जीवन एक ही नियम से परिचालित था, ईश्वर-प्रेम का और गुरुप्रेम का नियम। जितने भी सम्बन्ध वह स्वीकार कर पाते थे, वे ईश्वर और गुरु के सम्बन्धों के ही माध्यम से थे। उनके समस्त कर्म केवल इसी नियम के स्वतः पालन के ही परिणाम थे। इस महत्वपूर्ण बात को एक ऐतिहासिक घटना प्रमाणित करती है। जब वह प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर पद को सुशोभित कर रहे थे एक प्रमुख व्यक्ति को एक निश्चित तिथि पर सम्मान प्रदान करने के लिये, एल-एल० डी० की डिग्री प्रदान करने का निश्चय हुआ था। वह दिन आया। इस महोत्सव के लिये पहले से भव्य तैयारियाँ हो गई थीं। नियत समय पास आ रहा था, पर उत्सव को वाइस चांसलर की अनुपस्थिति में ही सम्पादन करना पड़ा। वह अपने निवास स्थान से प्रातः ही निकल पड़े थे और द्रौपदीघाट के अपने एकान्त स्थल में रहकर रात को काफ़ी देर से लौटे थे। इस घटना से गुरुदेव के सहयोगी अत्यधिक उद्विग्न हुये। उनमें से एक ने, जो गुरुदेव के अधिक निकट थे, कहा भी, "रामभाऊ बड़े आश्चर्य की बात है कि तुमने इतना महत्वपूर्ण प्रोग्राम नष्ट किया।" वाइस चांसलर महोदय ने बड़ी शान्ति के साथ प्रत्युत्तर दिया, "मुझे खेद है, पर मैं विवश था। पूरे समय भर मैं वस्तुतः ईश्वर का बन्दी बन गया था। अब मैं मुक्त हुआ हूँ तो लौटा हूँ।"

१९२४-२५ में जब प्रो० रानडे वेलिंग्डन कालेज, सांगली, में काम कर रहे थे मुझे उनके चरणों में तत्त्वदर्शन पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके श्री-मुख से "दर्शन क्या है" विषय पर पहले तीन भाषण जो प्रवाहित हुये वे Delphic Oracles की भाँति भविष्यवाणियों से परिपूर्ण थे। इस तरह के कुछ कथन अभी मेरे कानों में गूँजते हैं। उन्होंने कहा था, "दर्शन हमारी रोटियाँ नहीं सेंकता पर यह बताता है कि रोटी का मूल्य क्या है।" योरोप के एक सुविख्यात तत्त्वविज्ञानी के बारे में उन्होंने कहा था, "उसने शोर बहुत मचाया पर तत्त्व की बात बहुत कम निकली।" ग्रीक दर्शन के इतिहास के एक प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक के बारे में उन्होंने कहा था, "यह लेखक की बड़ी भारी भूल है।" इस कथन को ग्रीक व्याकरण के अपने ज्ञान के आधार पर सिद्ध करते हुये उन्होंने हिबर्ट जर्नल में एक लेखमाला प्रकाशित की थी। एक महान ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइटस के बारे में उसी लेखक ने लिखा था, "यह एक रोता हुआ दार्शनिक है।" हमारे प्रोफेसर साहब ने लिखा, "नहीं, नहीं, उसने दूसरों को रुलाया है।" महान् बुद्धि का कैसा अर्थगर्भित चमत्कार है!

अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी और कन्नड़ में लिखित उनके महान् ग्रन्थ उनकी अद्वितीय, सर्वतोमुखी प्रतिभा को सारे संसार में घोषित करते हैं। अपने महान ग्रन्थ "A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy" द्वारा वह एक प्रकांड पंडित और महान् विचारक सिद्ध हुये। उनका एक अद्वितीय मूल्य का ग्रन्थ Mysticism in Maharastra, जो दिव्य और गहराई तक पैठने वाली बुद्धि का परिणाम है, रहस्यवाद के प्रेमियों के लिये बड़ा कोष है। निश्चय ही स्वयं ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वर के, तथा अन्य महाराष्ट्री संतों के विषय में लिखा है। हिंन्दी के मूल उदाहरणों सहित अंग्रेजी में प्रकाशित उनके अन्तिम दिनों के ग्रन्थ "Pathway to God in Hindi Literature" ने दर्शन और धर्म पर संसार के साहित्य को समृद्ध बनाया है और संसार के किसी भी भाग के आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक मनुष्यों के पथप्रदर्शक का काम करता रहेगा। उनका ग्रन्थ "Mysticism in Karnatak" जिसे वह जल्दी ही प्रकाशित करने वाले थे और जो लगभग तैयार था, कर्नाटक विश्वविद्यालय में दिये गये भाषणों पर आधारित था। प्रकाशित होने पर यह ग्रन्थ निश्चय ही एक अत्यंत प्रकाशमान तारे की भाँति केवल आध्यात्मिक साधकों की नहीं, वरन् भूलेभटके, दुर्घटना ग्रस्त, जीवन-सागर की गहराइयों में डूबते-उतराते, आध्यात्मिक ज्ञान रूपी स्वर्ग के लिए विकल बन्धुओं की भी, सहायता करता रहेगा। कुछ वर्ष पहले नागपुर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में दी गई गीता-भाषण माला में एक परिचयात्मक अध्याय भी जोड़ दिया गया है जो जुलाई १९५६ में रामतीर्थ में गुरुदेव के लगभग एक माह के निवास-काल में पूरा किया गया था। यह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है और निश्चय ही गीता पर लिखे गये अन्य ग्रन्थों से श्रेष्ठ होगी क्योंकि इसमें गुरुदेव ने भगवद्गीता के प्रमुख

उपदेशों को बहुत सुचारु, आलोचनात्मक और बुद्धिग्राह्य ढंग से प्रस्तुत किया है। जिन दिनों इस पुस्तक का परिचयात्मक अध्याय पूर्णता के शिखर पर पहुंच रहा था, गुरुदेव ने एक बार मेरे सामने कहा था, "यदि आज लोकमान्य तिलक जीवित होते तो वह भी संसार के सामने इस महान् परम सत्य को घोषित करने में कि भगवान श्रीकृष्ण का मुख्य उपदेश ईश्वर-प्राप्ति है, मेरा साथ देते।" श्री रामभाऊ को पूर्णता के लिये काम करते हुये देखना उनके कुछ घनिष्ठतम सहयोगियों और शिष्यों का ही सौभाग्य था। किसी भी कृति को समाप्त करने और प्रकाशन के लिये देने के पहले वह एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द को, परम सत्य की कसौटी पर परखते थे। सत्य से थोड़े से भी भिन्न कथन को वह बिल्कुल अस्वीकार कर देते थे। वह एक दम कह देते थे "नहीं, नहीं, कुछ भी तर्क-विरुद्ध, कुछ भी अतिरंजित नहीं हो।" उनकी उंगलियों से निकला हुआ प्रत्येक अक्षर उस परम सत्ता "अक्षर" का ही प्रतीक होता था। ईश्वरानुभव की रहस्यमय उड़ानों से भी ऊँचे, सौजन्य से प्रत्येक छोटी से छोटी आत्मा से भी तादात्म्य अनुभव करते हुये, पूर्ण ईश्वरोन्माद से संयुक्त, प्रभुतापूर्ण विद्वता, ईश्वर की सृष्टि में एक दुर्लभ वस्तु है। परन्तु हमारे गुरुदेव ऐसी ही दुर्लभ वस्तु थे। संसार के सभी महान् धर्मों और दर्शनों के विषय में हमारे गुरुदेव के दृढ़ निर्णयात्मक मत थे, जो परमरूप की कसौटी पर आधारित थे। अमृत महोत्सव के दिन, अभागे माइक्रोफोन के सामने खड़े होकर उन्होंने अपने गुरु श्री समर्थ भाऊसाहब महाराज की बताई गुरु की परिभाषा, 'गुरु वह है जो ईश्वर के गूढ़ स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ है,' सुनाई थी। यह परिभाषा हमारे गुरुदेव पर अक्षरशः ठीक बैठती है। ऐसे पारमार्थिक गुरुओं की महान् परम्परा ही ईश्वरीय इच्छा से साथ-साथ गुंथी हुई, इस तथा अन्य जगतों की आत्माओं का आश्रय और भरोसा रही है। ऐसे गायनाचार्यों के बीच, हमारे गुरुदेव, अपने जीवन और शिक्षा से, विश्व संगीत में अपना विशेष स्वरयोग देने वाले सिद्ध हुये हैं। गुरुदेव ने पिछले बीस वर्षों में, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, हरिजन और उच्चकुलीन राजा और रंक, वृद्ध और युवा सभी प्रकार के असंख्य व्यक्तियों पर, सबीज नाम की दीक्षा देकर कृपा की है। पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना और प्रत्येक को इस राज्य की प्रजा बनाने की गुरुदेव की विकल इच्छा थी। और इसी के लिये वह प्रार्थना किया करते थे। लगभग आठ वर्ष पहले जब गुरुदेव बहुत गम्भीर रूप से बीमार पड़े तो लोगों ने उनकी आँखों से आँसू गिरते देखे। एक सहयोगी यह देखकर बहुत दुखी हुआ और उसने भोलेपन से पूछा, "रामभाऊ, तुम्हारी पीड़ा असाध्य हो गई है।" निम्बल के संत ने मुस्करा कर कहा, "नहीं, नहीं! सब मनुष्य विकृतियों के पीछे भाग रहे हैं। ईश्वर तक जाने वाला पथ सीधा-सादा और आनन्ददायक है, परन्तु कोई भी उधर जाने की चिन्ता नहीं करता। इसी लिये मैं व्यथित हूँ।" प्रत्येक आत्मा को अंधकार और दुख से ऊपर उठाने की इच्छा, हृदय की कैसी अनुपम विशालता है! कृपा से परिपूर्ण, हमारे गुरुदेव विशेष रूप से पतितों और पथभ्रष्टों के लिये करुणा ही करुणा थे। बाइबिल की कथा की भाँति,

हमारे प्रभु गड़रिया-जैसे लगते थे, खोई हुई भेड़ के लिये ही बहुत चिन्तित थे। तुच्छ से तुच्छ मनुष्य भी उनके चरणों में आकर उनके भूरि-भूरि आशीष पाता था। ऐसे व्यक्तियों में वह अच्छाइयाँ खोज लेते थे, चाहे वह कितनी ही कम हों, और अपने विशाल हृदय को बढ़ाकर दिखाने वाले दर्पण के समान रखते थे। इसीलिये, इसमें आश्चर्य नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति, जो उनके पास जाता था, एक ऐसे गम्भीर अनुभव के साथ लौटता था कि उसके लिए गुरुदेव के हृदय में एक विशेष कोमलता है। और यह धारणा जीवन भर उसका सहारा रहती थी।

डा० रानडे की विलक्षणता इस बात में है कि उन्होंने अपने में केवल पूर्व के प्राचीन ज्ञान का ही नहीं, वरन् पश्चिम के बौद्धिक दर्शन का भी, व्यक्तिगत पारमार्थिक यथार्थ अनुभवों से युक्त समन्वय किया। इन अनुभवों के लिये गुरुदेव सदा कृतज्ञभाव से स्वीकार करते थे कि यह उनके गुरु का कृपापूर्ण उपहार था। ईश्वरत्व तो यत्र-तत्र सर्वत्र विद्यमान है। एक सच्चा गुरु निश्चय ही अपने शिष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करा देता है। इसीलिये यह उचित ही माना जाता है कि गुरु ईश्वर से भी अधिक, अपने शिष्य की सहायता करता है। हमारे गुरुदेव ने दीक्षा लेने वाले अनेक शिष्यों की ऐसी सहायता की थी। डा० रानडे का जीवन पूर्णतः समर्पित और निरन्तर आध्यात्मिक साधना ही था।

एटम-बम और I. C. B. M. जैसे सम्पूर्ण विश्व के विनाश की धमकी देनेवाले अन्तर्महाद्वीपीय क्षेपण अस्त्रों के वैज्ञानिक युग में हमारी मातृभूमि ने दो महान् ईश्वरीय संदेश वाहक श्री अरविन्द और डा० रानडे के रूप में पाये हैं जिन्होंने सब धर्मों की एकता को स्पष्ट करके यह घोषित किया कि सत्य एक और परम है। यह बड़े खेद की बात है कि ये दोनों अनुपम व्यक्ति अपने सुन्दर मानवीय रूप में हमारे साथ अब नहीं हैं। अतः अब हम उनके जीवन और उपदेशों के भक्तिपूर्ण अध्ययन पर ही निर्भर रह सकते हैं, यही हमारा पथ प्रदर्शन करेगा और हमें आत्मसाक्षात्कार करायेगा। हमारे गुरुदेव का सम्पूर्ण जीवन एक महान् ईश्वरीय पुस्तक है जिसमें से अन्वेषक दृष्टि और श्रद्धालु मन को उनके उपदेशों का सार मिल सकता है। संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित शब्दों में उसे रख रहा हूँ :—

इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य का एक आध्यात्मिक भाग्य होता है। ईश्वर की इस विशाल आश्चर्यमय सृष्टि में अकेला मनुष्य ही, ईश्वर का प्रतिरूप होने के कारण, उसका साक्षात्कार कर सकता है। यह साक्षात्कार अन्तर्ज्ञान जो मनुष्य की उच्चतम आंतरिक शक्ति है, के द्वारा हो सकता है। यह अन्तर्ज्ञान जीवात्मा और परमात्मा के बीच अपरोक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये मानवस्वभाव का पुनः शिक्षण आवश्यक है जिससे जीवात्मा परमात्मा में पूर्णतः

निमज्जित और मग्न हो जाय। इसी प्रसंग में आध्यात्मिक गुरु एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाता है। स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार कर चुकने पर सद्गुरु सबीज नाम की दीक्षा देकर यह शक्ति अपने शिष्य में उत्पन्न कर सकत है। बौद्धिक अनुशासन, नैतिक पवित्रता और कर्त्तव्यपालन केवल भूमिका प्रस्तुत करते हैं। अन्तर्ज्ञान भक्ति या कर्म का परित्याग या विरोध नहीं करता वरन् उनके भीतर बैठकर उन्हें आधार देता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म, ये तीनों अपरोक्ष ईश्वर-साक्षात्कार-रूपी राजा की प्रजा हैं। ईश्वर का यह अपरोक्ष मौन आनन्द अनिर्वचनीय है। यह गूंगे के गुड़ खाने के समान है। भक्त के सामने विधाता अपने को एक विशिष्ट दिव्य आभा से युक्त उपस्थित करते हैं। भक्त और भगवान अविभाज्य रूप से एक दूसरे से बँध जाते हैं। अतः अनन्त आभा से युक्त सन्त पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि सदृश रहता है। जीवात्मा को ईश्वरपथ पर लाने और उसकी कठिन यात्रा की प्रगति में साथ देने के लिये सद्गुरु और उनकी अतिशय कृपा आवश्यक हैं। सद्गुरु मानवशरीर में ईश्वर ही है। स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार करके उनके चरणकमलों में अपने को स्थिर करके सद्गुरु ऐसे यात्रियों के पथ-प्रदर्शन करने के योग्य हो जाता है। उसके लिये ईश्वर-नाम अनन्त सम्भावना-युक्त हो जाता है और जब वह दूसरों को दीक्षा देता है तो यह नाम एक दिव्य अंकुर का रूप लेकर, सद्गुरु की व्यक्तिगत देख-रेख में उचित पालन पोषण पाकर, ठीक समय पर एक पूर्ण पुष्पित, ऊर्ध्वमूल, अवाक्शाख दिव्य वृक्ष में विकसित हो जाता है। सद्गुरु की कृपा से साधक की आत्मा में उत्पन्न, ईश्वरनाम का गम्भीर, सतत और एकाग्र ध्यान मानवात्मा की ईश्वराभिमुख यात्रा की प्रगति में अनिवार्य अवस्था है। मार्ग में अनेकों आपत्तियाँ और गर्त हैं। परन्तु सद्गुरु की कृपा साधक की इनसे रक्षा करती है। साधक के लिये सांसारिक सुखों का परित्याग और गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है। कृपापूर्वक गुरुद्वारा दिया गया सबीज नाम साधक की प्रत्येक साँस में इस प्रकार बिन जाना चाहिए कि शरीर का रोम-रोम उस नाम को प्रतिध्वनित करे और वह ईश्वर का दीपक बन जाय। ईश्वर की अनन्त कृपा और शिवत्व में परम श्रद्धा रखकर, इस सबीज नाम का अखंड नेम स्वयं इसी के लिये करना चाहिए, अर्थात् केवल नाम-प्रेम के लिये, चाहे एक क्षण के भी लघुतम अंश के लिए हो। बिना नाम के साधक पानी से निकली मछली के भाँति हो जाता है। ऐसी लगन निश्चय ही अरूप को रूप देती है और "असमाप्त अन्त" पर यात्री ईश्वर के सामने आ जाता है। इसके बाद ईश्वरीय शक्ति से से युक्त, आनन्दमय शाश्वत में जीता हुआ, वह कष्टों से पीड़ित मानवता को ईश्वर का संदेश सुनाता रहता है। वही एक सच्चा सन्त है और वह परम सत्ता का व्यक्तिगत पक्ष है जब कि ईश्वर उसका अवैयक्तिक पक्ष है। सच्चा ध्यान ईश्वर की उपस्थिति में आरम्भ होता है। संत के अनुभव इन्द्रियातीत होते हैं। इससे अच्छी अवस्था में इन्द्रियों का पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता है। केवल यही सत्य नहीं है कि अन्धा ईश्वर को देख सकता है, वरन् यह भी सत्य है कि आँखें सुनती हैं और कान देखते हैं

आदि-आदि। आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्यों की प्रगति के लिये इतना उत्सुक होता है कि कभी उनकी भूलों के लिये स्वयं ही सुधार कर लेता है। गुरु की कृपा जब आती है तो बाढ़ की तरह आती है। एक सच्ची माता की भाँति हृदय के पालने में झूलता हुआ शिष्य तब शाश्वत की गोद में पाला जाता है। डेकन कालिज के खेल के मैदान में क्रिकेट मैच देखते हुए श्री रामभाऊ रानडे ने एक शाश्वत सत्य, कि विश्व एक अनन्त वृत्त है जिसका केन्द्र सर्वत्र है परन्तु परिधि कहीं भी नहीं है, का अनुभव किया था। हमारे सन्त रामभाऊ शाश्वत के अनन्त मैदान की सीमा को छू सकते थे। जब कि आवश्यकता सबसे अधिक थी, ऐसा सन्त संसार से हटा दिया गया है। ओ प्रभु! ऐसा और अब हम कहाँ पायेंगे?

"ओम् तत् सत्"

अनुवादकर्त्री

प्रीतिलता अग्रवाल एम० ए०

प्रयाग विश्वविद्यालय

—:o:—

श्री गुरुदेव रा० द० रानडे का सम्प्रदाय

के० वी० गजेन्द्रगडकर, धारवाड़

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजनीव स्वमृतमस्मि ।

वह सम्प्रदाय धन्य है जिससे श्री गुरुदेव रानडे सम्बद्ध थे, जिसमें उनका पालन-पोषण हुआ और जिसका उन्होंने भारत में तथा उसके बाहर योग्यतापूर्वक प्रसार किया। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ रेवण नाथ से होता है जो रेवण सिद्ध नाम से भी प्रसिद्ध हैं। रेवणनाथ नाथ-सम्प्रदाय के थे। वे मच्छेन्द्र तथा गोरखनाथ की परम्परा से महादेव महेश की तथा गहिनाथ और निवृत्ति नाथ की परम्परा से ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम जैसे महाराष्ट्र के महान् सन्तों की वंश-परम्परा में आते हैं। कादसिद्ध जिन्हें कुछ लोग रेवण सिद्ध ही समझते हैं, रेवण सिद्ध के शिष्य थे और कोल्हापुर के समीप कादसिद्धेश्वर मठ के असंख्य सन्तों में से एक थे। कादसिद्धेश्वर मठ में उपलब्ध सभी लेखों को अध्ययन करने के पश्चात् गुरुदेव रानडे तथा कोल्हापुर निवासी प्रिंसिपल आप्टे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यद्यपि पूर्ववर्ती सन्तों के सम्बन्ध में दन्तकथायें मात्र ही प्रचलित हैं तथापि उन असंख्य सिद्धों में जिनका नाम कोल्हापुर के समीपवर्ती कादसिद्ध (या कदप्पा) मठ के पाँच लेखों में अङ्कित हैं, मुनिन्द मुनि ही ऐसे हैं जो ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ते हैं। इस प्रकार रेवणनाथ तथा कादसिद्ध उत्तर तथा दक्षिण भारत के विविध आध्यात्मिक सम्प्रदायों को जोड़ने वाली मेखला का निर्माण करते हैं। इन महान् आध्यात्मिक पुरुषों से हम उस सम्प्रदाय की उत्पत्ति तथा विकास मानते हैं जिससे श्री गुरुदेव रानडे और उनके सहस्रों अनुयायी सम्बन्धित हैं। एक बार गुरुदेव ने पूछने पर बताया था कि उनका सम्प्रदाय 'स्वरूप सम्प्रदाय' है। हम अपने इस सम्पन्न और प्रशस्त आध्यात्मिक वंश-परम्परा का सम्मान, आदर और श्रद्धा करने में किसी से पीछे नहीं है। त्रिशङ्कु मुनि का जो उद्धरण इस लेख के प्रारम्भ में उद्धृत किया गया है उससे भी अधिक ओजस्वी शब्दों में हम अपने सम्प्रदाय के प्रति स्वाभिमान अभिव्यक्त करेंगे।

हमारे इस सम्प्रदाय के अर्वाचीन संस्थापक निम्बार्गी के महान् सन्त निम्बार्गी महाराज श्री नारायण राव मिसालकर हैं। बाद में वे नीलस्वामी के नाम से विख्यात हुए। निम्बार्गी महाराज के कोई पूर्वज कुपेनूर में बसने के लिए आए और उन्हें इस ग्राम का पटेल (मुखिया) बना दिया गया। किन्तु बाद में सिद्दप्पा नामक उनके किसी उत्तराधिकारी ने उस स्थान को सदा के लिए छोड़ दिया और गडग के समीप बेतिगेरी में बसने के लिए आए और तदनन्तर मंगलवेधे में स्थायी रूप से रहने लगे। इन

सिद्दप्पा महोदय की परवर्ती सात पीढ़ियाँ वहीं रहीं। किन्तु श्री निम्बार्गी महाराज के पितामह स्थायी रूप से रहने के लिए निम्बार्गी आये। श्री निम्बार्गी महाराज का जन्म शोलापुर में उनकी माता के घर हुआ था और वहीं उनका बाल्यकाल बीता। किन्तु बाद में वे अपने सारे जीवन को बिताने के लिए निम्बार्गी आए। उनका शरीर बहुत लम्बा और हृष्ट-पुष्ट था। उनका रंग सुन्दर था तथा वे एक बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। खेल में अत्यधिक रुचि होने कारण उन्हें एक दिन अपने पिता जी के द्वारा डाँट सहनी पड़ी। और दुख एवं पश्चात्ताप की अवस्था में वे पण्ढरपुर गये और तीन दिन तक उपवास करके उन्होंने तपस्या की। उन्हें स्वप्न में एक दर्शन हुआ और आध्यात्मिक साधना में दीक्षा लेने के लिए कदप्पा मठ में जाने के लिए उन्हें निर्देश मिला। तदनन्तर अपने छोटे बच्चे का कोई संस्कार कराने के लिए वे कदप्पा मठ गये। उन्होंने वहाँ मन्दिर में भक्तिपूर्वक भगवान की प्रार्थनाएँ कीं। जब वे अपने मार्ग से जा रहे थे तो एक छोटी सी गुफा को पार करते समय उन्हें एक वृद्ध सन्त मिले। उस सन्त ने उन्हें अपने पास बुलाया। भीड़ में वे यह न जान सके कि वे ही बुलाये गये थे अथवा कोई और। किन्तु जब उस मुनि ने अपने दोनों हाथों को हिलाकर उन्हें ही अपने समीप आने को संकेत किया तब वे उसके समीप दौड़ पड़े। यहीं पर उन्हें आध्यात्मिक साधना की दीक्षा मिली। दीक्षा का मतलब गुरु का शिष्य को वह नाम प्रदान करना है जिसे उसने स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार करके सुना और देखा है। इस नाम का सतत स्मरण करना ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। उन्हें यह बतलाया गया कि यदि वे उस संत द्वारा निर्दिष्ट समाधि का उसी रूप में अभ्यास करते रहे तो वे एक महान् व्यक्ति होंगे। यह सन्त मुप्पिन मुनि ही रहे होंगे क्योंकि यह मठ में प्राप्त लेखों से तथा निम्बार्गी महाराज के एक गीत में किये गये सन्दर्भ से भी सिद्ध होता है।

श्री निम्बार्गी महाराज निम्बार्गी लौटने के बाद ५ वर्ष तक आध्यात्मिक साधना उत्साहपूर्वक न कर सके। इसी बीच उनके गुरु को निम्बार्गी केवल इसलिए आना पड़ा कि वे निम्बार्गी महाराज को ईश्वर के प्रति उनके कर्त्तव्य का स्मरण करावें। श्रीनिम्बार्गी महाराज ने उनका हार्दिक स्वागत किया आतिथ्य-सत्कार किया तथा चार आना दक्षिणा के रूप में दिया। किन्तु उस वृद्ध सन्त ने उनसे दो रुपया दक्षिणा के रूप में माँगा। श्री निम्बार्गी महाराज के पास उस समय उतना धन नहीं था। उन्होंने अपने पड़ोसी से किसी प्रकार उधार लिया और गुरु जी को दो रुपया दिया। किन्तु गुरु जी ने उस दो रुपये को इस आदेश के साथ श्री निम्बार्गी महाराज को लौटा दिया कि 'इनमें से एक रुपया तुम अपने सांसारिक जीवन के लिए और दूसरा आध्यात्मिक जीवन के लिए रक्खो।' इस पर श्री निम्बार्गी महाराज ने पूछा कि क्या सांसारिक जीवन भगवान के नाम का सतत स्मरण करने से सुखमय रहेगा। तब वृद्ध सन्त ने यह कहा कि ईश्वरानु-कम्पा के लिये कुछ भी असम्भव नहीं। इस समय से लेकर श्री निम्बार्गी महाराज ने आध्यात्मिक ध्यान को बहुत गम्भीरतापूर्वक तथा शक्तिपूर्वक प्रारम्भ किया तथा ३६

वर्ष पर्यन्त ईश्वर के नाम का श्रमपूर्वक निरन्तर तथा नियमित ध्यान किया। इसके फल-स्वरूप उन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में परम आनन्द और सुख का अनुभव किया। सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त करने के बाद उन्होंने कतिपय व्यक्तियों को आध्यात्मिक साधना में दीक्षित किया। उन्होंने अपने नियमित, दैनिक आध्यात्मिक ध्यान में थोड़ा भी व्यवधान कभी नहीं होने दिया। उन्होंने अपने ६५ वर्षीय दीर्घ आयु को शान्तिपूर्वक ईश्वराराधन में व्यतीत किया। फिर भी वे अपने व्यावहारिक कर्त्तव्यों को पूरा करने में बहुत सावधान रहते थे। इस प्रकार उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक पुरुषार्थों का अपने जीवन में समन्वय किया और व्यावहारिक रूप में दिखाया कि वे एक दूसरे से सुसंवाद्य तथा पूरक हैं। उन्होंने जीवनपर्यन्त जिस सिद्धान्त का उपदेश दिया और जिसका पालन किया वह यह है कि दु ख और सुख हमारे कर्मों के परिणाम स्वरूप हैं और जब किसी व्यक्ति को काँटा चुभने से भी कष्ट मिले तो उसे अपने चरित्र का अन्तर्दर्शन से विश्लेषण करना चाहिये। हमारे कर्म ही हमारे पथ-प्रदर्शक हैं चाहे वे अच्छे हों या बुरे और हमारे सुख और दुख एकमात्र उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक कार्य का परिणाम होता है। यदि यह कार्य अच्छा है तो हमें पृथ्वी अथवा स्वर्ग की किसी भी शक्ति से भय करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि यह बुरा है तो स्वर्ग के सभी देवता हमें उसके बुरे प्रभाव से नहीं बचा सकते। भक्त का यह कर्तव्य है कि वह अपने गुरु द्वारा बताये हुए भगवन्नाम का स्मरण करे और उस नाम का ध्यान करते हुए सभी कार्यों को करे। भगवन्नाम का जप करने वाले के लिए किसी भी वस्तु का प्राप्त करना असंभव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय से असत् प्रवृत्तियों को निकाल देना चाहिए और साहस के साथ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य इन षडरिपुओं को जीतना चाहिए तथा आत्मा की अनुभूति द्वारा अपने हृदय में अपना स्वशासन स्थापित करना चाहिए। यही वास्तविक स्वराज्य है। समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति उदासीन रहते हुए उसे ईश्वर में पूर्णरूपेण लीन हो जाना चाहिए। साधक को दिन में तीन बार—प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल ध्यान करना चाहिए। उसे रात भर बैठ कर अपने मन में ईश्वर के नाम का स्मरण तथा आवृत्ति करना चाहिए। श्रीनिम्बार्गी महा-राज ने जो उपदेश दिया उसका उन्होंने अभ्यास भी किया और अपने जीवन में सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त किया। उनके इस पवित्र जीवन बिताने का यह परिणाम था कि उनके परिवार में न तो कोई भयानक बीमारी हुई और न कोई अकाल मृत्यु ही। जहाँ तक उनके सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन का ऐतिहासिक आधार पर विश्वस-नीय विवरण मिला है, हम बिना किसी अतिशयोक्ति के कह सकते हैं कि निम्बार्गी महाराज हर क्षेत्र में अर्थात् स्वास्थ्य, सौन्दर्य, मेधा, पारिवारिक सुख तथा आध्यात्मिक आनन्द की विविधता और पूर्णता में पूर्णता के पर्याय हैं। पूरे तौर पर उनका जीवन शान्त और सरल था। किन्तु उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनपर आश्चर्य होता है। सामान्य लोगों की यह धारणा है कि सन्त लोग चमत्कार दिखाते हैं। अतः

सन्तों का जीवन चमत्कारों की सारिणी के वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु निम्बार्गी महाराज तथा उनके सम्प्रदाय के प्रमुख शिष्यों के अनुसार हमारे पास यह विश्वास करने का कोई आधार नहीं प्राप्त है कि सन्त लोग करामात करते हैं। सन्तों के जीवन में कुछ विचित्र घटनायें घटित होती हैं क्योंकि वे एक पवित्र जीवन बिताते हैं और सर्वशक्तिमान ईश्वर के साथ ऐक्य रखते हैं। इस सिद्धान्त के उदाहरण-स्वरूप श्री निम्बार्गी महाराज कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव सच बोलना चाहिए ताकि वह जो कुछ कहे वह सत्य हो जाय। आध्यात्मिक अनुभव की सर्वोच्च अवस्थाओं में सन्त यह अनुभव करता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और ईश्वर के इस पहलू से उसका गुण सम्बन्धी तादात्म्य होने के कारण वह यह देखता है कि ईश्वर की इच्छा उसकी इच्छा से ऐक्य रखती है और इसलिए वह पूरी हो जाती है। एक बार श्रीनिम्बार्गी महाराज स्नान के निमित्त कुएँ पर गये थे और जब वे संकीर्ण गली से लौट रहे थे तब वहाँ विपरीत दिशा से एक भयानक सर्प निकला। वह अपने को दो भिन्न स्थिति में पाये। उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं और ईश्वर का स्मरण किया और उसके नाम की रटन लगाई। कुछ क्षणों के अनन्तर जब उन्होंने आँखें खोलीं तब देखा कि सर्प कुएँ के समीप घनी झाड़ियों में छिप गया था। दूसरी बार लुटेरों के निम्नतम वर्ग का एक साधु निम्बार्गी आया। कुछ शरारती ग्रामीणों द्वारा उकसाया गया वह श्री निम्बार्गी महाराज के पास आया और उनकी साधुता को चुनौती दी। उसने उस कमरे के सब दरवाजों को बन्द कर लेने का आग्रह किया जहाँ पर सब लोग बैठे हुए थे। फिर उसने श्री निम्बार्गी महाराज को वास्तविक साधुता को सिद्ध करने के लिए जादू भरी शक्तियों द्वारा बाहर निकलने को कहा। श्री निम्बार्गी महाराज ने इस पर नम्रतापूर्वक कहा कि वे सन्त नहीं हैं और उसकी चुनौती को नहीं स्वीकार करेंगे। किन्तु साधु ने इस पर हठ किया। अन्ततोगत्वा जब श्री निम्बार्गी महाराज ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तब साधु ने उसे दूसरे दिन के लिए स्थगित करने की प्रार्थना की। किन्तु अब श्री निम्बार्गी महाराज दृढ़ हो गये थे और अपनी निःस्सहाय अवस्था में साधु ने उन्हें गाली देना शुरू कर दिया और कटु शब्द कहा। श्री महाराज को इससे दुःख हुआ। उन्होंने स्थान छोड़ दिया और ईश्वर से प्रार्थना की कि वह साधु को दण्ड देकर न्याय करे। साधु विजयी की दशा में अपने निवास-स्थान को लौटा। किन्तु दो-तीन घन्टा के बाद अतिसार से पीड़ित हो गया जो हैजा के रूप में बाद को बदल गया। अब उसकी हालत गम्भीर थी। उसने श्री निम्बार्गी महाराज के साथ जो भूल की थी उसका शीघ्र ही अनुभव किया। श्री निम्बार्गी महाराज से क्षमा माँगने तथा अपने जीवन की रक्षा के निमित्त प्रार्थना करने के लिए उसने अपने शिष्यों को उनके पास भेजा। उसको दक्षिण दिशा में अपने गधे पर सवार होकर जाने को कहा गया और जब वह ग्राम की सीमा के बाहर गया तब उसे सचमुच छुटकारा मिला। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा घटनाओं के अक्षरों में अभिव्यक्त होती है। ये घटनायें प्रकृति के नियमों के अनुसार घटित

होती हैं। सन्त अपनी समाधि की सर्वोच्च अवस्था में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अनुभव करता है। श्री निम्बार्गी महाराज ने इसे ऐसे बड़े रूप में किया कि ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने एक बार कहा था कि किसी लड़के को लड़की के रूप में तथा किसी लड़की को लड़का के रूप में ईश्वर के उस अनुग्रह द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है जो सन्त में समाधि के क्षण अन्तर्हित रहता है। पूर्ण योगी अथवा सन्त इसी शक्ति को प्राप्त करते हैं जिसके फलस्वरूप चमत्कार उत्पन्न होते हैं। श्री निम्बार्गी महाराज और उनके सम्प्रदाय के सभी महान् शिष्यों के विषय में यह चीज प्रभूत रूप में देखी गई थी। कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, यक्ष्मा, यमार्बुद, जलशोथ, विसर्प जैसी भयानक बीमारियों की सफल चिकित्सा श्री निम्बार्गी महाराज और उमादी, जिगजिवनी तथा निम्बल के सन्तों ने की है। जो शिष्य इनमें से किसी बीमारी द्वारा पीड़ित थे उनके जीवन में यह चमत्कार देखा जाता है। रुग्णावस्था में ये शिष्य अपने गुरुदेव की शरण में जाते थे। उन पर उनका पूर्ण विश्वास था। वे रोग की निवृत्ति के लिए पूरे मन से—पूर्ण रूप से प्रार्थना करते थे और अन्त में अच्छे हो जाते थे। जब निम्बार्गी महाराज अत्यधिक वृद्ध हो चले तो उन्होंने अपने परिवार के उत्तरदायित्व का भार अपने पुत्र को सौंप दिया। फिर उन्होंने अपना सारा जीवन ईश्वर के ध्यान में तथा अपने शिष्यों के लिए आध्यात्मिक जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने में बिताया। उन्होंने बलपूर्वक बतलाया कि आध्यात्मिक साधना प्रचण्ड नैतिक जीवन की अनिवार्य भूमिका है। आध्यात्मिक साधना में उन्नति तथा नैतिक जीवन में पवित्रीकरण, ये तब तक अन्योन्याश्रित हैं जब तक कि दोनों का लय परम आनन्द में नहीं हो जाता। यह परम आनन्द शुभ और अशुभ दोनों से परे है। श्री निम्बार्गी महाराज स्वामी रामदास कृत दासबोध अथवा कन्नड सन्तों के आध्यात्मिक गीतों को पढ़ा करते थे और इन दोनों को अपने शिष्यों को समझाते थे। उनकी समस्त कहावतों को संगृहीत करके और नीति-शास्त्र तथा रहस्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार वैज्ञानिक रीति से उनको क्रम में रखकर गुरुदेव रानडे ने कन्नड भाषा में बोध-सुधा नाम से ख्यात एक छोटी-सी पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी किया है।

श्री निम्बार्गी महाराज के प्रथम महान शिष्य, जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन की ज्योति को जलाये रखा और जिन्होंने बहुत से व्यक्तियों को ज्ञान प्रदान किया, का नाम रघुनाथप्रिय था। उनका जन्म एक राजपरिवार में हुआ था। किन्तु वे अपने शैशव से ही संसार के प्रति उदासीन रहे और एक सन्यासी का जीवन धारण किया तथा भारत के समस्त पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा की। उन्होंने कुछ यौगिक क्रियाओं का अभ्यास किया था और कुछ अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं जिसके द्वारा उन्होंने लोगों की कुछ बीमारियों को अच्छा किया। उन्होंने बहुत से स्थानों की यात्रा की, बहुत धन एकत्र किया तथा बहुत लोगों को वृहत भोज दिया। सात दिन तक प्रति स्थान पर नाम-सप्ताह का आयोजन करने के पश्चात् अपनी धार्मिक यात्रा के काल

में ही वह सोनागी नाम के एक गाँव में पहुंचे जो निम्बार्गी और उमादी के बीच में है। वे इस गाँव के बाहर मरुतिदेव के मन्दिर में ठहरे। उनकी कीर्ति शीघ्र ही आस-पास के सब गाँवों में फैल गई। श्री निम्बार्गी महाराज के कुछ समीपवर्ती शिष्यों ने उनसे यह प्रार्थना की कि वे उस स्थान की यात्रा करें तथा उस साधु को देखें। इस प्रकार श्री निम्बार्गी महाराज को सोनागी जाने के लिए प्रेरित किया गया। वे वहाँ गये और उस साधु से बातें कीं। दोनों के बीच में जो बातें हुईं उसने साधुबुआ (जैसा कि वे बाद में विख्यात हुए) को उस मार्ग की अनुपयुक्तता से अवगत कराया जिसका वे इतने वर्षों से अनुसरण कर रहे थे और ईश्वर-प्राप्ति का सही मार्ग जानने को आतुर किया। उसने निम्बार्गी महाराज के शिष्यों से पूछताछ की और कुछ जानकारी प्राप्त की और श्री निम्बार्गी महाराज को समाधि का अभ्यास करते हुए देखने का निश्चय किया। इस समय निम्बार्गी महाराज ने "नील-रंग" के व्यापार को छोड़ दिया था और गड़रिये के व्यापार को अपनाया था। उन्होंने भेड़-बकरियों की देख-भाल के लिए दो-तीन बच्चों को नियुक्त किया था। वे उन्हें निम्बार्गी के चारों ओर कुछ दूरवर्ती घास के मैदान में ले जाते थे, उन्हें झुण्ड की देखभाल करने को कहते और स्वयं एक वृक्ष के नीचे समाधि में ध्यानमग्न हो बैठ जाते थे। कुछ घंटों के बाद वे जलपान करते और तब अपनी समाधि सायंकाल तक जारी रखते। एक दिन साधुबुआ ने बिना उनकी जानकारी के उनका अनुसरण किया। वे समीपवर्ती एक नीम के वृक्ष पर चढ़ गये और तब तक बैठे रहे जब तक श्री निम्बार्गी महाराज बच्चों को बुलाकर घर को रवाना न हो गये। जब साधुबुआ वृक्ष से उतरा, श्री महाराज के पास आया तथा उनके चरणों पर गिर पड़ा, तब महाराज ने पूछा कि वह इतने समय तक कहाँ था और अपने भोजन की व्यवस्था कैसे की। उसने बताया कि वह एक नीम की डाल पर बैठा था और एक साथ ही कई दिनों तक नीम की पत्ती खाकर रहने का उसका अभ्यास था। तब श्री महाराज ने यह कहा कि यदि नीम की पत्तियों को खाने से ईश्वर का दर्शन होता तब तो उसका दर्शन करने वाले सर्वप्रथम ऊँट ही होंगे। इस आलोचना ने साधुबुआ को ईश्वर को जानने के लिए और भी उत्सुक बना दिया। उसने श्री निम्बार्गी महाराज से प्रार्थना की कि वे उसे आध्यात्मिक साधना में दीक्षित करें। तब श्री निम्बार्गी महाराज के पथप्रदर्शन में एकभक्ति के साथ उसने ध्यानमार्ग का अभ्यास किया और ईश्वर के प्रसाद से थोड़े ही वर्षों में आध्यात्मिक विकास के उच्च स्तर पर पहुँच गये। तदनन्तर वह उमादी के बाहर मरुतिदेव के मन्दिर में ठहरने के लिए आये। वह निम्बार्गी महाराज के पास प्रायः आते। कुछ काल के अनन्तर उन्हें यह अनुभूति मिली कि वे लोगों को आध्यात्मिक साधना में दीक्षित करें। अपनी मृत्यु के समय वह चिम्मड में ठहरने के लिए आये और वहीं उन्होंने अन्तिम सांस ली। वे निम्बार्गी महाराज के सर्वश्रेष्ठ भक्त तथा अध्यात्म में बढ़े-चढ़े शिष्यों में से एक थे। उनकी समाधि चिम्मड में है।

इस योग्य गुरु श्री निम्बार्गी महाराज के योग्यतम शिष्य उमादी के भाउसाहब महाराज थे। वे अपनी शैशव अवस्था में महादेव मरुति के बड़े भक्त थे और नियमित रूप से प्रार्थना करने के लिए उमादी के मन्दिर की यात्रा करते थे। प्रत्येक समय वे मन्दिर में आते। श्री साधुबुआ ने उनकी भक्ति के लिए उनकी प्रशंसा भी की और उनके चरणों में गिर भी पड़े। तदनन्तर उन्होंने इस उदीयमान सन्त के मन में सच्ची आध्यात्मिक साधना की उत्कट इच्छा तथा निम्बार्गी महाराज के प्रति महती श्रद्धा उत्पन्न कर दी। वे इस बालक साधक को श्री निम्बार्गी महाराज के पास ले गये। श्री निम्बार्गी महाराज ने साधुबुआ के माध्यम से श्री भाउराव देशपाण्डे को नामोपदेश दिया। किसी योग्य शिष्य द्वारा नामोपदेश देने की इस विधि को बाद में श्री गुरुदेव रानडे ने दीक्षा की एक स्थायी विशेषता बना दिया।

श्री भाउ साहब बहुत ही सच्चे शिष्य थे। वे प्रति शनिवार को श्री निम्बार्गी महाराज के पास जाने में बहुत ही नियमित थे। वे श्री निम्बार्गी महाराज के पवित्र सत्संग में नेम (समाधि) का अभ्यास करते, उनकी वार्ताओं को सुनते तथा अपने आध्यात्मिक जीवन में नियमित रूप से पथप्रदर्शन पाते थे। वे अपने आध्यात्मिक जीवन में द्रुतगति से उन्नति कर रहे थे और थोड़े ही समय में उन्होंने आत्मा का समग्र रूप में साक्षात्कार किया। वे बहुत बड़े संगटन-कर्त्ता थे। उन्होंने अपने गुरुबन्धुओं तथा शिष्यों को बहुत ही कठोरतापूर्वक अनुशासित किया तथा बहुत ही वैज्ञानिक आधार पर सामूहिक ध्यान-साधना का सूत्रपात किया। उन्होंने कुछ खास महीनों में कुछ सप्ताह तथा समस्त श्रावण मास गम्भीर सामूहिक ध्यान-साधना के लिए नियत कर दिया था। १०-१२ अत्यधिक जिज्ञासु तथा उत्साही साधक उमादी में श्री भाउसाहब महाराज के घर पर एकत्र होते थे। वे प्रातःकाल बहुत सबेरे जागते थे और स्नान करने के अनन्तर ठीक ६ बजे ध्यान के लिये बैठ जाते थे। उनमें से एक बहुत धीरे २ तथा ध्यानपूर्वक ज्ञानेश्वरी, भक्तिविजय तथा दासबोध जैसी पवित्र पुस्तकों को पढ़ा करता था ताकि शेष अन्य लोग एकभक्तिपूर्वक नाम पर ध्यान करने में सहायता प्राप्त कर सकें। २५ श्लोकों के अन्त में वह रुक जाता था और साधकों में से कोई दूसरा मराठी, कन्नड तथा हिन्दी रहस्यवादी गीत गाता था। तब वह फिर पढ़ने के लिए उठता। यह गति-क्रम ३ बजे तक चलता था। उसके बाद फिर सदैव की भाँति, ढोलों की ध्वनि के साथ प्रातःकालीन प्रार्थनाएँ होती थीं और चारों ओर प्रकाश घुमाये जाते थे। वे सभी साधक केवल एक बार भोजन करते थे। सायंकाल ४ बजे फिर सभा होती थीं और आध्यात्मिक गीत गाये जाते थे तथा भजन और आरती की जाती थीं। तब ६ बजे से ६ बजे तक के लिए उनमें से प्रत्येक वैयक्तिक साधना के लिए जाता था। तब वे रात्रि की प्रार्थना, भजन और आरती के लिए एकत्र होते थे और तदनन्तर वे आराम के लिए अलग होते थे। उनमें से अधिकांश ३ बजे उठते थे और ५ बजे तक व्यक्तिगत रूप से ध्यान करते थे। समस्त श्रावण मास तक इस कार्य-कलाप का कठोरता

पूर्वक पालन किया जाता था। मार्गशीर्ष के महीने में शुक्ल पक्ष की ९वीं तिथि से १५वीं तिथि तक पवित्र सप्ताह मनाया जाता था। इसी बीच कुछ शिष्य साधना के लिए आ जाते थे। ऐसे ही निम्बार्गी में श्री निम्बार्गी महाराज की पुण्यतिथि, चैत्र शुक्ल पक्ष त्रयोदशी के अवसर पर बड़ी चहल-पहल से १५-२० वर्षों तक पुण्य-सप्ताह मनाया जाता था। बाद को श्री निम्बार्गी महाराज के उत्तराधिकारिओं तथा शिष्यों में तथा गुरव लोग और ग्राम की प्रधान महिला के बीच झगड़ा हो जाने के कारण श्री निम्बार्गी महाराज की समाधि बन्द कर दी गई थी और उस पर मिट्टी के ढेर जमा हो गये थे। श्री भाउसाहब महाराज को इस बात से कष्ट पहुँचा और उन्होंने किसी प्रकार इन्चगेरी ग्राम के बाहर जमीन खरीदी और वहाँ पर भक्ति और उत्साह से अध्यात्म क्रियाओं के करने के लिए एक मठ की स्थापना की। उनके तत्पर शिष्यों की संख्या बढ़ती गई। किसी धनी शिष्य द्वारा निम्बार्गी महाराज के नाम पर एक अति सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया गया। इससे अधिक लोगों तक आध्यात्मिक साधना को विस्तृत करने में सहायता मिली। फिर एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई जिसमें विविध आरतियों और करुणाष्टकें (ईश्वरानुग्रह को सम्बोधित प्रार्थनाएँ) के साथ वे भजन थे जो प्रातःकाल, ११ बजे, सायंकाल और रात्रि में ६ बजे, गाये जाते थे। श्री भाउसाहब महाराज एक बड़े शास्त्रकार थे। वे अपने जीवन में सदाचार के उन सभी सुन्दर नियमों का पालन करते थे जो कन्नड, हिन्दी और मराठी के सन्त साहित्य में उपदिष्ट हैं। वे अपनी आध्यात्मिक क्रियाओं में बहुत ही नियमित थे। वे प्रातःकाल बहुत सबेरे लगभग तीन बजे उठा करते थे। अपनी बाल्यावस्था के दिनों में समाधि के निमित्त बाहर जाया करते थे। किन्तु बाद में जब वे इन्चगेरी मठ में स्थायी रूप से रहने लगे तो अपने कमरे ही में साधना करते थे। वे ६-७ बजे अपने कमरे के बाहर आया करते थे और तब तक नहीं बोलते थे जब तक ज्ञानेश्वरी के कुछ भाग का पाठ नहीं समाप्त कर लेते थे। तब वे फिर आठ बजे सबेरे से ११ बजे तक समाधि के लिए जाते। तब 'दास-बोध' से ४० पद्य पढ़े जाते और यदि वहाँ गम्भीर तथा जिज्ञासु श्रोता रहते तो कुछ प्रवचन भी होते और तब प्रातःकालीन भजन और आरती की जाती। भोजन १२ बजे दिया जाता। वे लगभग एक घण्टा आराम करते। उस समय कुछ अभ्यस्त छोटे बच्चे आध्यात्मिक गीत गाते। २ बजे से ४ बजे सायंकाल तक वे पुनः ध्यान करते। ठीक ४ बजे फिर सभी लोग सभा-मण्डप में सायंकालीन प्रार्थना के लिए एकत्र होते। सन्तों के कुछ आध्यात्मिक गीत गाये जाते, 'दास-बोध' से बीस गीत पढ़े जाते, उसके बाद दार्शनिक तथा रहस्यात्मक समस्याओं की व्याख्या तथा उनपर विवाद होता। तब भोजन होता और श्री निम्बार्गी महाराज की समाधि पर प्रकाश जलाया जाता। भाउसाहब ने अपने शिष्यों को आध्यात्मिक जीवन में पथप्रदर्शन करने के लिए अनेक पत्र लिखते। जब कभी भी शिष्यगण अपने भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइओं को उनके सामने पेश करते वे उनका समाधान करते थे। गुरुदेव रानडे ने इन पत्रों को बहुत सावधानी पूर्वक संगृहीत किया है। कुछ महान् साधकों के प्रयत्नों के

फलस्वरूप वे थोड़े ही समय में प्रकाशित किये जायेंगे। श्री भाउ साहब महाराज के संरच्त्रण और पथप्रदर्शन में संप्रदाय ने बहुत अधिक उन्नति की। उनके जीवन-काल में ही उनके कुछ शिष्य आध्यात्मिक अनुभूति के शिखर पर पहुँच गये जिसकी बदौलत वे भी आध्यात्मिक गुरु हो चले। उनमें इञ्चगेरी के श्री अम्बुराव महाराज अग्रणी थे। स्त्री-सन्तों में श्रीमती शिवलिंगवा अक्का सबसे बढ़ी हुई थीं। वे देश तथा विदेश की प्राचीन तथा अर्वाचीन स्त्री-सन्तों में किसी से पीछे नहीं थीं। श्री भाउ साहब महाराज ने कुछ मुसलमानों को भी आध्यात्मिक साधना में दीक्षा दी थी। उनमें सैयद अली, जिन्हें श्री महाराज अपने सम्प्रदाय का कबीर कहते थे, अब भी जीवित हैं और अत्यधिक उत्साह के साथ आध्यात्मिक अभ्यासों को किया करते हैं। हमारा सम्प्रदाय जाति, धर्म अथवा राष्ट्रीयता के भेद को नहीं मानता। ईश्वर के साक्षात्कार का सभी को समान अधिकार है।

यद्यपि श्री भाउसाहब महाराज ने श्री अम्बुराव महाराज को लोगों को आध्यात्मिक साधना में दीक्षित करने का आदेश दिया था, किन्तु श्री भाउसाहब महाराज के स्वर्गवास के तीन वर्ष बाद भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने कुछ और अनुभूति तथा सन्देश पाने की प्रतीक्षा की जो उन्हें संतोषप्रद रूप में मिली थी। हमारे सम्प्रदाय में जिस व्यक्ति ने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है तथा जिसे आध्यात्मिक गुरु द्वारा लोगों को आध्यात्मिक साधना में दीक्षित करने का स्पष्ट रूप से आदेश मिला है, केवल वही आध्यात्मिक काय कर सकता है। दिवंगत गुरु द्वारा किसी शिष्य का नाम चुनने की कोई भी प्रथा यहाँ नहीं है। इस पद को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति इस पद के योग्य अनिवार्य आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करे। श्री अम्बुराव महाराज ने इसे अपने परिश्रम तथा गुरु के प्रसाद से प्राप्त किया था। एक निर्धन परिवार में उनका जन्म हुआ था। निम्बार्गी में वे प्रारम्भिक पाठशाला में पढ़ रहे थे। वहाँ वे अपने मामा के यहाँ ठहरे थे। उनके मामा श्री निम्बार्गी महाराज के शिष्य थे। अपने प्रारम्भिक बाल्य-काल में ही वे इस प्रकार आध्यात्मिक वातावरण में पाले-पोसे गये थे। उन्होंने इंचगेरी ग्राम के कुलकर्णी का कार्य स्वीकार किया और वहीं पर रहने लगे। विवाह-समय आने पर उनका विवाह हो ग ा और वे एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे। पर उनकी स्त्री का असमय में देहावसान हो गया और यह भी अम्बुराव महाराज के ऊपर भारी विपत्ति थी। अपनी दुःखित मानसिक अवस्था में वे गङ्गापु गये। वहाँ उन्होंने तपस्या की। वहीं वे सात दिन तक उपवास तथा गुरुचरित्र' नाम की एक पवित्र पुस्तक का पाठ करते रहे। अन्तिम दिन उन्हें स्वप्न में एक सन्त का दर्शन हुआ और उसने बताया कि मैं तुम्हारा गुरु हूँ और तुम्हें दीक्षा के लिए मेरे पास आना चाहिए। उसने उनके मन में यह विश्वास पैदा किया कि केवल समाधि का आध्यात्मिक जीवन ही उन्हें मानसिक शान्ति दे सकेगा। तदनन्तर वे निम्बार्गी गये जहाँ रामनवमी का उत्सव मनाया जा रहा था।

वहाँ पर उन्होंने उमादी के श्री भाउसाहब महाराज को देखा जो अपने कुछ शिष्यों के मध्य में भीमप्पा के मन्दिर के सामने पत्थर के एक टुकड़े पर बैठे थे। श्री अम्बुराव महाराज ने विनम्रतापूर्वक श्री भाउ साहब महाराज को दण्डवत किया। उन्होंने पहचाना कि ये वही सन्त हैं जिन्होंने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया था। श्री भाउसाहब महाराज उस नवयुवक सज्जन से बहुत प्रभावित हुए। वह उन्हें अजनबी-सा अनुभव न करे इसलिए उसे तम्बाकू पीने को दिया और वार्तालाप के सिलसिले में यह पूछा कि क्या वह परमार्थ में अभिरुचि रखते हैं। श्री अम्बुराव महाराज परमार्थ के विषय में बहुत उत्सुक तथा तत्पर थे किन्तु उन्हें भय था कि कहीं वे नैतिक परीक्षा में सफल न हों जो परमार्थ के लिए आवश्यक थी। अतः कुछ हिचकिचाहट के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वह सावलसंग के भाउराव के माध्यम से दीक्षित होंगे। फिर गुरु के आदेशानुसार ईश्वर के नाम की उन्होंने पुनरावृत्ति प्रारम्भ की।

हमारे सम्प्रदाय में पूर्ण साक्षात्कार करने वाले श्री गुरुदेव द्वारा 'प्रातिभज्ञान' के माध्यम से प्राप्त ईश्वर का नाम उस व्यक्ति को बताया जाता है जिसकी मनोवृत्ति परमार्थ की ओर अग्रसर हो चली है और जो दीक्षा की खोज में है। शिष्य को व्यवहार के दो बुनियादी सिद्धान्तों को अर्थात् 'दूसरे की सम्पत्ति अथवा जायदाद तथा दूसरे की स्त्री को कभी भी प्राप्त करने की इच्छा न करना'—को पालन करने का आदेश दिया जाता है। उसे अपने घर पर, शान्त स्थान पर अथवा ग्राम तथा नगर के बाहर खुली हवा में बैठ जाना चाहिए तथा सांस की स्वाभाविक गति के सुर में ईश्वर के नाम की आवृत्ति करनी चाहिए और निःश्वास तथा उच्छ्वास दोनों समय ईश्वर के नाम का एक-एक बार स्मरण करना चाहिए। उसे अपनी नासिका के सिरे पर अपनी आँखें केन्द्रित करनी चाहिए तथा अन्तःकरण में उस नाम को—परावाणी को—सुनना चाहिए। उसे इस प्रकार प्रतिदिन दो-तीन बार प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल एक घन्टे के लिए 'ध्यान' करना चाहिए तथा प्रतिक्षण और हर परिस्थिति में ईश्वर का नाम-स्मरण करना चाहिए। यह उस व्यक्ति की इच्छा की सच्चाई तथा गम्भीरता पर आधारित है कि वह कब आध्यात्मिक अनुभूति से कृतकृत्य होगा। जब बाबा (श्री अम्बुराव महाराज को सार्वजनीन रूप में बाबा ही कहा जाता था) अपने घर के लिए रवाना हुए, उस समय उन्होंने अपनी आँखें अपनी नासिका के सिरे पर अवस्थित किया और अपने गुरु द्वारा बताये गये ईश्वर के नाम को जपने लगे। उन्हें विविध प्रकार के दर्शन हुए तथा प्रारम्भिक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होने लगीं। वे अपने नेत्रों को अपनी नासिका के सिरे से तनिक भी हटने नहीं देते थे। अतः उनके नेत्र ज्योतिर्मय हो गये थे और वस्तुओं को नहीं देख सकते थे। वे सावलसंग नामक गाँव गये जहाँ श्री सावलसंग महाराज ठहरे थे जिनके माध्यम से ही भाउसाहब महाराज ने उन्हें नामोपदेश दिया था। वे यह कहते हुए चिल्लाने लगे कि नाम-स्मरण के कारण उन्होंने अपनी नेत्र-ज्योति खो दी और अपने जीवन में बरबाद हो गये क्योंकि अब वह कुलकर्णी के कर्त्तव्य

को नहीं कर सकते थे। उन्हें जो भी अनुभव प्राप्त हुए उन सब को उन्होंने बताया। सभी साधक बुला लिये गये। वे आध्यात्मिक गीत जिनमें उनके प्राप्त सभी अनुभव वर्णित थे—गाये गये तथा उनकी व्याख्या की गयी। उन्हें उनकी द्रुत उन्नति पर धन्यवाद दिया गया और यह विश्वास दिलाया गया कि उनकी अनुभूतियाँ ईश्वर की 'झांकी' हैं। वह प्रफुल्ल हृदय लौटे तथा अपने अभ्यास को और अधिक उत्साहपूर्वक जारी रखा। जब मठ इञ्चगेरी के बाहर हटा दिया गया तब वे कुलकर्णी के पद से त्यागपत्र देकर वहाँ बसने के लिए आये। यह आध्यात्मिक साधना के प्रति उनके पूर्ण उत्सर्ग, निरन्तर वास और निरीक्षण का परिणाम था कि मठ की स्थापना हुई, विविध साधकों ने अपने लिए भी छोटे-छोटे कुटीरों का निर्माण किया। इस प्रकार सम्प्रदाय की सुदृढ़ स्थापना हुई तथा उसके कार्यकलाप का खूब प्रसार हुआ। श्री अम्बुराव महाराज पूर्णरूप से बुद्धिवादी थे और गोष्ठियों में भाउसाहब महाराज को प्रश्नों से परेशान कर देते थे। एक बार वे उनसे यहाँ तक पूछ बैठे कि उन्हें किसने आध्यात्मिक साधना में शिष्यों को दीक्षित करने की स्वीकृति दी है। सांयकाल जब अम्बुराव ध्यान करने के लिए बैठे तब श्री निम्बार्गी महाराज ने उनको दर्शन दिया और क्रोध तथा भर्त्सना से भरी आवाज में कहा कि मैंने श्री भाउसाहब महाराज को नामोपदेश देने की आज्ञा दी है। फिर उस दिन सायंकाल की प्रार्थना के समय श्री भाउसाहब महाराज से वे मिले। तब वे भाउ-साहब महाराज के पैर पर लेट गये। तब से वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उनके सर्वश्रेष्ठ शिष्यों में से एक थे। वे मठ के प्रबन्ध की देखभाल करते, मठ का हिसाब-किताब बहुत सतर्कता से रखते तथा सम्प्रदाय में किसी भी अन्ध-विश्वास को घुसने नहीं देते थे। प्रत्येक सम्प्रदाय के विकास में उत्थान और पतन के काल होते हैं अर्थात् एक अत्यधिक विकास के युग के बाद निष्क्रियता तथा कभी-कभी पतन का युग आता है। श्री भाउसाहब महाराज की मृत्यु के पश्चात् इनके कई शिष्य इस प्रकार की कथाएँ कहने लगे कि उन्हें श्री महाराज द्वारा नामोपदेश देने का आदेश मिला है, उन्होंने स्वप्न में उनको दर्शन दिया है आदि।

श्री अम्बुराव महाराज ऐसे लोगों को चुप करने में बहुत कुशल थे। वे कहते थे कि इन लोगों को केवल स्वप्नों में ही नामोपदेश देना चाहिये। आध्यात्मिक साधना में यह उनका दृढ़ तथा बौद्धिक विश्वास ही था जिसने सम्प्रदाय को नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन से बचाया। उन्होंने अपने जीवन-काल में सम्प्रदाय को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाया। उच्चपदासीन शिक्षित व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में उनके शिष्य हो गये। उन्होंने विशुद्ध नैतिक जीवन तथा नाम की नियमित एवं उत्कट साधना में अपने गुरुदेव का अनुसरण किया। अपने स्वामी की भाँति उन्हें भी यह देखकर प्रसन्नता थी कि ईश्वर उनकी प्रार्थनाओं को आश्चर्यमय किंतु स्वाभाविक ढङ्ग से आकर पूरा करता है। उनका यौवन भीषण गरीबी में बीता। बाद में जब स्वामी ने उनको एक नवनिर्मित कोट प्रदान किया तब उन्होंने कहा कि वे उसे तभी स्वीकार करें गे जबकि स्वामी जी

उसका मूल्य उनसे ले लें। फिर उन्होंने यह प्रार्थना की कि उन्हें स्वाभाविक तथा प्रसाद-पूर्ण ढङ्ग में ही समृद्धि मिलनी चाहिए। उनकी धार्मिक इच्छा के फलस्वरूप उनके खेत से उन्हें बड़ी अच्छी फसलें मिलतीं। इन्हें जो अनाज मिलता उसका कुछ भाग—हर बोरों में से एक सेर—वे दान देते। उनके गुरु इस स्वेच्छिक दान से अत्यधिक प्रसन्न हुए। श्री बाबा के खेत तब तक अधिक अच्छी फसल देते रहे जब तक कि उनके पास सुखमय जीवन बिताने के लिए कोई अन्य पर्याप्त साधन नहीं हो गया। बाबा अपने लिए व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं रखते थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं। उन्होंने आध्यात्मिक साधना के लिए सब कुछ निछावर कर दिया था। इस प्रसंग में महात्मा गाँधी द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के लिए किये गये अद्वितीय त्याग का हमें स्मरण हो आता है। उत्सुक साधकों के मध्य आध्यात्मिक साधना का प्रचार करने के लिए बाबा को प्राय: प्रतिवर्ष विविध स्थानों को जाना पड़ता था। अपनी वृद्धावस्था में भी उन्होंने यात्राएँ कीं, यद्यपि उन्हें विविध शारीरिक कष्ट सहने पड़े। वे ईश्वर का कार्य कर रहे थे और उसके सन्देश को देश के विभिन्न भाग में ले जा रहे थे। वे कुछ गम्भीर वृक्क-रोग से पीड़ित थे किन्तु फिर भी कष्ट-काल में वे ध्यान के लिए निर्धारित समय का पालन करते थे। वे शांतिपूर्वक लेटे हुए, एक बार में तीन-तीन घण्टे से भी अधिक श्वास के स्वर में ईश्वर का नाम जपते, अजपाजप करते, पाये जाते थे। पौष शुक्ल पक्ष षष्ठी १८५५ शक संवत् को बीजापुर में उन्होंने शान्तिपूर्वक अन्तिम सांस ली। उनका शरीर इञ्चगेरी लाया गया और ठीक उसी स्थान के समीप जलाया गया जहाँ पर श्री भाउसाहब महाराज का शरीर जलाया गया था। वहाँ एक पीपल का वृक्ष भी लगाया गया। इञ्चगेरी मठ में श्री बाबा की समाधि भी ठीक उनके गुरु के समाधि के समीप ही है।

हमारे सम्प्रदाय के अन्तिम किन्तु शायद सर्वोत्कृष्ट तेजस्वी पोषक श्री गुरुदेव रा० द० रानडे थे। उनके जीवन-चरित का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा उनकी मुख्य दार्शनिक और रहस्यवादी शिक्षाएँ 'श्री रानडे के दर्शन' में अन्यत्र प्रकाशित हैं। सम्प्रदाय की नियमावली के विकास में उन्होंने जो योगदान दिया है उसका ही संक्षिप्त विवरण यहाँ पर्याप्त होगा। वे भी भाउसाहब महाराज के सर्वश्रेष्ठ प्रबुद्ध तथा शिक्षित शिष्य थे। सम्प्रदाय के इतिहास में प्रथम बार उन्होंने इञ्चगेरी मठ में नियमित रूप में होने वाले भजनों और प्रार्थनाओं को पुस्तक रूप में संग्रह तथा प्रकाशन के कार्य को अपने ऊपर लिया। इस पुस्तक का प्राक्कथन भी श्री गुरुदेव रानडे ने लिखा है। इसमें हमें संक्षेप में आध्यात्मिक साधना के सभी मूलाधार प्राप्त होते हैं। बाद में रहस्यवाद विषय पर लिखे गए अपने ग्रन्थों के द्वारा उन्होंने इसकी विशद व्याख्या की है। अपने गुरुदेव के प्रति उनकी भक्ति अवर्ण्य थी। अपने सम्प्रदाय के अनुयायिओं द्वारा वे श्री निम्बार्गी महाराज के अवतार समझे जाते हैं। वस्तुतः उन्होंने अपने में समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों की विविध विशेषताओं का समन्वय किया था। वे अध्यात्मवेत्ता तथा प्रतिभाशील पुरुष थे। उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूति की दार्शनिक पीठभूमि और औचित्य पर जोर दिया।

अतः उन्होंने अपने समस्त लेखों, वार्ताओं तथा प्रवचनों में प्रयोगात्मक धर्म तथा बौद्धिक रहस्यवाद पर बल दिया। उन्होंने सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों के कार्य तथा उद्देश्य को आश्चर्यजनक उत्साह, दूरदर्शिता तथा विश्वास के साथ जारी रखा। समाज के उच्चतम तथा निम्नतम, प्रत्येक वर्ग से विभिन्न-विभिन्न व्यवसाय करने वाले हजारों व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में दीक्षा लेने के लिए अथवा पथप्रदर्शन और निर्देशन के लिए उनके पास आए। उनका सत्संग, उनकी वार्ताएँ तथा उनका वास्तविक जीवन सभी स्फूर्तिदायक थे। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति—आत्मानुभूति के लिए ही सभी वस्तुओं का प्रयोग होना चाहिए—केवल यह ही मानव जीवन का निःश्रेयस है। उन्होंने अपने समस्त द्रव्य, शक्ति तथा बुद्धि को आत्मा के अनुभव तथा प्रातिभ-ज्ञान की प्राप्ति तथा प्रसार में लगाया। श्री गुरुदेव रानडे के साक्षात् पथप्रदर्शन में लगभग ५०—६० शिष्य १९४३ ई० से ही निम्बल स्थान पर गम्भीर आध्यात्मिक साधना के लिए इकट्ठा होना शुरू किया। वे प्रातःकाल सबेरे उठते थे तथा अपना व्यक्तिगत ध्यान और प्रातःकलीन दैनिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् ७ बजे प्रातःकाल मकान के बाहर एक छोटे से कमरे में एकत्र होते थे। और फिर श्री निम्बार्गी महाराज के पौत्रों में से एक श्री नागप्पा जी, जो श्री भाउसाहब महाराज के बहुत ही भक्त शिष्य थे, उन सब को समाधि में सहायता पहुँचाने के निमित्त प्रति १०—१५ मिनट पर आध्यात्मिक गीत गाते थे। आठ बजे प्रातःकाल वे सभी साधक श्री गुरुदेव रानडे के पुराने घर के हाल में बुलाये जाते थे। वहाँ वे समाधि के लिए बैठते थे। उनमें से एक शिष्य 'ज्ञानेश्वरी, अथवा 'दासबोध' से कुछ पढ़ता था और जब कभी किसी शिष्य द्वारा कोई आध्यात्मिक गीत गाया जाता तो सभी लगभग १५—२० मिनट तक शान्तिपूर्वक ईश्वर के नाम पर ध्यान लगाते थे। इस प्रकार'ध्यान' में इस प्रक्रिया द्वारा सहायता मिलती थी। दो घन्टे के अनन्तर, साधकों के हाथ में शान्तिपूर्वक दो पेड़े दे दिये जाते थे। ये पेड़े गुरुदेव द्वारा उन्ही के खर्चे से पहले से ही तैयार कराये जाते थे। वे सब के साथ हाल में बैठते थे। फिर कुछ काल के लिए समीपवर्ती कमरे में वे शान्तिपूर्वक आनन्द की अनुभूति करने के लिए चले जाते थे। अत्यधिक भक्तिपूर्वक निरन्तर चार घन्टे तक सामूहिक समाधि जारी रहती थी। बहुत से साधकों को नूतन आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होते थे। इस प्रकार उन्होंने भाउसाहब महाराज द्वारा प्रारम्भ की गई सामूहिक समाधि को पुनरुज्जीवन दिया। प्रतिवर्ष श्री रानडे के अवकाश-काल में साधकों की संख्या में अभिवृद्धि होती रही। १९४७ में जब उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पद से अवकाश ग्रहण किया तब जो सामूहिक समाधि केवल तीन मास (मई, जून, जुलाई) की बात थी वह निम्बल में आध्यात्मिक साधना की एक सर्वकालीन विशेषता बन गयी। उनका निवास-स्थान, 'अध्यात्म आश्रम' के नाम से विख्यात हो गया। भारत के सभी भाग से लोग 'आलोक' (प्रबोध) के लिये आये, आश्रम में रुके तथा सन्तुष्ट होकर लौटे। एक उपनिषत्कालीन ऋषि का कथन

है कि 'मुश्किल से ही कोई एक आत्मदर्शी जन को देख या सुन सकता है। उससे भी अधिक कठिनता से कोई उसके सम्पर्क में आसकता है और यह सौभाग्य तो विरले को है कि वह उसके द्वारा दीक्षित हो, उसके पवित्र सम्पर्क में रहे तथा उसके प्रसाद से सर्वोत्तम सन्तोषप्रद आध्यात्मिक अनुभव को प्राप्त करे।" उस अर्थ में इस पवित्र सम्प्रदाय के शिष्यगण वस्तुतः बहुत सौभाग्यशाली हैं। किन्तु इस जगत् में प्रत्येक प्रवाह का ज्वार-भाटे के उत्कर्ष की भाँति उत्कर्ष—अपकर्ष होता है और आध्यात्मिक प्रवाह इस नियम का अपवाद नहीं है।

यह पवित्र सम्प्रदाय जिसके गुरुदेव रानडे अन्तिम प्रतापी गुरु कहे जा सकते हैं, लगभग १५० वर्षों से अपनी पवित्रता तथा पूर्णता के साथ सहस्रों व्यक्तियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करता हुआ विकास करता रहा है। महात्मा श्री निम्बार्गी महाराज द्वारा संस्थापित इस सम्प्रदाय के श्री साधुबुआ, श्री भाउसाहब महाराज, श्री अम्बुराव महाराज और श्री गुरुदेव रानडे चार बड़े अवतारी पुरुष हैं। इस सम्प्रदाय में जो व्यक्ति गुरु होकर दूसरों को आध्यात्मिक ज्ञान दे सके, उसे पहले ईश्वर की परानुभूति प्राप्त करके आध्यात्मिक साधना में अपने को योग्य बनाना पड़ता है। इन चार अवतारी पुरुषों ने इस बात का बहुत योग्यतापूर्वक सन्तोषप्रद रूप में पालन किया है। अब यह देखना है कि आधुनिक अनुयायिओं में वह कौनसा वास्तविक योग्य शिष्य निकलता है जो आध्यात्मिक ज्ञान के इस प्रकाश-पुंज को आगे बढ़ा सके। जब तक कोई ऐसा पुरुष हो न जाय तब तक हमें उसी बात से सन्तुष्ट रहना है जिसे गुरुदेव रानडे ने अपने जीवन के अन्तिम कुछ दिनों में बार-बार कहा था, "आध्यात्मिक साधना गङ्गा जी की भाँति है जो कुछ काल के लिए तिरोहित हो जाती है और शताब्दियों बाद पुनः प्रकट होती है।"

अनुवादकर्ता

छोटे लाल त्रिपाठी, एम० ए०

इलाहाबाद

—:o:—

२ दर्शन-समीक्षा

श्री रानडे का तत्वदर्शन : आनन्दवाद

संगमलाल पाण्डेय, एम० ए०, साहित्याचार्य दर्शनविभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

१—आनन्द-मीमांसा

शास्त्ररूपेण मीमांसा या सत्य-ज्ञानयोः पृथक् ।
आनन्दस्य ततोऽप्यन्याभिमता रानडे-गुरोः ॥ १ ॥

अधिगम्य गुरोस्तस्मात् तां तु भूरिविचारणाम् ।
तत्त्वदर्शनरूपेण प्रतनोतीह सङ्गमः ॥ २ ॥

प्राच्यप्रतीच्ययोः सात्मा दर्शनयोर्द्वयोरपि ।
यतोऽतो सेव्यमेवैतत् साम्प्रतं विश्वदर्शनम् ॥ ३ ॥

आनन्दः परमं तत्व—मतात्त्विकमथेतरत् ।
आनन्दास्तित्वमस्तित्वं ज्ञानं चानन्दभातता ॥ ४ ॥

किंवा ज्ञानं च सच्चापि पूर्णमानन्दशब्दभाक् ।
आनन्देन तु व्याप्तत्वात् सर्वस्यानन्दता मता ॥ ५ ॥

मानमानन्दसद्भावे नैसर्गिक्येव तत्स्पृहा ।
संशोधिता मतिश्चापि सतामनुभवस्तथा ॥ ६ ॥

इति तेन यथाप्रोक्तं तथैवेहानुभाष्यते ।
मुन्यग्रणीं प्रणम्यामुमं नवज्योतिषमादरात् ॥ ७ ॥

२—आनन्दवाद का प्रथम परिचय

श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे का तत्वदर्शन (Metaphysics) आनन्दवाद (Beatificism) है।

इस तत्वदर्शन का प्रथम परिचय मुझे ३० मार्च १९५४ को हुआ। यद्यपि मैं इसके पूर्व भी श्री रानडे के सम्पर्क में था, तथापि तब उनके तत्वदर्शन से कुछ भी परिचय न था। तब मैं उन्हें भक्त या सन्त के रूप में ही देखता था। उस दिन मैं प्रयाग में उनके निवास-स्थान पर स्वयं मिलने गया था। मेरे अतिरिक्त वहाँ कई और सज्जन उनका सत्संग लाभ कर रहे थे। ब्रह्म के विषय में वार्त्ता हो रही थी। इस प्रसंग में मैंने कहा—"यद्यपि ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण सच्चिदानन्द माना गया है, तथापि ब्रह्म वास्तव में चित् (ज्ञान) ही है। सत् चित् के अस्तित्व का, चिद्रूपतत्व का, बोध कराता है। आनन्द इसी चित् की स्वाभाविक विशेषता है। सत् और आनन्द यदि कुछ हैं तो उन्हें ज्ञात होना पड़ेगा। पर तब वे ज्ञानाकार या ज्ञानात्मक हो जायेंगे। अतः उनकी प्रतिष्ठा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान ही परम तत्व या ब्रह्म है।" स्पष्ट है कि मेरे कथन में कांट की ज्ञान-मीमांसा बोल रही थी।

इसको सुनकर श्री रानडे ने कहा—"यदि केवल ज्ञान परम तत्व हो सकता है, तो केवल आनन्द क्यों नहीं हो सकता? क्या उपनिषदें अन्ततो गत्वा आनन्द को ही परम तत्व नहीं कहतीं? आनन्द ब्रह्म है। आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति"[१] (तैत्तिरीय उपनिषद् ३, ६)।

इतना कहकर वे झट से ध्यान करने के लिए दूसरे कमरे में चले गये। पर उनकी आनन्दमीमांसा का अनुरणन हम लोगों के अन्तःकरण में होता रहा। मुझे तो ज्ञान-मीमांसा की समकक्ष आनन्द-मीमांसा का पदार्थ-पाठ मिला।

इससे मुझे उपनिषद्-ज्ञान मिला। यह ज्ञान कई बार उनकी कृति 'औपनिषद दर्शन की रचनात्मक समीक्षा (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy) को पढ़ने से भी नहीं मिला था। यहीं मुझे उपनिषद् के सच्चे अर्थ का व्यावहारिक ज्ञान हुआ कि यह गुरु के पास बैठ कर उसके मुख से परम तत्व का ज्ञान है।

इस संलाप से श्री रानडे का तत्वदर्शन चित्रवत् स्पष्ट हो जाता है। स्पिनोजा सन्मात्र को परम तत्व या द्रव्य कहते हैं। हेगल चिन्मात्र को परम तत्व मानते हैं। इन दोनों से भिन्न श्री रानडे आनन्द को परमतत्व मानते हैं। हेगल ने स्पिनोजा के सद्रूप

१. अनन्द से ही ये (सभी) भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही उत्पन्न होने के बाद जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।

द्रव्य के बारे में कहा कि सत् को ज्ञाता (विषयी) भी होना चाहिए अन्यथा वह परम तत्व न हो सकेगा क्योंकि ज्ञाता न होने से वह विषय-मात्र है और इस कारण स्वतन्त्र न होकर ज्ञाता के नियन्त्रण में है। यद्यपि स्पिनोजा का द्रव्य अपना ज्ञाता है पर यहाँ ज्ञान सत् से तिरोहित-सा है। हेगल ने उक्त कथन द्वारा स्पिनोजा के परम सत् को सच्चित् मानते हुए उसके चिदंश पर ही विशेष बल दिया। श्री रानडे ने हेगल के इस परम तत्व को भी परमत्व के स्थान से च्युत कर दिया। जैसे सत् ज्ञान की अपेक्षा करता है वैसे ज्ञान आनन्द की। यदि सच्चित् स्वयं आनन्द है तब तो कोई बात ही नहीं है; तब तो वह आनन्द ही हुआ। पर यदि सच्चित् स्वयं आनन्द नहीं है तो वह आनन्द का साधन मात्र है और इस कारण आनन्दोन्मुख है। अतः सच्चित् की पूर्ण स्वतन्त्रता असिद्ध है। सच्चिदानन्द की ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। पर इस सच्चिदानन्द में विशेष बल सत् या चित् पर न होकर आनन्द पर है। जैसे हेगल के सच्चित् के प्रत्यय में प्रधानता चित् (ज्ञान) की है वैसे श्री रानडे के सच्चिदानन्द के प्रत्यय में प्रधानता आनंद की है। जैसे हेगल ने सत् का अन्तर्भाव चित् में किया और परमतत्व के रूप में चित् को ही मान्यता दी वैसे श्री रानडे ने सत् और चित् दोनों का अन्तर्भाव आनन्द में किया। इस प्रकार श्री रानडे का आनन्दवाद उतना ही सर्वाङ्गपूर्ण तत्वदर्शन है जितना स्पिनोजा का द्रव्यवाद और हेगल का विज्ञानवाद (प्रत्ययवाद)। यही नहीं, लगता है कि जैसे स्पिनोजा का द्रव्यवाद हेगल के प्रत्ययवाद में निखरा है वैसे हेगल का प्रत्ययवाद भी श्री रानडे के आनन्दवाद में निखरा है।

३—आनन्दवाद भारत का सनातन दर्शन है।

बाद को कई बार मैंने श्री रानडे से जिज्ञासा प्रकट की कि वे आनन्दवाद के तत्वदर्शन की स्पष्ट व्याख्या करें। इस पर उन्होंने कहा—"आनन्दवाद भारत का सनातन दर्शन है। सभी दर्शनों की मूल शिक्षा आनन्दवाद है। पर उपनिषदों, वेदान्त-ग्रन्थों और सन्तों की बानियों में इस तत्वदर्शन की बड़ी सशक्त भाषा में अभिव्यक्ति हुई है। मैं भी अपने ग्रन्थों में इसी का व्याख्यान करने की चेष्टा करता हूँ।"

इससे स्पष्ट है कि आनन्दवाद हमारे देश का सनातन दर्शन है और श्री रानडे इसी के प्रबल उद्धारक और प्रवर्तक हैं।

पर बड़े महत्व की बात है कि श्री रानडे को छोड़ कर कोई इस सनातन दर्शन की व्याख्या नहीं करता है। वर्तमान भारतीय दार्शनिकों में से प्रायः सभी संस्कृत दर्शन तक ही अपने को सीमित रखते हैं। वे नव्य न्याय के अनन्तर भारतीय दर्शन में किसी नई सर्जना को नहीं जानते हैं। १२वीं शती से लेकर आज तक अविच्छिन्न चली आती हुई सन्त-परम्परा में उन्हें तत्वदर्शन नहीं मिलता है। संस्कृत दर्शन में भी उन्हें आनन्दवादी तत्वदर्शन नहीं मिलता है। वे लोग कुछ योरोपीय दर्शन जैसी भारतीय दर्शन की

काल्पनिक और थोथी व्याख्या करते हैं। ऐसी स्थिति में श्री रानडे ने आनन्दवादी तत्वदर्शन की व्याख्या करने का संकल्प किया था। उपनिषदों की उन्होंने ऐसी व्याख्या की। फिर १२वीं शती से लेकर आज तक चली आती हुई सन्त-परम्परा के दर्शन की भी उन्होंने व्याख्या की। उन्होंने सिद्ध किया कि याज्ञवल्क्य से लेकर महात्मा गान्धी तक सभी भारतीय दार्शनिकों और सन्तों ने आनन्द को परम तत्व मानकर अपने दर्शन की अवतारणा की। यही नहीं; पाश्चात्य दर्शन के आदिम दार्शनिकों के दर्शनों की भी आनन्दवादी व्याख्या श्री रानडे ने प्रस्तुत की जिससे पश्चिम के लोग भारतीय दर्शन को समझ सकें और अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दर्शन के मूल प्रयोजन को सतत ध्यान में रखें।

अत: यद्यपि आनन्दवाद सनातन दर्शन है, तथापि दार्शनिक मत के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री रानडे को दिया जा सकता है।

४—तत्त्वदर्शन या रहस्यवाद ?

कुछ लोग कह सकते हैं—वाह साहब ! सन्तों का सिद्धान्त तो रहस्यवाद है, भक्ति-मार्ग है और इससे तत्वदर्शन का क्या सरोकार हो सकता है ?

ये लोग समझते हैं कि तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों में व्याघात है। रहस्यवाद तत्वदर्शन नहीं हो सकता है। रहस्यवाद मौनवाद है तो तत्वदर्शन निर्वचनवाद। क्या एक दूसरे का विपरीत नहीं है ?

कुछ रहस्यवादी भी तत्वदर्शन की निन्दा करते हैं जैसे कुछ दार्शनिक रहस्यवाद को हेय समझते हैं। श्री रानडे के अनुसार ये दोनों लोग न तो रहस्यवाद को जानते हैं और न तत्वदर्शन को। यदि बुद्धि रहस्यवाद को दर्शन का नाम देना चाहती है "तो अनुभूति (प्रातिभ ज्ञान) उसका प्रत्याख्यान न करेगी।"१ और, "दर्शन (तत्वदर्शन) और धर्म (रहस्यवाद) का आपस में इतना गाढ़ा सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से पृथक कर देने से दोनों निर्बल हो जाते हैं।२

फिर, "रहस्यवाद औपनिषद दर्शन की परिपूर्णता है, यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।३"

---

1. Intuition would not deny to mysticism a title to philosophy if intellect requires it (Pathway to God in H. L., General Introduction, p. 3.)

2. Indeed Yoga and Bhakti, Philosophy and Religion, Karma and Jnana are so intensely connected with each other, that by separating the one from the other, you make both impotent. (Philosphical and Other Essays, P. 176).

3. Mysticism was the culmination of Upanishadic philosophy, as it is the culmination of all philosophies. (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy p. 65).

यदि रहस्यवाद की ओर से देखा जाय तो श्री रानडे का रहस्यवाद उनके दर्शन को अनिवार्यतः सिद्ध करता है। उन्होंने कहा—"सभी रहस्यवादिओं को दार्शनिक होने की जरूरत नहीं है; सभी रहस्यवादिओं को संवेगपूर्ण जीवन बिताने की जरूरत नहीं है। और न सभी रहस्यवादिओं को कर्मठ होने की जरूरत है। पर जहाँ भी सच्चा रहस्यवाद है वहाँ इन तीन शक्तियों में से किसी एक को अवश्य मुख्य रूप से प्रस्फुटित होना है। और जब तक हम किसी रहस्यवादी में इन शक्तियों (ज्ञान, भावना, कर्म) में से कम से कम एक का पूर्ण विकास न देख लें, तब तक हम नहीं कह सकते हैं कि वह रहस्यवादी नाम से अभिहित करने योग्य है।[१]"

श्री रानडे सच्चे रहस्यवादी थे क्योंकि वे प्रखर दार्शनिक थे। उनकी बौद्धिक शक्ति का परिपूर्ण विकास हुआ था। वे ज्ञानदेव, कबीर और सुन्दरदास की भाँति ज्ञानी सन्त थे, दार्शनिक और रहस्यवादी दोनों थे। यदि कोई रहस्यवादी बहुत कर्मठ नहीं है, कलाकार नही है, भावनामय जीवन नहीं बिताता और अन्त में प्रखर बुद्धिवादी भी नहीं है तो उसके रहस्यवादी होने में सन्देह है। स्पष्ट है कि श्री रानडे अधिक कर्मठ और भावनामय जीवन नहीं बिताते थे। वे एकान्त प्रेमी और ध्यान मार्गी थे। पर उनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी और वे सदैव दार्शनिक सर्जनाओं मे ही तल्लीन दीख पड़ते थे। यदि कर्म और भावना की तरह बुद्धि की भी प्रखरता और सक्रियता उनमें न होती, तो वे रहस्यवादी भी, ध्यानमार्गी भी, किस आधार पर होते? श्री रानडे उन रहस्यवादिओं में से एक हैं जिनके रहस्यवाद की आधारशिला उच्चकोटि का दार्शनिक कृतित्व है। अतः उनका रहस्यवाद उनके दर्शन को लक्षित करता है। अच्छी बात यह है कि आनन्दवाद ही उनका रहस्यवाद और दर्शन दोनों है। जिस आनन्द का वे मौन अनुभव करते हैं उसी को वे दार्शनिक रूप भी देते हैं। यदि रहस्यवाद किसी तत्वदर्शन को उपपन्न करता है तो वह आनन्दवाद ही है क्योंकि आनन्दवाद ही आनन्दानुभूति रूप रहस्यवाद के अधिकाधिक समीप है।

दर्शन की ओर से देखा जाय तो श्री रानडे का तत्वदर्शन रहस्यवाद को निष्पन्न करता है। वे कहते हैं कि -"किसी तत्वदार्शनिक सिद्धान्त की सच्चाई और प्रबलता का मानदण्ड यह है कि उसमें जीवन को कितना दिव्य और इस प्रकार कितना निर्वाह-योग्य बनाने की शक्ति है" ।[२] इसके बाद वे फिर कहते हैं, "क्या तत्व है? क्या आत्मन् है?

1. Not all mystics need be philosophers, not all mystics need lead a life of emotion, not all mystics be activists, but wherever true mysticism is, one of these faculties must predominate, and unless we see in a mystic a full-fledged exercise of at least one of these faculties, we may not say that he is entitled to the name of a mystic at all. (Pathway to God in H. L., General Introduction, p. 4).

2. The veracity and the virility of any metaphysical theory is to be gauged by its power of making life more divine and therefore more worthwhile living (A Constructive Survey of U. Phil. preface pp. 415).

इसके विषय में कौन-सा बौद्धिक प्रत्ययन हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए उपनिषद् के दार्शनिक को तत्वदर्शन के अन्तराल में जाना पड़ेगा। और जब कोई बौद्धिक समाधान मिल जाय, तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि उस ज्ञान को व्यवहार में कैसे प्राप्त करना चाहिए, चरित्र का क्या मानदण्ड होना चाहिए जिसके पालन द्वारा कोई ईश्वरत्व को प्राप्त कर ले"।१

दर्शन बौद्धिक प्रत्ययन है। यह आवश्यक नहीं कि सभी दार्शनिक रहस्यवादी हों। वे अर्थशास्त्रमूलक चिन्तन कर सकते हैं, या विज्ञान की समस्याओं पर विचार कर सकते हैं। पर ऐसे भी दार्शनिक हैं जो अपने चिन्तन में अभेद तत्त्व को विशेष महत्व देते हैं। इन्हीं दार्शनिकों का दर्शन अन्ततः रहस्यवाद का रूप धारण करता है। जिस अभेद वस्तु का बौद्धिक प्रत्यय वे प्रथम प्राप्त करते हैं, उसी को वे अपने अनुभव और व्यवहार में उतारते हैं। यही विविदिषा सन्यास मार्ग है। यही वह ज्ञानमार्ग है जो बुद्धि से आरम्भ कर अपरोक्षानुभूति तक विकसित होता है ।

श्री रानडे ने काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन की प्रत्यालोचना करते हुए सिद्ध किया कि "मैं काण्ट के विज्ञानालोचन (Critique of Pure Reason), नीत्यालोचन (Critique of Practical Reason) और निर्णयालोचना (Critique of Judgment) को एक नए अलोचन द्वारा अर्थात् प्रातिभज्ञानालोचन (Critique of Intuition) द्वारा परिपूर्ण करने की आवश्यकता सोचता हूँ।"२ काण्ट स्वयं अपने तीनों आलोचनों में क्रमशः भेद से अभेद की ओर, द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ रहा है। उसके दर्शन का परिपाक उदात्तभावना की सिद्धि में होता है। इसी उदात्त-भावना के समान श्री रानडे की अपरोक्षानुभूति है।३ काण्ट विशुद्ध विज्ञान (Pure Reason) से नैतिक शुद्धिवाद की ओर और नैतिक शुद्धिवाद से ईश्वरवाद की ओर, ईश्वरवाद से धर्मशास्त्र की ओर, धर्मशास्त्र से रहस्यवाद की ओर तथा रहस्यवाद से उग्र अभेद दर्शन की ओर अग्रसर होता है।"४

काण्ट के दर्शन का उदाहरण लेकर इस प्रकार श्री रानडे ने दिखलाया कि कैसे तत्वदर्शन की पराकाष्ठा अभेद दर्शन में होती है। दर्शन के इस पर्यवसान को जो

---

1. What is the Real, what is the Atman, what intellectual construction could he make about it ? An attempt to solve this problem would lead the Upanishadic philosopher into the very heart of metaphysics, and when a certain intellectual solution is arrived at, the next problem would be how practically to attain to that Knowledge, what should be the norm of conduct following which one may hope to "appropriate the Godhead" (A Constructive Survey of U. Phil. PP. 64—65).

२ दार्शनिक प्रथम वर्ष तृतीय अंक १९५५ पृ० २ ।

३. वही पृष्ठ ७

४. दार्शनिक प्रथम वर्ष चतुर्थ अंक १९५४ पृ० ६ ।

दार्शनिक अशक्य समझते हैं, उनके चिन्तन में साहस का अभाव है, वे वाग्जाल पसन्द करते हैं, वे कथनी और करनी में अन्तर रखते हैं, वे बुद्धि के द्वन्द्वों को शान्त करने की चेष्टा नहीं करते और इस कारण द्वन्द्वों के एक पार्श्व को छोड़कर दूसरे पार्श्व को इदमित्थम् मान लेते हैं अथवा दोनों से उदासीन होकर बुद्धि से नीचे इन्द्रियवाद में उतर आते हैं। ये सभी अधकचरे दार्शनिक हैं और व्यर्थ में गम्भीर चिन्तन का बहाना करते हैं।

रहस्यवाद और तत्व दर्शन के मार्मिक भेद को स्पष्ट करते हुए श्री रानडे ने कहा—"रामानन्द ने ईश्वर—दर्शन को कारण और सकल भ्रम की निवृत्ति को कार्य माना है। यह ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का, दर्शन और रहस्यवाद का, विवाद-ग्रस्त विषय है। प्रथम के अनुसार ईश्वरदर्शन तब तक नहीं होगा जब तक कि उसके पूर्व सकल भ्रम-निवृत्ति न हो जाय। द्वितीय के अनुसार जब पहले ईश्वर-दर्शन हो जाता है, तभी सकल भ्रमों की निवृत्ति होती है। रामानन्द ने द्वितीय विकल्प को माना है।१"

इसी प्रश्न को उठते हुए उन्होंने फिर कहा—"भ्रमों का संक्रमण और आत्मसाक्षात्कार दोनों वस्तुओं का कैसा सम्बन्ध है? कौन कारण है और कौन कार्य? यह कहा जा सकता है कि दोनों उसी तरह अन्योन्याश्रित हैं जैसे एक ही सिक्के की दो पीठें। इसलिए एक के बिना दूसरे की प्राप्ति असंभव है। इससे यदि दोनों की प्राप्ति होती है तो वह युगपद् (एकसाथ) ही होगी। मगर यदि हमें उपर्युक्त दो विकल्पों में पसन्द करना हो तो हम कहेंगे कि केवल वही भ्रमों का संक्रमण करने योग्य होगा जिसने पहले आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो। और कोई दूसरा नहीं कर सकता।"२

यहाँ पर श्री रानडे ने तत्वदर्शन और रहस्यवाद का भेद स्पष्ट किया और दोनों के सहसमुच्चय की ओर भी संकेत किया। पर अपना मत अन्त में रहस्यवाद बतलाया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका तत्व दर्शन कुछ नहीं है

---

1. Ramanand here makes the vision of God the cause of which the termination of all delusion is the effect. This is just the point of controversy between the path of Knowelge and the path of Devotion, between Philosophy and Mysticism. According to the one there would be no vision of God unless there is a prior termination of all delusion. According to the other it is only when there is a prior vision of God that all delusion terminates. Ramanand chooses the latter alternative. (Pathway to God in H. L. P. 103).

2. How are the two things related—Transcendence of delusions and the realization of the self ? Which is the Cause and which is the Effect ? It may he said that the two are interdependent like the obverse and the revese sides of the same coin, that neither could be achieved without the other, and that, if at all, the two are achieved simultaneously. If we were, however, to choose between the two alternatives, we would rather say that he who has realized the self will alone be able to transcend the delusions and nobody else (ibid. P. 15).

और वे केवल रहस्यवादी हैं। वस्तुतः यहाँ आत्मा के दर्शन को ही रहस्यवाद कहा गया है। यह आत्मदर्शन तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों है। यह तत्वदर्शन है क्योंकि यहाँ परम तत्व का साक्षात्कार होता है। यह रहस्यवाद है क्योंकि यहाँ अपरोक्षानुभूति होती है।

तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों का साध्य एक ही है। साध्यावस्था में दोनों एक हो जाते हैं। कुछ लोग तत्वदर्शन को केवल साधन मानते हैं और उसके साध्य को रहस्यवाद कहते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग तत्वदर्शन को साध्य मानते हैं और इसके साधन को रहस्यवाद कहते हैं, जैसे, अथ-तत्वदर्शनोपायो योगः, इस सूत्र में तत्वदर्शन को साध्य और उसके साधन को योग या रहस्यवाद कहा गया। वस्तुतः श्री रानडे सदृश जिन दार्शनिकों के लिए रहस्यवाद और तत्वदर्शन अपने-अपने लिए साध्य और साधन दोनों हैं, उनके मत से तत्वदर्शन और रहस्यवाद परस्पर भिन्न होते हुए भी, परस्पर एक-रूप होते हुए भी, एक ही सिक्के की दो पीठें हैं। अतः दोनों स्वतः साध्य और साधन दोनों हैं, उपेय और उपाय दोनों हैं रहस्यवाद निर्वचन का विषय नहीं है। वह अनु-भव और अभ्यास का विषय है। अतः श्री रानडे उसका मौन आस्वादन ही करते हैं। तत्वदर्शन उन तत्वों का निर्वचन है जो रहस्यवाद के आस्वादन को उपपन्न करते हैं। फिर भी, इस विवेचन में रहस्यवाद को तत्वदर्शन का नियामक नहीं बनाया जाता। दर्शन बुद्धि के बल पर स्वतन्त्रेण अपनी विवेचना करता है। श्री रानडे की कृतियाँ दार्शनिक हैं यद्यपि उनकी अनुभूतियाँ रहस्यवादी हैं। रहस्याद और तत्वदर्शन का उन्होंने इस प्रकार न तो क्रमसमुच्चय किया और न तो सहसमुच्चय। वे दोनों को आद्यन्त स्वतन्त्र मानते हैं। उनके इस समुच्चय को विकल्प-समुच्चय कहा जा सकता है।

तत्वदर्शन सिर्फ दर्शन है जब कि रहस्यवाद दर्शन के अतिरिक्त स्पर्शन, श्रवण, संभाषण, घ्राण और रसन भी है। रहस्यवादी को तत्व का दर्शन, स्पर्शन, घ्राण और रसन होता है। इसके अतिरिक्त वह उस तत्व से कुछ नाद या शब्द का श्रवण भी करता है। यही नहीं, वह अपने तत्व से सम्भाषण भी करता है।[१] पर दार्शनिक श्रवण और संभाषण के विषय में तो पूर्ण अनभिज्ञ रहता ही है, वह तत्व के स्पर्शन, घ्राण और रसन से भी वंचित रहता है। वह सिर्फ दर्शन तक अपने को सीमित रखता है। दर्शन भी वह केवल दूर से बुद्धि द्वारा अथवा प्रायेण कल्पना द्वारा करता है। रहस्यवादी का दर्शन बुद्धि या कल्पना द्वारा न होकर साक्षात् होता है। दार्शनिक का दर्शन व्यवहित है और दूर से है। रहस्यवादी का दर्शन अव्यवहित है और अत्यन्त समीप से है।

इस प्रकार देखने से श्री रानडे का यह कथन बिलकुल सत्य लगता है कि रहस्य-

---

१ द्रष्टव्य The Conception of Spiritual life in Mahatma Gandhi p. 76.

वाद दर्शन की परिपूर्णता है। यहाँ उल्लेख योग्य है कि दार्शनिक जिस दर्शन की चर्चा करता है, उसका संकेत उससे बाहर रहस्यवाद की ओर रहता है। दार्शनिक वृत्ति को इसीलिए श्री रानडे रहस्यवाद का प्रेरक मानते हैं। दर्शन रहस्यवाद की प्रेरणा देता है।

इससे तत्वदर्शन को रहस्यवाद का अंगमात्र न समझ लेना चाहिए। जहाँ वह रहस्यवाद का प्रेरक है वहाँ वह रहस्यवाद की समस्त अनुभूतियों का व्याख्याकार भी है। दर्शन रहस्यवादी अनुभूति की पर्याप्त विवेचना करता है। रहस्यवादी को यह विवेचना करनी है अन्यथा उसकी अनुभूतियों में और प्रतिभासों (Hallucinations) में कोई अन्तर नहीं कहा जायगा। श्री रानडे इसीलिए अपने ग्रन्थों की भूमिका में ही ऐसी कसौटियाँ पेश करते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कैसे रहस्यवादी प्रत्यक्ष प्रतिभास से भिन्न है। यह भिन्नता रहस्यवाद नहीं अपितु तत्वदर्शन कराता है। अतः तत्वदर्शन रहस्यवाद का भी व्याख्याता और प्रमाणकर्ता है।

इस तरह जहाँ एक ओर तत्वदर्शन की परिपूर्णता रहस्यवाद है वहाँ दूसरी ओर रहस्यवाद की परिपूर्णता तत्वदर्शन है। इसी से दोनों को आद्यन्त स्वतन्त्र मानते हुए सिक्के की पीठों की तरह अन्योन्याश्रित मानना ही अधिक न्याय-संगत है।

५—आनन्दवादी तत्त्वदर्शन की उपपत्ति—रहस्यवाद

आनन्दवादी तत्वदर्शन के अनुसार परमतत्व आनन्द है। प्रश्न है : कैसे ?

सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रहस्यवादिओं की अनुभूतियाँ आनन्द को ही परमतत्व बतलाती हैं। श्री रानडे की कृतियों में अनेक स्थल पर यह दिखलाया गया है कि रहस्यवादिओं, सन्तों, भक्तों या ऋषियों के अनुसार परमतत्व आनन्द है। यहाँ कुछेक का दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) मुण्डकोपनिषत (२।२।७) में कहा गया है—तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृत यद् विभाति।

इसकी व्याख्या करते हुए श्री रानडे कहते हैं कि "ऋषिगण उसको ज्ञान के प्रकाश से देखते हैं कि वह अमर सत् अपने को आनन्द के रूप में अभिव्यक्त करता है।"[१]

स्पष्ट है कि रहस्यवादी को अपनी समाधि में आनन्द ही मिलता है। उसके अनुभव के आधार पर आनन्द ही परमतत्व है।

1. Sages see Him by the help of the light of knowledge, for he manifests Himself, the Immortal One, in the form of bliss (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy p. 296).

(२) "उपनिषदों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार का अनिवार्य सम्बन्ध आनन्द-लाभ से है। इस आनन्द को सुख (लौकिक सुख) और राग की मात्रा से नहीं नापा जा सकता है। यह अपने प्रकार का विलक्षण अनुभव है।१"

(३) सन्त ज्ञानदेव के अनुसार "आनन्द साधक के पास स्वयं आता है... यह अपने प्रभाव में इतना शक्तिशाली है कि इसको सुनने से ही सांसारिक सत्ता लुप्त हो जाती है और नित्यता हमारे पास स्वयमेव आ जाती है।२" फिर, उनका कहना है कि "सच्चा आनन्द केवल आत्म-दर्शन में ही मिलता है।"३ इसी आनन्द को निरपेक्ष सत् या ब्रह्म कहा जाता है। हमें जो कुछ भी जब कभी भी किसी वस्तु के संयोग से आनन्द मिलता है वह इसी आनन्द का अंश मात्र है। वह जड़ वस्तुओं से जन्य आनन्द नहीं है। वह महज परमतत्व रूप आनन्द है और विषयों के सान्निध्य से वैषयिक प्रतीत होता है। जिस किसी भक्ष्य पदार्थ के आस्वादन में जो भी माधुर्य मिलता है वह गुड़ का ही माधुर्य है, न कि उन-उन पदार्थों का। सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में इसी बात की बड़ी उत्तम व्याख्या की गई है—

आस्वाद्यते यो भक्ष्येषु सुखकृन्मधुरो रसः।
स गुडस्यैव नो तेषां माधुर्यं विद्यते क्वचित्॥
तद्वद् विषयसांनिध्यादानन्दो यः प्रतीयते।
बिंबानन्दांशस्फूर्तिरेवासौ न जडात्मनाम्॥
यस्य कस्यापि योगेन यत्र कुत्रापि दृश्यते।
आनन्दः स परस्यैव ब्रह्मणः स्फूर्तिलक्षणः॥
यथा कुवलयोल्लासश्चन्द्रस्यैव प्रसादतः।
तथानन्दोदयोऽप्येषां स्फुरणादेव वस्तुनः॥
(शङ्कराचार्यकृत सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ६६९-६७२)।

अर्थात्, भक्ष्य पदार्थों में जिस सुखकर मधुर रस का आस्वादन किया जाता है, वह गुड़ का ही रस है। भक्ष्य पदार्थों में कभी माधुर्य रहता ही नहीं है। (क्या माधुर्य का अस्वादन स्वादकर्त्ता के आश्रित नहीं है ? क्या गुड़ का भी रस स्वादकर्त्ता आत्मा का

---

1. Self realiation, according to the Upanishads, is invariably connected with the enjoyment of bliss. This bliss cannot be measured in terms of pleasure and happiness. It is an experience of its own kind. (Contemporary Indian Philosophy, edited by S. Radhakrishnan, 2nd edition, p. 556).

2. It comes of itself to the seeker.........It is so powerful in its effects that at the hearing of it the worldy existence ceases and eternity forces it self upon us. (Mysticism in Maharastra. p. 121).

3. True bliss is to be found only in self-vision (ibid. p. 175).

रस नहीं है ? यहाँ सभी रसों को पहले गुड़ का रस बताया गया है। तदनन्तर गुड़ भी वस्तुजात में आ जाने के कारण स्वयं रस शून्य है और इसका रस भी आनन्दानुभूतिरूप आत्मा का ही रस है—यह व्यक्त करने का लक्ष्यार्थ है)। इसी तरह, विषयों के सांनिध्य से जो आनन्द मिलता है, वह मूल आनन्द (परमतत्व) का ही विस्फुरण है। वह जड़ वस्तुओं का गुण या परिणाम नहीं है। (इससे सिद्ध होता है कि अन्ततः गुड़ का माधुर्य भी परमतत्व आनन्द का ही विस्फुरण है)। जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध से जहाँ कहीं भी आनन्द देखा जाता है, वह स्फूर्तिलक्षण आनन्द परमतत्व (आनन्द) का ही है। जैसे कुमुदिनियों का उल्लास (स्फूर्ति) चन्द्रमा के प्रसाद (प्रसन्नता, स्फूर्ति) से उदय होता है वैसे समस्त वस्तुओं का आनन्दोदय परम आनन्दरूप वस्तु का ही स्फुरण है।

(४) सन्त दादू के पद "राम रस मीठा रे" की व्याख्या करते हुए श्री रानडे ने कहा कि दादू ने "सो रस ही रहा समाय" कहकर बड़ा महत्त्वपूर्ण ज्ञान दिया है। दादू के कथन का अभिप्राय है कि भगवान् और भक्त अन्ततो गत्वा नही रहते, तब केवल रस ही रहता है। उपनिषद् भी "रसो वै सः" कहकर इसी को व्यक्त करते हैं। इस रसवाद का अन्तिम निष्कर्ष यही होगा कि केवल रस ही परमतत्व है, रस के आदाता (भोक्ता) और प्रदाता दोनों अनित्य हैं।[1]

इसका आशय हुआ कि रहस्यवादी को आनन्द ही परम तत्व है, यह अनुभव होता है। वह इस आनन्द के भोक्ता और दाता दोनों को इस आनन्द में लय होते देखता है।

(५) सन्त मौला के निम्नलिखित अनुभव में भी श्री रानडे को आनन्द ही परम तत्व ज्ञात हुआ—

---

1. Dadu tells us that he who partakes of the Divine Juice becomes one with the Juice itself : सो रसहि रहा समाय This is a great idea and its implieations we must examine a little. God is the source of this Rasa; the Rasa is the quality which oozes from Him; and the saint receives it and enjoys it to his heart's contents. The Triputi of God, flavour and Saint is exactly on a par with the Vedantic Triputi—ज्ञेय, ज्ञान and ज्ञाता. The implication of Dadu's utterance is that God and devotee would cease to exist, and only the Rasa would remain. This is exactly as the Vedantins would put it. ज्ञाता and ज्ञेयम् would vanish and ज्ञानम् alone would remain. these are illustrtions of what we may call Triputi Laya in Mysticism and Metaphysics. The same idea has been brought forth with great force in that cryptic utterance from the Upanishads, रसो वै सः the ultimate upshot of flovourism would thus be that flovour alone would remain, neither he who imports the flovour, nor he who receives it. (Pathway to God in H. L. PP. 230—231)—

आनन्द नहाया, बन्दा खुदा, दोनों बिसर गया।
बे नाम का नाम होकर, रहटाना राहा ॥१

इस प्रकार ऋषियों और सन्तों के अनुभवों से सिद्ध होता है कि आनन्द ही परमतत्व है। ब्रह्मभाव, ईश्वर-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार, मोक्ष, अपरोक्षानुभूति, सभी वस्तुतः आनन्द-लाभ हैं। वेदान्त में भी इसी सिद्धान्त की मान्यता है—

आनन्दघनतामस्य स्वरूपं प्रत्यगात्मनः।
धन्यैर्महात्मभि र्धी रै ब्रह्मविद्भिः सदुक्तैः॥
अपरोक्षतयैवात्मा समाधावनुभूयते।
केवलानन्दमात्रत्वेनैवमत्र न संशयः ॥२

अर्थात् उत्तम, धीर, ब्रह्मवित् महात्माओं द्वारा समाधि में अपरोक्षानुभूति द्वारा केवलानन्द के रूप में ही परमतत्व का अनुभव होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस आनन्द या रस को काव्यगत रस तथा इसके समान अन्य रसों से भिन्न दिखाते हुए श्री रानडे ने कहा कि उपनिषद्-वाक्य 'रसो वै सः' में रस पद से तत्वदर्शन या रहस्यवाद का रस अभिप्रेत है। कविता का रस, फिर चाहे वह भक्ति-काव्य का ही रस क्यों न हो, ईश्वररूप-रस की अस्पष्ट प्रतिच्छाया है।३

अतः यदि रहस्यवादिओं के अनुभव को प्रमाणित माना जाय, उनकी बानी को ठीक समझा जाय, उनकी मनोवैज्ञानिक मुद्रा को ठीक देखा जाय, उनके जीवन को अच्छी तरह समझा जाय, तो निःसन्देह ज्ञात होगा कि उनके अनुसार आनन्द ही परमतत्व है। आनन्द उनका गुण या भावना नहीं है। आनन्द ईश्वर, आत्मा या ब्रह्म का गुण नहीं है। आनन्द न द्रव्य है न गुण। आनन्द स्वयं परम सत् है। वह गौण न होकर प्रधान है।

यहाँ पर कुछ लोग पूँछ सकते हैं कि श्री रानडे ने केवल शब्द-प्रमाण के बल पर आनन्द को परम सत् सिद्ध किया कि स्वानुभूति द्वारा भी इसको सिद्ध किया? इसके उत्तर में श्री रानडे का कहना है कि उन्होंने केवल उन्हीं सन्तों के उन्हीं अनुभवों की व्याख्या की है जिनका अनुभव वे स्वयं कर चुके हैं। उनके लिए सन्तों की उपर्युक्त अनुभूतियाँ शब्द-प्रमाण न होकर स्वानुभूति थीं। हो सकता है कि "महाराष्ट्र के रहस्यवाद" (Mysticism in Maharashtra) में कुछ ऐसी भी अनुभूतियों का व्याख्यान

---

1. Pathway to God in H. L. P. 249,

2, शंकराचार्य कृत सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह ६६६—६६७॥

3. रसौ वै सः, says the Upanishad. This is रस or Metaphysics in Mysticism. The Rasa of poetry and even of spiritual poetry is but a faint echo of Rasa as God. (परमार्थसोपान परिशिष्ट २ पृ० ४)।

हो जो श्री रानडे के लिए अनुभूत न होकर केवल साध्य हों। यह ग्रन्थ उनकी तरुणावस्था में रचा गया था। इसमें शास्त्रीय शैली से व्याख्यान अधिक मिलता है। इससे बहुत कुछ इस वचन में सच्चाई प्रतीत होती है कि इस ग्रन्थ में उद्धृत कुछ अनुभूतियाँ उनके अनुभव की नहीं भी हो सकतीं। पर यही बात परमार्थ-सोपान और पाथवे टु गाड (Pathway to God in Hindi Literature) के बारे में नहीं कही जा सकती है। यहाँ हिन्दी के समस्त सन्तों की समस्त बानियों की व्याख्या नहीं की गई है। ये ग्रन्थ शास्त्रीय शैली से नहीं रचे गये हैं। इनकी अनुभूतियाँ श्री रानडे की भी अनुभूतियाँ थीं ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। उनका स्वयं कहना है—"मैं कह सकता हूँ कि इस संग्रह का प्रधान लक्ष्य मेरे आध्यात्मिक विकास में मदद देना है, यह स्वान्तः सुखाय रचा गया है।"[१]

इस प्रकार शब्द प्रमाण की चर्चा छोड़ कर स्वानुभूति के बल पर यह सिद्ध होता है कि आनन्द ही परमतत्व है। अब देखना है कि बुद्धि को क्या कहाँ तक ग्राह्य है।

६—आनन्दवाद के लिए बौद्धिक युक्तियाँ

सामान्य मानवों के अनुभव में भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आनन्द परमतत्व है। इन प्रमाणों में से निम्नलिखित उल्लेख योग्य हैं—

(१) सभी देहियों को इष्ट वस्तु के ध्यान, दर्शन आदि से तथा उपभोग में आनन्द की प्रतीति होती है।[२] यह आनन्द वस्तुओं का गुण नहीं है क्योंकि यह मन में उपलब्ध होता है। यदि वस्तुओं का गुण होता तो मन में कैसे उपलब्ध होता ?[३] फिर, यह मन का भी गुण नहीं है क्योंकि इष्ट वस्तु के न मिलने पर यह मन में उपलब्ध नहीं होता।[४] आत्मा का भी यह गुण नहीं है क्योंकि आत्मा तो निर्गुण है।[५] अतः आनन्द गुण नहीं है। यह साक्षात आत्मा ही है।

---

1. I may say that the selection was made primarily to help my own spiritual development, स्वान्तःसुखाय, as Tulsidasa would put it (परमार्थ सोपान, Preface p. 8).

२. इष्टस्य वस्तुनो ध्यानदर्शनाद्युपभुक्तिषु।
प्रतीयते य आनन्दः सर्वेषामिह देहिनाम्॥ —(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ६४०)।

३. स वस्तुधर्मो नो यस्मान्मनस्येवोपलभ्यते।
वस्तुधर्मस्य कथं स्यादुपलंभनम्। — वही श्लोक ६४१।

४. नाप्येष धर्मो मनसोऽसत्यर्थे तददर्शनात्। —वही श्लोक ६४३।

५. तस्मान्न मानसो धर्मो निर्गुणत्वान्न चात्मनः। — वही श्लोक ६४६।

(२) सामान्य लोगों के अनुभव में दो प्रकार का आनन्द आता है। एक प्रकार का आनन्द सावधिक है और दूसरे प्रकार का निरवधिक। प्रायः सावधिक आनन्द उपलब्ध होता रहता है। यह आता जाता रहता है। यह आगन्तुक और क्षयिष्णु है। विभिन्न सावधिक आनन्दों में तारतम्य भी सब को दीख पड़ता है। कोई सावधिक आनन्द विशुद्ध नहीं रहता है। भोग और भोगान्त दोनों समयों में यह दुःख से संपृक्त रहता है। इसका उपभोग करके भी आनन्द के उपभोग की इच्छा अतृप्त रहती है।

सावधिक आनन्द के इन प्रत्यक्ष अनुभवों से प्रत्येक मनुष्य निरवधिक आनन्द की तर्कना करता है। वह इस आनन्द को निरतिशय आनन्द की संज्ञा देता है और इसे निरवधिक अर्थात् नित्य मानता है। इसी को वह प्राप्त कर कृतकृत्य होना चाहता है। इसकी कल्पना मात्र से उसे इतना आनन्द मिलता है कि वह इसे मुख्य या मूल आनन्द की संज्ञा देता है और अपने सावधिक आनन्दों को केवल गौण, आभास या प्रतिबिंब मात्र मानता है। वह तर्क करता है कि क्या आभास या प्रतिबिंब अपने मूल बिंब को लक्षित नहीं करता ? क्या सातिशय और सावधिक आनन्दों का तारतम्य निरवधिक और निरतिशय आनन्द को लक्षित नहीं करता ?

यही नहीं, निरतिशय आनन्द की कल्पना करके मनुष्य सोचता है कि उसका सातिशय क्षयिष्णु आनन्द वस्तुतः आनन्द नहीं है। वह इतना अल्प है कि उसे आनन्द नहीं कहा जा सकता। फिर यह दुःखसंपृक्त और दुःखावसायी है। इससे भी उसे आनन्द कहना अनुपयुक्त है। आनन्द तो वही हो सकता है जो अजर-अमर और अनन्त हो। उसी को प्राप्त करना है। छान्दोग्योपनिषद् (७-१३-१) में इसी मानवी विनिगमना का अच्छा विवरण है—

यो वै भूमा तद् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखं। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।

अर्थात्

जो निश्चित ही अनन्त है वही सुख है। अल्प वस्तु में सुख नहीं है। भूमन् ही सुख है। भूमन् को ही अतएव जानना चाहिए। (यदि सुख पाना हो तो।)

इस प्रकार परिमित सुख के लिए आनन्दपद का व्यवहार नहीं होता है। अपरिमित तथा नित्य सुख ही आनन्द है। सभी प्राणिओं को जो सातिशय क्षयिष्णु आनन्द मिलता रहता है वह वस्तुतः इसी का विस्फुरण मात्र है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।३२) में इसी की अभिव्यक्ति की गयी है—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति अर्थात् इसी आनन्द की मात्रा मात्र (विस्फुरण मात्र) से सभी प्राणी जीते हैं।

(३) क्रिया या कर्म की दृष्टि से देखने पर भी सुख परम तत्त्व सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषत् (७-१२-१) में इस लोकानुभव को अच्छे शब्दों में बतलाया गया है :—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति।
सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।

अर्थात्

कोई प्राणी जब सुख पाता है, तभी वह क्रिया करता है। असुख पाकर कोई कर्म नहीं करता। सुख पाकर ही वह कर्म करता है। अतः सुख को ही जानना चाहिए।

इसी युक्ति को श्री रानडे ने यों प्रस्तुत किया है : -

"सुख सभी प्रकार का कृति का उत्स है। कृति निष्ठा का कारण है। निष्ठा श्रद्धा का कारण है। जब कोई श्रद्धा करता है तो वह मनन करता है। जब वह मनन करता है तो वह विज्ञान प्राप्त करता है। जब वह जानता है (विज्ञान प्राप्त करता है) तो वह सत्य को पाता है"।१

तत्त्वदर्शन की दृष्टि से यह अवतरण अत्यन्त उल्लेखयोग्य है। आधुनिक युग में उपयोगवादी दार्शनिकों (Pragmatic Philosophers) ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कृति (क्रिया) मौलिक तत्त्व है। धर्म, श्रद्धा, मति, विज्ञान तथा सत्व इसी से नियन्त्रित हैं। ये किसी न किसी प्रकार की कृति से ही आविर्भूत होते हैं। उपनिषद् के दार्शनिक सनत्कुमार की भाँति श्री रानडे इस बात पर जोर देते हैं कि कृति (क्रिया) का भी उत्स सुख (आनन्द) है। आनन्द के बिना कृति हो ही नहीं सकती। अतः आनन्दवाद उपयोगवाद (Pragmatism) तथा अन्य कृतिवाद का भी आधार है।

(४) प्रेम की दृष्टि से देखने पर भी आनन्द परमतत्त्व सिद्ध होता है।

सुख के हेतुओं में सब का प्रेम सावधिक देखा जाता है। प्राणिओं का अपनी आत्मा के प्रति प्रेम कभी भी सावधिक नहीं होता। क्षीणेन्द्रिय हों, जीर्ण हों, मरणासन्न हों, फिर भी प्राणिओं को जीने की आशा रहती है। इससे स्वात्मा ही प्रियतम मानी गयी है। आत्मा ही सभी शरीरधारियों का परम प्रेमास्पद है। इसी का अंग होने के कारण सब कुछ उपादेय (उपयोगी) होता है। यही आत्मा पुत्र से, धन से, अन्य सभी वस्तुओं से अधिक प्रिय है। प्रिय रूप से ही वही माना जा सकता है जो

---

1. Happinss... is the spring of all action; action is the cause of faith; faith, of belief; when a man believes he thinks; when he thinks, he knows, and when he knows, he reaches the truth. (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P. 53).

मनुष्यों का कभी भी अप्रिय न हो, जो संपत्ति और विपत्ति में समान रूप से प्रिय हो। ऐसी वस्तु केवल आत्मा है। अतः वही प्रिय है या प्रेष्ठ (सबसे प्रिय) है। सभी प्रवृत्तियाँ, निवृत्तियाँ या चेष्टायें इसी आत्मा के लिए ही की जाती हैं, अन्य वस्तु के लिए नहीं। अतः इस कारण से भी आत्मा प्रियतम है।१ फिर वह प्रियतम अथवा परमप्रेमास्पद होने के कारण सुखरूप है।२ और सुखरूप होने के कारण आनन्द ही है३।

इसी कारण आनन्द को निरुपाधिक इष्टता कहा जाता है। यह निरुपाधिक या निरवधिक अभीष्टता या प्रेम है।

(५) यदि आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण मनोविज्ञान की दृष्टि से किया जाय तो ज्ञात होगा कि आनन्द ही आत्मा है। आत्मा क्या है ? यह वह अव्यभिचारी तत्त्व है जो सभी वृत्तियों का साक्षी है। जाग्रत और स्वप्न में नाना वृत्तियाँ रहती हैं। सुषुप्ति में कोई भी वृत्ति नहीं रहती। यदि वृत्ति मात्र के साक्षी को ही आत्मा माना जाय तो सुषुप्ति में आत्मा का अभाव सिद्ध होगा। वैसा होने पर सोने के पूर्व और सोने के बाद की वृत्तियों का समीकरण (तुलनादि) असंभव हो जायगा। व्यक्तित्व की एकता भी असिद्ध हो जायगी। स्मृति असंभव होगी। अतः इन सब दोषों को दूर करने के

---

१. सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते।
कदापि नावधिः प्रीतेः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित् ॥
क्षीणेन्द्रियस्य जीर्णस्य संप्राप्तोत्क्रमणस्य वा।
अस्ति जीवितुमेवाशा स्वात्मा प्रियतमो यतः ॥
आत्मातः परमप्रेमास्पदः सर्वशरीरिणाम्।
यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति ॥
एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि।
अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥
प्रियत्वेन मतं यत्तु तत्सदा नाप्रियं नृणाम्।
विपत्तावपि संपत्तौ यथात्मा न तथापरः।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम्।
आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमः परः।

× × ×

तस्मादात्मा केवलानन्दरूपो यः सर्वस्माद्वस्तुनः प्रेष्ठ उक्तः।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह—६२४—६३१।

२. परमप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः वही ६२३।

३. आत्मनः सुखरूपत्वादानन्दत्वं स्वलक्षणम्। वही ६२३।

लिए सुषुप्ति में आत्मा के अस्तित्व को मानना पड़ता है। पर वहाँ वृत्तियों का अभाव है। अतः यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा वृत्ति-सापेक्ष नहीं है।

सुषुप्ति में सोने वाला केवल आनन्द की अनुभूति करता है। जागने पर वह अपने अनुभव को व्यक्त भी करता है—मैं सुखपूर्वक सो गया था। बेचैन होने पर मनुष्य कह भी उठता है—मुझे आराम करने दो और इसलिए सो जाने दो। इन अनुभवों से सिद्ध है कि सुषुप्ति में आनन्दानुभूति ही रहती है। अतः वही आत्मा है। जाग्रत और स्वप्न में भी वही विद्यमान रहती है यद्यपि इन अवस्थाओं में वह वृत्तियों की साक्षी भी है। पर जहाँ वृत्तियाँ आगन्तुक और क्षयिष्णु हैं वहाँ आनन्दानुभूति स्वप्न तथा जाग्रत और सुषुप्ति में सर्वदा विद्यमान रहती है।

७—आनन्द के स्वरूप पर शङ्का और उसका समाधान

आनन्द को परम तत्त्व न मानते हुए व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत में आनन्द की आलोचना की है। उनका कहना है कि आनन्द की विचारणा हम निम्नलिखित आठ प्रकार से कर सकते हैं—

१. आनन्द जातिविशेष अर्थात् एक सामान्य प्रत्यय है।
२. आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय है।
३. आनन्द अनुकूल वेदना ही है।
४. आनन्द अनुकूलता मात्र है।
५. आनन्द ज्ञानात्मक है अर्थात् आनन्द ज्ञान है।
६. आनन्द दुःख का विरोध है।
७. आनन्द दुःख के अभाव से उपलक्षित कोई वस्तु है।
८. आनन्द पराङ्गीकृत है - अर्थात् किसी वस्तु का अंग या विशेषण है।[1]

किन्तु इनमें से एक भी मत ठीक नहीं है। देखिए—

१. आनन्द कोई जाति विशेष या सामान्य प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि आनन्द को अखण्डस्वरूप माना जाता है। अखण्डस्वरूप आनन्द की कोई जाति हो ही नहीं सकती।

२. आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय नहीं हो सकता, क्योंकि आनन्दानुभूति में अनुभवकर्त्ता का अभाव बतलाया जाता है और इसे अवेद्य (अविषय) भी कहा जाता है। फिर, अनुकूलता को किसी वस्तु की अपेक्षा रहती है। पर वादी के मत में आनन्द को अपने से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा हो ही नहीं सकती, क्योंकि आनन्द

१. द्रष्टव्य अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती) ज्ञानत्वाद्युपपत्ति-अधिकरण।

से भिन्न कोई वस्तु स्वीकृत ही नहीं है। पर अगर कहा जाय कि आनन्द अपने प्रति ही सापेक्ष होकर अनुकूलता को सिद्ध करता है, तो नहीं बनेगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में आनन्द सखण्ड और सविशेष हो जायगा जो कि वादी को स्वीकार नहीं है। अतः आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय नहीं हो सकता।

३. उपर्युक्त कारण से आनन्द अनुकूलवेदना भी नहीं है। अन्य कारण, अनुकूल वेदना होने पर अधिक अनुकूलता होने से आनन्द को भी अधिक होना पड़ेगा। यदि आनन्द का अधिक होना स्वाभाविक है तो फिर वह सविशेष होगा। पर सविशेष आनन्द वादी को मान्य नहीं। यदि आनन्द का अधिक होना औपाधिक है, तो किसी स्थिति में आनन्दमात्र की निवृत्ति हो जायगी। पर यह तो वादी को स्वीकार ही नहीं हो सकता। अतः आनन्द अनुकूल वेदना नहीं है।

४. चूँकि ऊपर अनुकूलता का ही आनन्द के साथ असामंजस्य देख लिया गया है, इसलिए आनन्द अनुकूलतामात्र भी नहीं हो सकता। इस प्रकार आनन्द निरुपाधिक इष्टता भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुकूलता का ही आधिक्य है।

५. आनन्द ज्ञानात्मक नहीं हो सकता क्योंकि तब दुःखादि का ज्ञान भी आनन्द हो जायगा। यदि कहा जाय कि ज्ञान विषयानुल्लेखि (विषयों से असंग या अलिखित) है, तो ठीक नहीं है। ज्ञान सविषय होता है। अतएव वह अपने विषय से लिखित भी है।

६. आनन्द दुःख का अभाव (विरोध) भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि आनन्द दुःख का अभाव है और वही एकमात्र सत्य है जैसा है कि वादी कहता है तो फिर दुःख को नित्य निवृत्त होना पड़ेगा। पर ऐसा अनुभव से असिद्ध है। फिर, यदि आनन्द दुःख का विरोध है तो उसे पटादि में भी वर्तमान होना पड़ेगा क्योंकि उनमें भी दुःख का अभाव है।

७. आनन्द को दुःख के अभाव से उपलक्षित मानने पर यह अपुरुषार्थ हो जायगा। दुःखाभावोपलक्षित परम अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह विधायक नहीं है। निषेध के लिए कोई क्यों कार्य करेगा? अतः आनन्द को ऐसा मानने पर वह पुरुषार्थ (Value) न हो सकेगा। वैशेषिक मुक्ति की भाँति तब आनन्द भी प्रतिषेधमात्र होगा।

८. यदि आनन्द को अङ्ग या विशेषण माना जाय तो उसे सविशेष, सखण्ड, अनुभवकर्त्ता से भिन्न, आदि मानना पड़ेगा जो कि वादी को मान्य नहीं। अतएव आनन्द पराङ्गीकृत (गौण) नहीं हो सकता।

इस प्रकार अद्वैतवादी आनन्द का निर्वचन असंभव है। अतः वह व्यर्थ है।[१]

इन शंकाओं का उत्तर मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अच्छे ढंग से दिया

---

१. द्रष्टव्य वहीं।

है। उनका निष्कर्ष है कि आनन्द परमप्रेमास्पद के रूप से वेद्य है, सुखवेदना में भेद नहीं है, वेदनारूप से होने के कारण असुखत्व अनुपपन्न है।[१]

व्यासतीर्थ ने आनन्द को भावना विशेष या प्रत्यय विशेष के रूप में जानने की कोशिश की है। आनन्द मनोवृत्ति नहीं है। यदि वह मनोवृत्ति होता तो व्यासतीर्थ की आलोचना ठीक थी। पर वह ऐसा है नहीं। अतएव व्यासतीर्थ की आलोचना अर्थान्तरकल्पना (Ignoratio Elenchi) दोष से दुष्ट है। छठें विकल्प को छोड़ कर अन्य सभी विकल्पों की आलोचना वादी को मान्य है। वादी स्वयं चाहता है कि आनन्द का ग्रहण इन-इन विकल्पों से न किया जाय। इसलिए वह कहता है कि यहाँ तक व्यासतीर्थ ठीक हैं। पर जब वे कहते हैं कि आनन्द ज्ञानात्मक नहीं है तो वे भयंकर भूल करते हैं। उन्होंने ज्ञान को सर्वदा सविषय ही माना है। पर यह कोई नियम नहीं है। ज्ञान अविषय भी होता है, वह अपरोक्ष भी होता है, वह वेदनामात्र भी है। आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान ऐसा ही अविषय ज्ञान है। यह ज्ञान विषयानुल्लेखि है। इसी ज्ञान की भूमिका में सभी विषय होते हैं। अर्थात् आत्मा विषयानुल्लेखि है और विषय आत्मपूर्वक हैं।

अगर कहा जाय कि आनन्द को ज्ञानात्मक मान लेने पर दुःख भी आनन्द होगा, तो ठीक नहीं है। दुःख और सुख (परिमित सुख) स्वयमेव आनन्द नहीं हैं। इन दोनों का ज्ञान चिदात्मक होने से आनन्द हैं। गौडब्रह्मानन्दीकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने ठीक कहा है—

विषयानुल्लेखिज्ञानं स्वसमसत्ताको विषयसंबन्धो यत्र तदन्यो ज्ञानपदप्रयोग-विषयः। दुःखज्ञानमपि चिदात्मकत्वात् आनन्द एव।

फिर, दुःखाभाव का ज्ञान भी चिदात्मक होने से आनन्द है। वह (दुःखाभाव) लवसुख है। दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वात्।[२]

विषयानुल्लेखिज्ञान और आनन्द एकार्थक होने के कारण अभिन्न हैं।

> प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः
> अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥[३]

अर्थात्

प्रत्यग्बोध अद्वयानन्द है और अद्वयानन्द प्रत्यग्बोध है।

हम 'सत्तैव बोधः। बोध एव सत्ता', इस सिद्धान्त को ज्ञानमीमांसा का परम

---

१. परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्यत्वात्; सुखवेदनभेदाभावात्, वेदनाभावेन असुखत्वापादानुपपत्तेः (वहीं)।

२. वहीं।

३. वाक्यवृत्तिः, शंकराचार्य, श्लोक ३६।

सिद्धांत मानते हैं। फिर इसी के बाद हमें इसका पूरक ज्ञान "बोध एवानन्दः। आनन्द एव बोधः, यह होना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा की परिणति आनंदमीमांसा में होनी आवश्यक है।

इस प्रकार व्यासतीर्थ ने अपरोक्षानुभूति या अपरोक्ष वेदना की आलोचना नहीं प्रस्तुत की। यही अपरोक्षानुभूति आनन्द है। यह विषयानुल्लेखि ज्ञान है। इसी को हम आत्मा कहते हैं। निर्विषय वेदना होने के कारण ही निरुपाधिक सुख है और अतः इष्ट है। इसलिए निरुपाधिक इष्टता आनन्द है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

८— सृष्टि-चिन्ता

सामान्यतः आनन्द को भोक्ता, भोग और भोग्य इन त्रिविध रूपों में विभक्त कर दिया जाता है और समझा जाता है कि यह त्रिपुटी शाश्वत है। श्री रानडे अपने तत्त्व-दर्शन में इस त्रिपुटी के लय की चर्चा करते हैं। लय का अर्थ नाश नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि भोक्ता, भोग और भोग्य तीनों नष्ट होकर एक हो जाते हैं। त्रिपुटी-लय के सिद्धांत में दो बातें हैं। पहली, भोक्ता और भोग में पूर्ण अभेद या तादात्म्य है। भोक्ता ही भोग है जैसे ज्ञानमीमांसा में ज्ञाता ही ज्ञान है। दोनों का भेद मिथ्या है। दूसरी, आनन्द-भोग और उसके भोग्य में अन्तर है यद्यपि भोग्य सदैव भुज्यमान होने के कारण आनन्द से अनन्य है। आनन्द अपने भोग्य में सर्वान्तर है। भोग्य भोक्ता से व्याप्त है। चूँकि भोक्ता के अभाव में भोग्य अनुपपन्न है, अतः भोक्ता को भोग्य की आत्मा (सर्वस्व) कहा जाता है। इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि भोग्य भोक्ता की अपेक्षा करता है।

प्रश्न है कि क्या भोग्य भोक्ता से अभिन्न है ? उत्तर यह है कि भोक्ता और भोग में जिस प्रकार अभेद है वैसा अभेद भोग और भोग्य में नहीं है। भोग और भोग्य के सम्बंध को अभेद सम्बंध से भिन्न अनन्य-सम्बंध कहा जाता है। इसका आशय यह हुआ कि यह भोग्य भोक्ता से अन्य नहीं हैं तथापि वह भोक्ता से भिन्न और स्वतन्त्र है। उसको उसके स्वतन्त्र रूप में हम जान नहीं सकते। उसे हम जिस रूप में जानते हैं वे भोक्ता से अन्य नहीं हैं।

भोक्ता सदैव भोग्य को भोगता रहता है। इसके भोग्य की वस्तुओं को हम सृष्टि कहते हैं। श्री रानडे सृष्टि को संभूति (Emanation) के अर्थ में लेते हैं।[१] प्रथम आकाश सम्भूत होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप्, अप् से पृथ्वी पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से अन्नरसमय पुरुष संभूत होता

1. It is important to remember that the expression used in the passage to designate the fact of emanation is Sambhutih—A Constructive Survey of Up. phil. p. 98.

है।१ आकाश भी आनन्दात्मक है अन्यथा इसका भासन, गति करना या अवकाश देना असंभव हो जाय। इसी प्रकार प्रत्येक संभूत पदार्थ आनन्दात्मक है।

सभी पदार्थों को आनन्दात्मक मानने के ही कारण सांख्य दर्शन में समस्त पदार्थों की जननी प्रकृति को सुखरूप सत्त्वगुण, दुःखरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण की साम्यावस्था कहा जाता है। सुख, दुःख और मोह की साम्यावस्था से आनन्द को लक्षित किया जाता है। प्रकृति भोग्य वस्तु है ऐसा सांख्यक मानता है। इसलिए उसे कहना चाहिए था कि प्रकृति भोगात्मक (आनन्दात्मक) है। पर उसने आनन्द को वेदना रूप से समझने के बजाय अनुकूलता रूप से लिया और फिर प्रकृति को भोक्ता के आनुकूल्य (साम्य) कहने के बजाय इसको अपने में ही साम्य माना। इन दृष्टियों के कारण प्रकृति को भोग्य मानते हुए भी उसने इसे भोक्ता (पुरुष) से अनन्य नहीं माना। पर ये दृष्टियाँ भ्रान्त हैं। अतएव प्रकृति को आनन्दात्मक ही कहना युक्तिसंगत है।

भोग्य वस्तु इस प्रकार भोक्ता से भिन्न स्वीकृत है यद्यपि अन्य नहीं। पर इस भिन्नता का अर्थ यह नहीं है कि भोग्य भोक्ता से भिन्न रहता है। वह भिन्न रह सकता है। वस्तुतः भोक्ता से निरपेक्ष होकर भोग्य क्या है? क्या वह सत्य है? या असत्य है? या उभय है?

इस प्रश्नावलि के प्रसंग में श्री रानडे के दर्शन में कुछ विकास दृष्टिगोचर होता है। पहले वे सत्यता के तारतम्य के सिद्धांत को मानते थे।२ इससे वे भोग्य को भी भोक्ता से स्वतन्त्र मानने को तैयार हैं। पर बाद को उन्होंने इस प्रश्नावलि का दूसरा उत्तर दिया। उन्होंने तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों को ठीक समझा—

> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
> तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम जो आपुहि पहिचानै।३

इस प्रकार श्री रानडे का अन्तिम सिद्धांत यह है कि जगत् को सत्य, असत्य या दोनों मानना भ्रम है। तीनों भ्रम का निराकरण होता है। यहाँ इसका दो अर्थ हो सकता है। एक अर्थ तो यह है कि जगत् के बारे में सभी तत्त्वदार्शनिक धारणायें भ्रम हैं और जगत भी भ्रम है। दूसरा यह अर्थ हो सकता है कि यद्यपि जगत् के बारे में सभी धारणायें भ्रम हैं तथापि जगत् भ्रम नहीं है। जगत् सत् है पर उसका ग्रहण नहीं हो सकता। मौन

---

१. द्रष्टव्य तैत्तिरीयोपनिषद २/१

2. Greater reality than the reatity of the world of illusion belongs to the world of dream. Greater reality than the reality of the world of dream belongs to the world of life; greatar reality than the reality of the world of life belongs to the world of self or God or the Absolute, which are all ultimately identical with one another (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P. 232)

3. द्रष्टव्य Pathway to God in H. L. P. 14.

भाव से उसकी सत्ता की ओर संकेत ही किया जा सकता है। यह दृष्टि माध्यमिक बौद्धों की दृष्टि है। यह पता लगाना कठिन है कि श्री रानडे का कौन सा मत था। अनुमान करने पर यही ज्ञात होता है कि उनका मत पहला था। इसकी पुष्टि उनके एक मत से होती है। वह मत यह है कि विदेहमुक्ति जीवन्मुक्ति का विकास है।१ जीवन्मुक्ति में भोक्ता और भोग्य शरीर दोनों रहते हैं, विदेह मुक्ति में भोग्य शरीर नहीं रहता। विदेह-मुक्ति को जीवन्मुक्ति से उच्च मानने के कारण लगता है कि श्री रानडे के मत में अंततः जगत् भ्रम ही है। ऐसी स्थिति संभव है कि भोग्य का भी पूर्ण अभेद भोग के साथ हो जाय। जीवन्मुक्ति में यह स्थिति संभव नहीं है। यद्यपि जीवन्मुक्ति में भोग्य शरीर रहता है पर उसको हम सत्य, असत्य, या सत्यासत्य नहीं कह सकते। उसकी कोई धारणा नहीं हो सकती। धारणा होने पर तो फिर जीवन्मुक्ति न हो सकेगी क्योंकि वह धारणा भोक्ता को प्रभावित करती रहेगी। पर फिर भी किसी प्रकार से ही सही, अज्ञात और अज्ञेय प्रकार से ही सही, शरीर रूपी भोग्य रहता अवश्य है। अतः जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त के उस सिद्धान्त के अनुरूप ही है जो कि कहता है कि यद्यपि जगत आनन्दस्वरूप चैतन्य से अनन्य है पर अभिन्न नहीं है।२

जगत् भ्रम है, तुच्छ है, यह श्री रानडे का अन्तिम सिद्धान्त निकलता है। यह शांकर अद्वैत वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के अनुसार ठीक नहीं है। कुछ अद्वैत वेदान्ती और कुछ सन्तगण इस सिद्धान्त को मानते हैं। श्री रानडे ने इसे रहस्यवादी अद्वैतवाद कहा है। अन्य अद्वैत वेदांतियों को वे ज्ञानमीमांसक अद्वैतवादी या मनोवैज्ञानिक अद्वैतवादी कहते हैं। वे ज्ञानमीमांसीय और मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद को हास्यास्पद समझते हैं।३ इससे श्री रानडे का सृष्टि-सम्बन्धी मत और निश्चित हो जाता है कि जीव और जगत् दोनों आनन्दस्वरूप ब्रह्म में भ्रम मात्र हैं।

पर आनन्दवादी तत्त्वदर्शन में श्री रानडे के मत के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त भी हो सकते हैं। जगत् का आनन्दस्वरूप ब्रह्म से सामरस्य भी माना जा सकता है। ऐसा काश्मीर शैवमत का सिद्धान्त है जो कि एक प्रकार का अद्वैतवाद ही है। सामरस्य

---

1. In spite of much Vedantic Speculation on the subject, विदेहमुक्ति might be regarded as even a higher conception of जीवन्मुक्ति—Pathway to God in H. L. P. 332.

२. न खलु अनन्यत्वमित्यभेदंब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः।
भामती, वाचस्पतिमिश्र - ब्र० सू० २।१।१४ के ऊपर टीका।

3. People who belong to the ordinary rung of Advaitism are more or less epistemological Advaitins; others are psychological Advaitins only a few others are mystical. When it is a question as to how to interpret the real meaning of Advaitism itself, it would be absurd to interpret it either from the purely epistemological or from the purely psychological point of view—Pathway to God in H. L. P. 76.

समरस आनन्द का ही सहवर्ती है यद्यपि वह आनन्द-सापेक्ष है। दोनों का यौगपद्य ही आनन्द है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य, वाचस्पति आदि अद्वैतवेदांतियों की तरह भी हम आनन्द को आत्मा का परम लक्षण मानते हुए जगत् को उससे अनन्य मान सकते हैं। जगत् की ओर से इस अनन्यता का अर्थ अनिर्वचनीयता होगा। अनन्यता का सम्बन्ध आनन्द (ब्रह्म) की दृष्टि से है। अनिर्वचनीयता का अर्थ सत्यासत्यविलक्षण मात्र है। इस प्रकार आनन्दवादी तत्त्वदर्शन में जगतविषयक कई मत संभव हैं।

श्री रानडे अद्वैतवादी होते हुए भी अद्वैतवेदांती नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे अद्वैतवेदांतियों के ज्ञानमार्ग, मुक्तिवाद और सृष्टिवाद के विपरीत अपना दूसरा मत रखते हैं। उनमें और अद्वैतवेदांतियों में मगर तिसपर भी यह समानता है कि (१) वे अद्वैतवादी हैं, (२) वे आनन्द को परम तत्त्व मानते हैं और (३) वे इस आनन्द का तादात्म्य आत्मा से करते हैं। उनके ये सिद्धांत आधुनिक भारतीय भाषायी सन्तदर्शन के समान हैं। वस्तुतः श्री रानडे ज्ञानदेव, कबीर, दादू, तुलसीदास आदि भक्तों की परम्परा के अद्वैतवादी सन्त हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने इसलिए अन्यत्र कहा है कि श्री रानडे अद्वैतवेदान्ती नहीं कहे जा सकते और अद्वैतवेदांत को अद्वैतरहस्यवाद से पृथक् रखना चाहिए।१ पर इससे श्री रानडे के दर्शन की कोई क्षति नहीं होती है। इससे उनके दर्शन की उत्कृष्टता या अपकृष्टता नहीं सिद्ध होती है। इससे तो उनके दर्शन की गुरुता ही सिद्ध होती है कि यह स्वयं एक उच्च कोटि का दर्शन है।

यद्यपि जगत् के विषय में श्री रानडे का उपर्युक्त मत सिद्ध होता है पर वस्तुतः सृष्टि चिन्ता उनके तत्त्वदर्शन का प्रधान विषय बाद को नहीं रह गया। पहले उन्होंने सृष्टि-चिन्ता पर पर्याप्त विचार किया और उपनिषदों में इस प्रसंग के जो विचार हैं उनको उसी तरह सृष्टिपरक माना जैसे यूनानी दर्शन में इस सम्बन्ध के विचारों को।२ पर पाथवे ट गाड में उन्होंने ज्ञान को 'संसार का ज्ञान' इस अर्थ में नहीं लिया।३

अतः जगत् के ज्ञान की ओर से वे उदासीन हो चले और ज्ञान को आनन्दानुभूति जिसे वे प्रायः अपरोक्षानुभूति कहते थे, बताया। इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि सृष्टि-विज्ञान उनके दर्शन का विषय नहीं है। यदि उपनिषद-दर्शन की रचना उन्होंने पाथवे टु गाड के अनन्तर की होती तो संभवतः सृष्टि-विज्ञान की चर्चा उसमें न होती और यदि होती भी तो उसका आशय केवल परमार्थ-चिन्तन या आत्म-साक्षात्कार का प्रेरकत्व मात्र रहता।

---

१. दार्शनिक तृतीय वर्ष प्रथम अंक, संगमलाल पान्डेय का लेख, समकालीन वेदान्त और उसकी खोज।

2. Vide A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy chap. II.

3. Knowledge does not mean an intellectual conception, or a philosophy of the world - Pathway to God P. 77.

९—सत् और ज्ञान का आनन्द में अन्तर्भाव

(क) आनन्दवादी तत्त्वदर्शन आनन्द की वही परिभाषा देता है जिसे अद्वैत-वेदांतियों ने दिया है। "आनन्द का प्रत्ययन मनोवैज्ञानिक नहीं है, आनन्द कोई मनोवृत्ति नहीं है। यह तत्त्वदार्शनिक बोध है। सत् की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम आनन्द है"१। अतः सत् का अन्तर्भाव आनन्द में हो जाता है।

श्री रानडे ने इसी बात को निम्नलिखित अवतरणों में स्पष्ट किया है :

(१) "सत्ता का मूल स्रोत प्रातिभ आनन्द ही को मानना उपयुक्त है"२

और

(२) "सभी वस्तुओं का उत्स आनन्दानुभूति हो सकती है"३।

बौद्धिक विवेचना करने पर ज्ञात होगा कि इन अवतरणों में जो सिद्धांत व्यक्त है वह यह है कि सभी वस्तुओं की सत्ता उनके प्राणन पर निर्भर है। यह प्राणन बर्गसाँ का इलन वाइटल है। पर इस प्राणन की सत्ता भी रस पर निर्भर है। यह आनन्दित होने के कारण ही प्राणन करता है। इस प्रकार आनन्दानुभूति सभी वस्तुओं की प्रतिष्ठा है। उसी का अस्तित्व परम है। अन्य वस्तुओं का अस्तित्व इसलिए है कि उनमें उसका ही कुछ अंश रहता है—एतस्यानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

आनन्दमीमांसा की दृष्टि से इसकी व्याख्या यों सकती है। आनन्द परम पुरुषार्थ या मूल्य है। अन्य मूल्यों में आनन्द का ही विस्फुरण है। सत् कही जाने वाली वस्तुओं में भी यही मूल्य है। अर्थात् मूल्य होने के कारण, पुरुषार्थ के साधन होने के कारण ही आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की सत्ता है। अतः उनकी सत्ता आनन्दरूपी परम मूल्य से अनुविद्ध है।

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से सभी वस्तुओं की सत्ता आत्मा से अव्यतिरिक्त है। इस आत्मा की सत्ता भी आत्मा से अव्यतिरिक्त है। अतः यही आनन्द परम सत है। अन्य जो कुछ भी सत् है वह इसी आनन्द का उपभोग होने के कारण सत है।

इस प्रकार सत्ता आनन्दात्मक है।

(ख) ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विषय और सविषय। निर्विषय ज्ञान आनन्दानुभूति है। यह अपरोक्षानुभूति है। सुप्ति में इसी का अनुभव सबको होता है।

---

1. The conception of Bliss is then not psychological but metaphysical. Bliss is complate expression of Being.— —M.N. Sircar, Comparative Studies in Vedantism PP. 30—31.

2. Intuitive bliss alone deserves to be regarded as the source of reality (A Constructive Survey. P. 114).

3. It may be beatific consciousness which may be regarded as the source of all things whatsoever—ibid P. 115.

उदात्तत्व की अनुभूति में इसी का कुछ स्पष्टतर अनुभव उदात्तत्वविदों को होता है। सौन्दर्य और भक्ति का अनुभव भी इसी के अन्तर्गत है। जीवन के सामान्य भाव भी अपरोक्षानुभूति द्वारा वेदनीय होते हैं। सभी भावों का आकारक आनन्दानुभूति है। वैसे सभी ज्ञानों में अपरोक्षानुभूति है पर उदात्तत्व का ज्ञान सबसे अधिक अपरोक्ष होने के कारण सर्वाधिक आनन्दकारक है।

सविषय ज्ञान भी आनन्दाकारक होने के कारण आनन्द से अनुप्रविष्ट है। आनन्द प्रत्यग्बोध है। उसके बिना कोई वृत्ति या विषय संभव नहीं है। इसलिए आनन्दरूप बोध को वृत्ति का सर्वस्व कहा जाता है। फिर, विषय के ज्ञान का प्रधान प्रयोजन आनन्द-लाभ रहता है। अतः इस दृष्टि से भी सविषय ज्ञान आनन्दानुभूति पर प्रतिष्ठित हैं।

श्री रानडे ने प्रातिभज्ञान को बुद्धि, भावना और इच्छा का मूल माना है, न कि विरोधी। इस तरह प्रातिभज्ञान समस्त प्रत्ययों, भावनाओं और इच्छाओं का मूल है। इस अर्थ में इन सब का अन्तर्भाव प्रातिभज्ञान में होता है।

इस तरह सभी विषयों और ज्ञानों का अन्तर्भाव आनन्दानुभूति में होता है। यह अन्तर्भाव दो प्रकार का होता है, एक तो अभेद है और दूसरा बाध है। अभेदरूप अन्तर्भाव का यह मतलब है कि ज्ञान और सत् के समस्त प्रकारों में जो अव्यभिचारी आनन्दरूप आत्मा है उसी में उनका लय हो जाता है। लय से आशय अभेद-प्राप्ति है। बाधरूप अन्तर्भाव का मतलब यह है कि सत् और ज्ञान के समस्त प्रकारों में जो अंश आनन्दरूप आत्मा के अतिरिक्त हैं, उनका बाध लय के साथ ही हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब श्री रानडे के मत में एकमात्र सत्य आनन्दरूप आत्मा है तो फिर जीव-जगत्-रूप से तमाम सत् और ज्ञानों का समूह कहाँ से आ गया है? उत्तर यह है कि यह सब आनन्द का स्फुरण है। उसका स्वभाव ही स्फुरण करना है। यह स्फुरण बर्गसां के प्राणन की तरह है।

१०—आनन्दवाद का मूल्यांकन

१. आनन्दवादी तत्वदर्शन परमार्थ-चिन्तन है, न कि सृष्टि-चिन्तन। पाश्चात्य-दर्शन की भाषा में यह मूल्यमीमांसा (axiology) है। वर्तमान युग में परमार्थ-चिन्तन की बड़ी आवश्यकता है। इस युग में सृष्टि-चिन्तन बहुत विकसित हो गया है। उसका फैशन बढ़ा है। इससे परमार्थ-चिन्तन की ओर उपेक्षा बढ़ती जा रही है।

२. परमार्थ-चिन्तन के बारे में लोगों में भ्रान्त धारणाएँ हैं। श्री रानडे ने परमार्थ-चिन्तन को ही सर्वस्व और सृष्टि-चिन्तन को व्यर्थ मानते हुए एक सिद्धान्त दिया है जो प्रचलित सृष्टि-चिन्तकों के मत का ठीक उल्टा है। उन्हें इस मत पर

विचार करना है। यदि हमें श्री रानडे के सिद्धान्त को एकाङ्गी कहना है तो इन सृष्टि-चिन्तकों के मत को भी एकाङ्गी कहना है।

आनन्दवाद आनन्द को परम अर्थ या मूल्य मानता है। आनन्द के अतिरिक्त और कुछ परम अर्थ नहीं हो सकता। यही एक उपेय है। अन्य तथाकथित मूल्य उपाय हैं। आनन्द से ही उपायरूप से सम्बन्धित होने के कारण वे भी अर्थ हैं, मूल्य हैं। इस प्रकार आनन्दवाद वर्तमान मूल्यमीमांसा का स्वस्थ सिद्धान्त है।

परमार्थ-चिन्तन के बारे में लोगों में भ्रान्त धारणाएँ हैं। वे मोक्ष या मुक्ति, ईश्वर, प्रकृति आदि तत्वों की चर्चा करना परमार्थ समझते हैं। कुछ लोग परमार्थ-चिन्तन को ढकोसला मानते हैं। मोक्ष का तो इस युग में उपहास किया जाता है। ईश्वर को भी कुछ लोग मृत घोषित कर चुके हैं, उदाहरणार्थ नीट्शे। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि परमार्थ-चिन्तन के असली रूप को खोज कर विचारकों के समक्ष रखा जाय। आनन्दवाद परमार्थ-चिन्तन का असली रूप है। मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति आदि शब्दों का अर्थ केवल आनन्द-लाभ है। श्री रानडे इसीलिए आनन्द की चर्चा करते हैं। इस समय परमार्थ-चिन्तकों को आनन्दवाद को अपनाना है। इससे कुछ लाभ हैं। पहला, मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति, स्वर्ग आदि शब्दों का अनर्थ प्रचलित है। आनन्द का अनर्थ नहीं किया जाता है। अतः आनन्द शब्द के व्यवहार से इन प्रचलित अनर्थों का निराकरण हो जाता है और परमार्थ का स्वरूप स्वस्थ रूप में रखा जाता है। दूसरा, स्वर्ग, अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण और परिनिर्वाण के स्वरूपों में परमार्थ-चिन्तकों में पर्याप्त भेद है। पर वस्तुतः एक बात की उनमें मतैकता है। वे सभी इसे आनन्द कहते हैं। आनन्द को परमार्थ मान लेने पर मोक्ष सम्बन्धी सभी विचारों का समाधान हो जाता है। आनन्द को भी इस प्रसंग में एक शब्द मात्र न समझना चाहिए। इसे आनन्द-लाभ (beatification) रूप अर्थ में लेना चाहिए। मोक्षवादियों को यह स्वीकार है। वे इसके किमर्थ (what element) में विवाद करते हैं। उनके विवाद का आनन्दवाद में महत्व नहीं रह जाता, क्योंकि आनन्द-लाभ सदैव अपरोक्षानुभूति होने के कारण तथता या तत्व (thatness) है। अतः यह परमार्थ के आदर्श रूपसम्बन्धी विवादों का समाधान करता है।

इसी प्रकार आनन्दवाद मुक्ति के तारतम्य के सिद्धान्त को भी व्यर्थ विवाद कहता है। आनन्द की अनुभूति ही प्रधान है। वह वस्तुतः समरस है। उसके तथाकथित न्यूनाधिक्य उसके विस्फुरणमात्र हैं। हम दूसरे तत्वों की दृष्टि से आनन्दानुभूति में तारतम्य पाते हैं। स्वयं आनन्द की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है।

फिर आनन्दवाद सगुण और निर्गुण के विवाद को भी दूर कर देता है। दोनों से आनन्द-प्राप्ति होती है। आनन्द को हमें मुख्यता देनी है, आनन्द-दाता को नहीं। अतएव सगुण और निर्गुण केवल कल्पनासिद्ध होते हैं। वे आनन्द से भिन्न समझे जाते हैं इसीलिए उन पर विवाद या मतभेद हो जाता है। हम सगुण या निर्गुण कह

कर आनन्द पर विक्षेप करते हैं। दोनों का मदभेद किमर्थों (what elements) का भेद है। आनन्दानुभूति को ये ठीक से अभिव्यक्त नहीं करते क्योंकि उसकी ठी। अभिव्यक्ति उसको अपरोक्षानुभूति या तत्व (तथता—thatness) मानना ही हैक सगुण या निर्गुण कह कर हम इस अपरोक्षानुभूति को परोक्ष बना देते हैं।

इसी सिद्धान्त से श्री रानडे ने निर्गुणोपासक और सगुणोपासक सन्तों की अनुभूतियों में सिर्फ आनन्द को ही देखा। कबीर और तुलसीदास में आनन्द-लाभ की दृष्टि से अन्तर नहीं है। पर इस अपरोक्षानुभूति को जब वे बुद्धि द्वारा व्यक्त करते हैं, परोक्ष बनाते हैं, तो एक उसे निर्गुण कहता है और दूसरा सगुण। पर दोनों का लक्ष्य उसी आनन्दानुभूति को उपपन्न करना है। विशुद्ध तत्वदर्शन की दृष्टि से भले दोनों में अन्तर हो, पर रहस्यवाद और तत्वदर्शन दोनों की मान्य दृष्टि से अन्तर नहीं है। इन सब अन्तरों को इसीलिए श्री रानडे सन्तों की रुचि-विभिन्नता (temperamental differences) कहते हैं। सन्त आपस में अनुभूति के ऊपर नहीं लड़ते-झगड़ते। हम सन्तों की रुचि-विभिन्नता को ही उनके सिद्धान्त मान लेते हैं और सोचते हैं कि वे अपरोक्षानुभूति के ऊपर भी लड़ते-झगड़ते हैं। इस दोष से बचना तत्वदर्शन को समझने के लिए आवश्यक है। अन्यथा व्यर्थ वाग्जाल में ही उलझे रहने के कारण तत्व की अनुभूति दूर ही रह जायगी।

३. आनन्दवाद समस्त भारतीय दर्शनों का आनन्दानुभूति में समन्वय करता है। वे सभी आनन्द को परम अर्थ मानते हैं और दर्शन को इसी की प्राप्ति का साधनमार्ग बताते हैं। मार्ग में उनमें मतभेद हैं, पर इस साध्य पर नहीं।

कुछ लोग कह सकते हैं कि आनन्द को भी किसी ने अनन्त (निरवधिक) तो किसी ने सावधिक (क्षणिक) माना। किसी ने इसको आत्मा में माना तो किसी ने बुद्धि में, किसी ने मन में, किसी ने शरीर में और किसी ने बाह्य पदार्थ में। इन लोगों का कहना ठीक है। आनन्द की कल्पनाएँ विभिन्न हैं। पर तत्व आनन्द ही है, कल्प्य वस्तु सन्मात्र नहीं, चिन्मात्र नहीं, वरन् आनन्दमात्र है, यह चार्वाक से लेकर महात्मा गांधी पर्यन्त सभी भारतीय दार्शनिकों को मान्य है।

इस आनन्दवाद की दृष्टि से भारतीय दर्शन के इतिहास का लिखा जाना अभी भविष्य के गर्भ में है। श्री रानडे ने भारतीय दर्शन के इतिहास को इस दृष्टि से लिखने-लिखवाने की वृहत् योजना बनायी थी पर संयोगवश वह पूर्ण न हो सकी। भारतीय दार्शनिकों को इस दृष्टि से अपने दर्शन को ही नहीं वरन् पाश्चात्य दर्शन की भी समीक्षात्मक व्याख्या करनी है।

४. आनन्दवाद सन्तों के दर्शन को भी तत्वदर्शन का बाना पहना देता है। संभवतः उपनिषद्-दार्शनिक सन्त ही थे। उनके दर्शनों को सूत्रकारों और भाष्यकारों ने तत्वदर्शन का रूप दिया। परवर्ती संस्कृत-भाषा के युग में भी बहुत से सन्त हुए। शाण्डिल्य और नारद ने इनके भक्तिदर्शनों को भी तत्वदर्शन का रूप दिया। फिर

आधुनिक भाषायी युग में भी अनेक सन्त हुए। इनके दर्शनों को श्री रानडे ने तत्व-दर्शन का रूप दिया। और, उन्होंने सिद्ध किया कि भारतीय दर्शन की गति कभी रुकी नहीं।

इस तत्वदर्शन में एकत्ववाद और बहुत्ववाद, लीलावाद और मायावाद, सगुण वाद और निर्गुणवाद आदि स्वतः अनावश्यक मत बताए जाते हैं। इन सब का उद्देश्य केवल बुद्धि को परिपक्व करना है। एतदर्थ प्रत्येक पर्याप्त हो सकता है। पर इससे बढ़ कर प्रत्येक को अपरोक्षानुभूति भी उपलब्ध करानी है। अतः आनन्दवाद में बुद्धि के विकास की विविध दिशाओं की मान्यता होते हुए भी उसका पर्यवसान अपरोक्षानुभूति में मानना तत्वदर्शन की प्रधान समस्या है। श्री रानडे का यहाँ कथन है कि बुद्धि का इस अनुभूति में नाश नहीं वरन् पूर्ण विकास होता है। अतः आनन्दवादी तत्वदर्शन की प्रधान ससस्यायें हैं—आनन्द की तात्विकता, इसकी अनुभूति, अनुभूति की साधना, अनुभूति-हेतु बुद्धि का विकास, अनुभूति-हेतु नैतिकता का संपादन और अनुभूति का लौकिक महत्व।

५ समकालीन भारतीय दर्शन में श्री भट्टाचार्य मत के कुछ दार्शनिक परमतत्व के ज्ञान, सत् और आनन्द, तीन नित्य विकल्प मानते हैं।[१] इससे वे अपने तत्वदर्शन में वस्तुतः तीन परमतत्व मानते हैं भले ही इन तीनों विकल्पभूत परमतत्वों का लक्ष्य कोई अनिर्दिष्ट तत्व (तथता) हो। श्री रानडे इनमें से केवल आनन्द को ही सच्ची तत्वदार्शनिक कल्पना मानते हैं क्योंकि यही तत्स्वरूप अपरोक्षानुभूति के सर्वाधिक समीप है। उनका ऐसा मानना अद्वैतवेदान्त और सन्त दर्शन दोनों के अनुकूल है। कुछ भारतीय चिन्तकों ने वर्तमान समय में मूल्य-मीमांसा पर अधिक बल दिया है, जैसे गान्धी जी ने। इनके भी दर्शनों की परिणति आनन्दवाद है—ऐसा मूल्य-मीमांसा के परम अर्थ को आनन्द मान लेने पर मानना पड़ता है। इन दृष्टियों से आनन्दवाद का समकालीन भारतीय तत्वदर्शन में पर्याप्त महत्व है।

—:०:—

---

१ दार्शनिक ३।१ संगमलाल पांडेय का लेख, समकालीन वेदान्त और उसकी खोज।

श्री रानडे के दर्शन की रूपरेखा

आचार्य न० ग० दामले

(१)

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे श्री अरविन्द घोष और डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के समान विशिष्ट सम्मान के पात्र हैं। ये सब महानुभाव आपस में स्वाभाविक विभिन्नताएँ रखते हुए भी अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में प्राचीन भारतीय ज्ञान-भण्डार के विशिष्ट व्याख्याता हैं। पारस्परिक भेद कितने ही हों, इन्हों ने संसार के दर्शन और धर्म में निहित महान सत्य के प्रकाश में अपने-अपने ज्ञेय विषयों को पर्याप्त रूप से समृद्ध किया है। इनके लेख पूर्वी और पश्चिमी विचार-धाराओं का सुन्दर समन्वय उपस्थित करते हैं। श्री अरविन्द के दर्शन को यदि यौगिक प्रत्ययवाद अथवा पूर्णयोग कहा जाय तथा डा० राधाकृष्णन् के दर्शन को आत्मदर्शन अथवा अध्यात्मविद्या कहा जाय तो प्रो० रानडे के रहस्यवाद को आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति कहकर उनके दर्शन का सारांश दिया जा सकता है।

इस रहस्यवाद का किसी इन्द्रजाल से अथवा चमत्कार-प्रदर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। रहस्यवाद में रहस्य का उद्घाटन किया जाता है। वह स्वतः रहस्यमय अथवा धूमिल नहीं होता। स्वर्गीय प्रो० रानडे के अनुसार रहस्यवाद का अर्थ ईश्वर का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा आत्मपुरुष की आनन्दानुभूति है। संक्षेपतः, इसमें दार्शनिक चिन्तन तथा नैतिक प्रयास की चरम सीमा प्राप्त होती है। इसमें शंकाओं का निरास होता है, हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। आत्मानुभूति होते ही रहस्यवादी अपनी आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है और वह अनन्त आनन्दमय जीवन में स्थित होकर मानवता के उत्थान के निमित्त चतुर्दिक् दैवी सन्देश वितरित करता है।

(२)

प्रो० रानडे के रहस्यवादी जीवन-दर्शन का विकाश उनके आध्यात्मिक गुरु उमादी के सन्त के द्वारा जागृत की हुई बलवती आध्यात्मिक जिज्ञासा से प्रारम्भ हुआ था।

इन्होंने रानडे महोदय को सन् १६०१ ई० में कार्तिक की बैकुण्ठ चतुर्दशी को जामखंडी में दीक्षा दी थी। वही आध्यात्मिक जिज्ञासा जिसने आधी शताब्दी पहले रानडे को प्रेरित किया था, समय के साथ-साथ स्थिर होती गई और अन्त में उनकी अनुभूतियों से विचित्र परिणाम उत्पन्न हुये। उनके सम्पर्क में जो लोग आये हैं, जिन्होंने उनका मौन चिन्तन देखा है तथा जिन्होंने उनके ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, वे

सब हमारे उपर्युक्त वक्तव्य को प्रमाणित करेंगे। इस प्रसंग में प्रो० रानडे के महत्वपूर्ण प्रकाशनों में से निम्नलिखित के नाम लिए जा सकते हैं:—

(१) ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फिलासफी (१९२६)।

(२) मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र (१९३३)।

(३) पाथवे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर (१९५५)।

(४) कनसेप्शन आव स्पिरिचुअल लाइफ इन महात्मा गांधी एण्ड हिन्दी सेण्ट्स (१९५६)।

ये ग्रन्थ औपनिषदिक ऋषियों एवम् मराठी तथा हिन्दी सन्तों की सारगर्भित दार्शनिक शिक्षाओं, नैतिक उपदेशों तथा उच्च रहस्यवादी अनुभूतियों के भाण्डार है। ये रानडे महोदय के संस्कृत, मराठी और हिन्दी के मौलिक ग्रन्थों के दीर्घकालीन गहन अध्ययन तथा चिन्तन के परिचायक हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर उनके उपयोगी अंशों का संकलन किया और फिर उन्हें वैज्ञानिक विधि से उचित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा। उनके ग्रन्थों में आधारभूत सामग्री का उल्लेख बहुलता से हुआ है किन्तु बीच बीच में ऐसे चिन्तन, रचनात्मक निर्देश, शिक्षाप्रद सुझाव तथा तुलनात्मक विचार मिलते हैं, जिनसे उनके दार्शनिक विचारों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन ग्रन्थों में प्रो० रानडे ने बड़े बड़े सन्तों की जीवनियाँ और शिक्षायें इतने कौशल के साथ दी हैं कि पाठक को उनकी अनोखी सूझ के कारण रहस्यवादी दर्शन के क्षेत्र में शीघ्र ही पर्याप्त गति हो जाती है।

प्रो० रानडे के अन्य ग्रन्थ भी नीतिशास्त्र, तत्वविद्या तथा रहस्यवाद की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इनमें से कुछ की नामावली इस प्रकार है :—

(१) द भगवद्गीता ऐज ए फिलासफी आव गाड रियलाईजेशन (किंखेडे व्याख्यान माला नागपुर विश्वविद्यालय)।

(२) द वेदान्त ऐज द कल्मिनेशन आव इण्डियन थाट, (वसुमल्लिक व्याख्यान-माला कलकत्ता विश्वविद्यालय) तथा

(३) मिस्टिसिज्म इन कर्नाटक (कर्नाटक विश्वविद्यालय)।

इन सब ग्रन्थों को देखने पर ज्ञात होता है कि रानडे महोदय ने सभी महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया था, कुछ पर विस्तृत रूप से और अन्य पर संक्षेप में किन्तु बड़े ही सांकेतिक ढंग से। मुझे ऐसा लगता है कि प्रो० रानडे के दर्शन तथा उनके बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन करने का अब समय आ गया है। इससे न केवल दर्शन और धर्म के जिज्ञासुओं का उपकार होगा वरन् भारत के तथा अन्य देशों के अध्यात्मप्रेमी पाठकों का बड़ा हित होगा। मैं समझता हूँ कि मेरे लिए अपने गुरु तथा मातुल के प्रति सम्मान प्रकट करने का यह बहुत ही अच्छा अवसर है। उनकी शिक्षा से मुझे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विशेष कर आध्यात्मिक क्षेत्र में, बड़ी

सहायता मिली है। सम्भवतः यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनके जीवन से मेरे ही समान अन्य कितने ही साधकों को भौतिक जीवन के प्रलोभनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक यात्रा करने में आत्मलाभ प्राप्त होने तक ध्रुवतारे की भाँति पथप्रदर्शन प्राप्त हुआ है।

अपने निर्बल शरीर की कठिनाइयों को समझ कर उन्होंने जीवन की दिशा में एक लाभप्रद मोड़ दे दिया। अब वे अपने आध्यात्मिक गुरु के उपदेशों के अनुसार श्रद्धा और विश्वास के साथ गहन साधना में लग गये। रामभाऊ को असीम की अलौकिक ज्योति और उसके अखण्ड अनाहत नाद के आध्यात्मिक अनुभवों पर विश्वास था। उनके अनुभव निश्चय ही प्रामाणिक थे परन्तु उनका दृष्टिकोण एक आलोचनात्मक बुद्धिवादी का था। अतएव उनके सामने यह समस्या थी कि उन अनुभवों को वे दार्शनिक चिन्तन की शब्दावली में किस प्रकार व्यक्त करें। इसी अभिप्राय से उन्होंने अन्य शैक्षिक अभिरुचियों का परित्याग कर पाश्चात्य तथा पौर्वात्य दर्शनों के अध्ययन में दत्तचित्त हो जाने का निश्चय किया।

पाश्चात्य दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में से उन्हें सर्वप्रथम यूनानी दर्शन ने आकर्षित किया। वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे और जब उन्होंने यह देखा कि उनके भक्ति-विषयक दार्शनिक विचारों से उसका साम्य है तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उस समय यह साम्य बहुत से भारतीय एवम् पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों के लिए पहेली बना हुआ था। प्रायः इसे कोई न कोई विवेकशून्य बात कह कर अस्वीकार कर दिया जाता था। धीरे-धीरे उनके मन में ऐसी भूमिका तैयार हो रही थी, जिस पर महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं की उनकी विशिष्ट व्याख्यायें आधारित होने वाली थीं।

(३)

पहले हमें उनके ईश्वर-प्राप्ति के विषय में व्यक्त किए हुए विचारों के संबंध में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि मानसिक अभ्यास और नैतिक शोध ईश्वर-प्राप्ति, आत्मानुभूति अथवा आत्मज्ञान के लिए आवश्यक हैं, किन्तु इतने ही से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। इनसे पूर्व पीठिका तैयार हो जाती है। ईश्वर-प्राप्ति के लिए ऐसे आध्यात्मिक गुरु के आदेशों के अनुसार जिसने ईश्वर से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया हो, ईश्वर के नाम के प्रति दृढ़ विश्वास और पूर्ण प्रेम के साथ निरन्तर एकाग्र चिन्तन की आवश्यकता होती है। और यह सब करते हुए भी ईश्वर की कृपा के बिना आध्यात्मिक अनुभूति की चरम सीमा प्राप्त नहीं की जा सकती, चाहे जितना हमारे पास ज्ञान हो, हम चाहे जितने नैतिक हों और चाहे जितनी ध्यान-धारणा में निमग्न रहें। यही प्रो० रानडे का आत्मानुभूति सम्बन्धी उपदेश था।

(४) परमार्थ का रहस्य :—आत्मसाक्षात्कार और नामस्मरण

यद्यपि गुरुदेव ने अपना स्वतन्त्र दर्शन नहीं स्थापित किया तथापि उनका विद्याध्ययन बहुत था और उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों और सन्तों के साहित्य का अध्ययन करके अपने विचारों से सहमत ऐसी विचार-प्रणाली को आधुनिक रूप देकर अपने ग्रन्थों में स्पष्ट किया है। सद्गुरु की कृपा से उन्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ उससे भारतीय तथा पाश्चात्य सतों और दार्शनिकों के अंतर में जाकर उनके चित्रत्नों का प्रकाश उन्होंने देखा। उस प्रकाश के आधार पर ही वे अपने तात्विक विचार और पारमार्थिक अनुभव स्पष्ट कर सके।

लो. तिलक ने जिस तरह गीता का तात्पर्य "ज्ञानमूलक भक्ति-प्रधान निष्काम कर्मयोग है" यह एक सूत्र के वाक्य में स्पष्ट किया उसी तरह यदि सूत्र में गुरुदेव की पारमार्थिक शिक्षा को रखा जाए तो यों कह सकते हैं कि यह विवेक (ज्ञान) मूलक, नीतिप्रधान आत्मसाक्षात्कारपर्यवसायी नामस्मरणात्मक भक्तियोग है।" इसकी उत्पत्ति उनकी गुरु परम्परागत शिक्षा में प्रतीत होती है। उनकी परम्परा चिंचणी के श्रीकाड सिद्धेश्वर, श्री निम्बार्गी महाराज और उमदी के श्री भाऊ साहब महाराज जैसे आत्मानुभवी श्रेष्ठ सन्तों की थी। इस पथ को विशेषता थी आत्मसाक्षात्कार यह ध्येय तथा नाम स्मरण यह मार्ग। उसमें गीता में बताया गया राजयोग और भक्तियोग का सुन्दर मिलाप है। यही शिक्षा गुरुदेव ने आधुनिक दर्शन की परिभाषा में स्पष्ट की है।

(५) ज्ञानमूलक, नीतिप्रधान आनन्द भक्ति

भक्तियोग यद्यपि उनके दर्शन का मूल है फिर भी उसमें अंधश्रद्धा का स्पर्श तक उन्होंने नहीं होने दिया। उनका भक्ति योग सम्यक विवेक ज्ञान पर आधारित था। सत-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार, इसका निर्णय करने वाली बुद्धि ही विवेक है। इस विवेक द्वारा ही व्यावहारिक कर्तव्य पारमार्थिक दृष्टि से किस तरह करने चाहिए यह मालूम होता है। इसी के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान और तत्वज्ञान की कसौटी पर पारमार्थिक श्रद्धा और अनुभव कसे जा सकते हैं।

विवेकज्ञान से अधिक महत्व नीति का है। यदि विवेकज्ञान से विचारों की अस्पष्टता नष्ट हो जाती है तो नीति द्वारा अंतःकरण पवित्र हो जाता है। इस चित्तशुद्धि का चिह्न है दुर्गुणों का त्याग और सद्गुणों की वृद्धि। दुर्गुणों के अंतर्गत केवल काम, क्रोध आदि षडरिपु ही नहीं अपितु परमार्थ-साधन को बाधित करने वाले निद्रा, आलस्य चिन्ता-लज्जा आदि भी हैं। इन से भी दूर होकर साधक को वैराग्य लाने का प्रयत्न करना चाहिए। शिरसगी के बलभीम योगी ने कानडी पद में कहा है कि शरीर नौ छेदों का बिल है, इसमें विषय-वासना-रूपी सर्प किस द्वार से घुस जाए पता नहीं और एक बार घुस जाने पर परमार्थ की हानि हो जाती है। परन्तु यदि इस बिल में 'गोरलि' (बलभीम

योगी) या 'बिंदुले' (ज्ञानेश्वर महाराज) अथवा गुरुदेव के शब्दों में Spiriton (आत्माणु) घुस जाए और स्थायी हो जाए तो विषय-वासना-रूपी सर्प को बाहर निकाल देता है। इस कारण इस पद में जैसा कहा गया उस तरह साधक को परमार्थघातक विषय-वासना से बचे रहना चाहिए। उसी तरह साधक को शम-दम, समता-सहिष्णुता, भूतदया, भगवद्भक्ति आदि सद्गुणों की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए।

गुरुदेव के अनुसार भक्ति सब सद्गुणों की मुकुटमणि है और भक्ति के मध्यबिंदु के चारों ओर सब सद्गुण उसके आश्रित होकर रहते हैं। यह भक्ति 'अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता' इस नारद भक्तिसूत्र में कहे श्लोक के अनुसार अथवा श्रीसबवेश्वर के शब्दों में 'चकोरगे चन्द्रमन बेलगिन चिंते' वर्णित अनन्य भक्ति होनी चाहिए। अपने सब काम निरहंकार बुद्धि से फलासक्ति छोड़कर ईश्वर को समर्पण करके हों, यही भक्ति (तथा नैष्कर्म्यसिद्धि का) रहस्य है।

(६) सबीज नाम का अखण्ड स्मरण

विवेक, वैराग्य और भक्ति, इनके महत्व का वर्णन करने के पश्चात भक्ति के प्रमुख अंग नामस्मरण पर विचार किया जाए। नाम का महत्व अनेक पूर्वी तथा पाश्चात्य साधु-संतों ने बताया है। तुलसीदास ने नाम को सगुण और निर्गुण को जोड़ने वाला कहा है और उसका वर्णन 'उभय प्रबोधक, सुसाखी और दुभाखी' कहकर किया है। जिस नाम का स्मरण करना हो वह सद्गुरु या आत्मानुभवी पुरुष द्वारा ही मिला हो। सद्गुरु का महत्व ज्ञानेश्वर आदि ने बताया है। सद्गुरु ज्ञान का चित्सूर्य है जो शिष्यों के चक्षुओं में ज्ञानरूपी अंजन डालकर उन्हें आत्मरूप दिखाता है। यह ज्ञानेश्वर ने कहा है। और मीरा ने भी कहा है कि सद्गुरु मुझ सच्छिष्या की नाव को पार लगाने वाला 'केवटिया' है। ऐसे सद्गुरु द्वारा मिले 'सबीज' अथवा 'दिव्य' नाम का प्रभाव बहुत अधिक है। उसके केवल अलौकिक सामर्थ्य से नामधारक को आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति हो सकती है। सद्गुरु से 'सबीज' नाम मिलने से ही साक्षात्कार की फलप्राप्ति नहीं होती, अपितु नामधारक को सतत उस नामस्मरण का ध्यान करना पड़ता है और कामिनी तथा कंचन का परहेज बहुत सतर्क होकर करना पड़ता है। यह नामस्मरण अथवा ध्यान कैसे किया जाए यह गीता के छठवें अध्याय में और स तु दीर्घकालनैरंतर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः, इस पतंजलि के सूत्र में बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि साधक को नामस्मरण 'एकांत स्थल में स्थिर-सुख आसन पर बैठकर नासिकाग्र पर दृष्टि रखकर एकाग्र चित्त से भावपूर्वक आमरण और अखंड करना चाहिए'। गुरुदेव के संप्रदाय में एक और विशेषता यह है कि नाम स्मरण 'बिना मुंह खोले, बिना जीभ हिलाए, अन्दर-अंदर

अर्थात् बोलकर नहीं (स्पष्ट शब्दों में नहीं) अपितु श्वासोच्छवास द्वारा करना चाहिए।' यह बताने का कारण यह है कि साँस में नाम गूँथ देने से प्राण और भगवत्प्रेम दोनों का मिलन होने से नाम सफल होने में सहायता मिलती है।

साथ ही साधक को सत्संग करना चाहिए। इसका बहुत महत्व है। बीच-बीच में श्रद्धालु साधकों के एकत्रित होने से सद्विचार उत्पन्न होते हैं और भक्तिभाव उद्दीप्त होता है और उनको साधन के योग्य रीति से होने में सहायता मिलती है। फिर भी परमार्थ का मार्ग स्वयं ही पार करना पड़ता है। सीता ने विभीषण से जो कहा था कि 'दूसरों के पैरों से यह निश्चित है कि रघुपति कभी न मिलेंगे' वह सच है।

(७) आत्मानुभव—स्वरूप और कसौटी

इस तरह नामस्मरण का अभ्यास करने से साधक को परमार्थ-प्राप्ति के मार्ग के कई अनुभव होने लगते हैं। इस प्रकार के अनुभव विभिन्न देश के भिन्न-भिन्न धर्मों के साधु-संतों को हुए हैं। उसको अभिव्यक्त करने के संकेत, भाषा तथा प्रणाली यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तब भी यह देखा जाता है कि वास्तव में वे एक ही हैं। यह अनुभव प्रकाश, रंग, रूप, नाद, रस आदि के विषय में होते हैं। उदाहरण के लिए, बिना चन्द्र के चाँदनी अथवा बिना सूर्य के तेज, रक्त, पीत, नील, कृष्ण, बिंदु, मोती, शेष, विश्वतःचक्षु, समचरण, घंटा, मेघ, भृंग, मुरली, अमृतसर आदि। इसी संबन्ध में गु० रामभाऊ को एक विशेष समय जिस स्थिति में देखा उसका चित्रण इन शब्दों में किया जा सकता है—"जिस गुरु की कृपा से अनन्य भक्तों को "मोती की जलधारा" से स्नान करने को मिला, धीरे-धीरे बहने वाले "अमृत रस" को चखने का भाग्य प्राप्त हुआ "रंगपंचमी" का सुखदायक समारोह देखने को मिला "गोद में खेलते हुए" अथवा झूले में झूलते हुए "अनाहत नाद के" स्वर्गीय संगीत में मन लीन होकर "योगनिद्रा" का अनुभव होकर "आत्म साक्षात्कार" के परमानन्द की सहज स्थिति प्राप्त हुई, ऐसे आत्म-देवरूपी गुरु के स्मरण से यदि उनका अंतःकरण गदगद हो और सब शरीर पुलकित हो उठे और कृतज्ञता से आँखों से अश्रु बह उठें और मुख से धन्यता के उद्गार बाहर निकलें तो क्या आश्चर्य है?"

यदि ये अनुभव अतीन्द्रिय, अन्तः स्फूर्ति-से होने वाले, अन्दर और बाहर एक से रहने वाले, और अधिकाधिक आनन्द देने वाले और साधुसंतों के अनुभवों जैसे हों अथवा संक्षेप में जैसा भगवद्गीता में कहा है 'प्रत्यक्षावगमं सुसुखं अव्ययं' हों, तो उनके बारे में कोई संदेह न किया जाए। साधक को उपरोक्त कसौटी पर अपने अनुभव को कसकर विश्वास कर लेना चाहिए। यहाँ अंधश्रद्धा अथवा दूसरों के अनुभव पर

आधारित रहना उपयोगी नहीं। सच्चे अनुभवों का बहुत महत्व है। फिर भी अपने अनुभवों को अपनी इच्छा से न कहना चाहिए, यह समर्थ रामदास ने साधकों से कहा था। पकने तक फल को पत्तियों के पीछे ही छुपे रहना चाहिए। उसी तरह साधकों को भी परमार्थ पूर्णरूप से अपनाए बिना प्रकट नहीं होना चाहिए। ये अनुभव परमार्थ पथ के 'ध्वज' हैं। इनसे परमार्थ पर श्रद्धा अधिक बढ़ती है और परमार्थ का "उलटा और विकट मार्ग" चलने में साधकों का उत्साह अधिक बढ़ने लगता है। "ईश्वर मिलेंगे इस भरोसे में मैंने अपनी ध्वजा लगाई है" तुकाराम महाराज के इस कथनानुसार आत्मदेव का दर्शन शीघ्र ही होगा यह विश्वास होने लगता है। उपरोक्त अनुभव यद्यपि ठीक इसी क्रम में नहीं आते फिर भी साधक को साधारणतः इसी रूप में आते हैं। इस संदर्भ में "अवतार" और "तत्त्वमसि" का अर्थ अनुभव की दृष्टि से इस तरह भी लगाया जा सकता है। जिस रूप में साधक के सामने ईश्वर 'अवतार' लेकर आता है इससे उसकी प्रगति कितनी हुई यह पता चल जाता है। एक दृष्टि से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का भी वही छुपा अर्थ है। 'तत्' अर्थात् जो मुझे स्वरूप दिखाई देता है वह क्या है और जितना है वही उतना ही "त्वम्" तू है यह परमार्थ-निदर्शक अर्थ भी साधक कर सकते हैं।

(८) फलश्रुति : आत्म-दर्शन और विश्वकल्याण

इस प्रकार निरंतर भक्तिभाव से नामस्मरण का अभ्यास किया जाए तो ईश्वर और भक्त के बीच का अंतर कम होता जाता है और वे एकरूप हो जाते हैं। आत्मा और ब्रह्म की एकता का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान अथवा स्वरूप-साक्षात्कार है, यही सच्चा मोक्ष है, यही पराभक्ति है। इसमें सब वृत्तियों का अंत होकर परंज्योतिरूप आत्मदर्शन के साथ मिलने वाली आत्मानंद की सहज स्थिति प्राप्त होती है।

"अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसंपद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते सोऽयमात्मा" (मैत्रायण्युपनिषद्)।

"यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति" (गीता)।

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (पातंजल, योगसूत्र); और 'ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, स्वयं को स्वयं ही देखना (दासबोध), इन वचनों से, गुरुदेव के मतानुसार पारमार्थिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय आत्मदर्शन है इस तथ्य का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट होता है।

परंतु ज्ञानेश्वर ने कहा है कि आत्म-दर्शन का अर्थ अपना प्रतिबिंब दर्पण में देखना नहीं है। अनेक भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों को अद्वैत और भक्ति में

विरोध प्रतीत होता है और उनका संयोग एक न सुलझने वाली पहेली प्रतीत होता है। परंतु बताए गए सच्चे साक्षात्कार में इन दोनों की 'एकता' का पता चलता है। यही ज्ञान है और यही भक्ति की सीमा है। यदि परमार्थ रूपी पर्वत पर पहुँचना है तो साधक चाहे कितना ही प्रयत्न करें फिर भी जैसा इस उपनिषद् वचन में कहा है "यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः" बिना ईश्वर की कृपा के कुछ संभव नहीं है। यह ईश्वरी कृपा त्रिविध रूप धारण करती है। सर्वप्रथम जिज्ञासु भक्त में सद्‌बुद्धि उत्पन्न करके, बाद में उसकी असहाय भावाकुल स्थिति में 'अनुकम्पा' दिखाकर और अंत में उसकी तपस्या से आकर्षित होकर उसपर अपने 'प्रसाद' को देती है। इससे भक्त की विभिन्नता दूर होती है और वह अक्षय शांति तथा सुख में लीन हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डकोपनिषद् के उपरोक्त श्लोक में जैसा कहा है वैसे साक्षात्कारी पुरुष के सब मोह नष्ट हो जाते हैं, सब शंकाएँ नष्ट हो जाती हैं। ईश्वर को अर्पण करने की इच्छा से ही सब काम वह करता है जिसमें नैष्कर्म्य का भाव उत्पन्न होता है। आत्म-दर्शन से उसे नित्य आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। सबके प्रति एकता का भाव निर्माण होता है और दया तथा विश्वबन्धुत्व आदि गुण उत्पन्न होते हैं। अपना जीवन कृतार्थ होने से समाज को और अखिल मानव जाति को परमार्थ का मार्ग दिखाने का कार्य उनके हाथों सहज ही होने लगता है। लोक-कल्याण उनका स्वभाव-धर्म ही बन जाता है। आज संसार में जो युद्ध, अशांति और विभिन्न राष्ट्रों के बीच का द्वेष है, इनके बुरे परिणामों से बचना हो और सच्ची एकता विश्व-बन्धुत्व और 'पंचशील' पर आधारित शान्ति पूर्ण संसार में स्थापित करना हो तो उसके लिए परमार्थ रूपी मजबूत नींव ही होनी चाहिए।

(९) परमार्थ रूपी दीपक

गुरुदेव के लिए परमार्थ ही उनके जीवन का ध्रुवतारा था। अपना सारा जीवन ही उन्होंने परमार्थमय कर लिया था। आर्त भक्ति से आरम्भ करके साधन और गुरु-कृपा के बल पर वे ज्ञानी भक्त के ध्येय तक पहुँचे। परमार्थ रूपी दीपक अन्त तक उन्होंने जलाया। ईश्वर की दी हुई शरीर रूपी चादर मैली किए बिना उन्होंने वापिस कर दी। "हे ईश्वर तुम्हारा तुम्हें दे दिया" इस स्थिति में ही उन्होंने अपना शरीर ईश्वर को अर्पित किया। ऐसे वन्दनीय दार्शनिक मामा को इन शब्दों में कि "जहाँ दैवत्व प्रकट होता है वहाँ मेरे हाथ जुड़ जाते हैं", मैं नमस्कार करता हूँ।

(१०) नामधारक की प्रार्थना

'वरद' हस्त ठेवा। शिरीं मम।
प्रार्थना हीच गुरुदेवा॥ ध्रु०॥
तव कृपेचा मेघ वर्षु दे।
शांत करो मम जीवा॥१॥
परमार्थीचा आत्मसुखाचा।
मजसि मार्ग दावा॥ २॥
नेमाचरणें नामस्मरणें।
घडो ईशसेवा॥ ३॥
अनन्यभावें येत शरण मी।
तनु मम सार्थकिं लावा॥ ४॥
श्रद्धांजलि ही वाही प्रेमें।
राम राम ध्यावा॥ ५॥

हे गुरुदेव यही मेरी प्राथना है कि आप मेरे सिर पर अपना वरद हस्त रखें। ध्रुव०॥
आपका कृपा-रूपी मेघ बरस कर मेरे मन को शान्त करे॥१॥
मुझे परमार्थ और आत्म सुख का मार्ग दिखाइए॥२॥
नियमित आचरण और नाम-स्मरण द्वारा मुझसे ईश्वर सेवा हो॥३॥
अनन्यभाव में आपकी शरण में आया हूँ, मेरा शरीर सार्थक कीजिए॥४॥
मैं प्रेम की श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ, मेरा नमस्कार स्वीकार हो॥५॥

—:०:—

डा० रानाडे के अनुसार उपनिषदों में चरम सत्ता का स्वरूप

डा० संकठाप्रसाद सिंह, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जैन कालेज, आरा

दर्शन के इतिहास में चरम सत्ता की गवेषणा के प्रायः तीन मुख्य ढङ्ग अपनाये गये हैं: एक में विश्व की महानता को आधार माना गया है, दूसरे में धार्मिक विश्वास को और तीसरे में आत्म-दर्शन को। डा० रानडे के अनुसार उपनिषद् के ऋषियों ने इन तीनों का सहारा लिया है। उपनिषद् के दार्शनिक पहले वाह्य संसार से आरम्भ करते हैं, पर उन्हें चरम सत्ता तक पहुँचने की राह वहाँ नहीं मिलती। वे धार्मिक विश्वास का भी सहारा लेते हैं, पर उससे भी कोई खास लाभ नहीं होता। अन्ततोगत्वा उन्हें आत्म-केन्द्रित होना पड़ता है जहाँ उन्हें चरम सत्ता की झलक मिलती है। इस छोटे से निबंध में सबका विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है अतः ऋषियों ने जिस अन्तिम मार्ग का अनुसरण किया है उसी को कुछ विस्तार में देखा जायगा।

आत्म-दर्शन के महत्व को समझने के लिए डा० रानडे बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य-सम्वाद की ओर हम लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं। राजा जनक सर्व प्रथम याज्ञवल्क्य से सत्य के प्रति विभिन्न दार्शनिकों के विचार बतलाते हैं। जित्वन शैलिनि के अनुसार चरम सत्य वाणी है, उदरिक शौल्वायन के अनुसार प्राण, बर्कु वार्ष्णि के अनुसार चक्षु, गर्दभी-विपीता भारद्वाज के अनुसार श्रवण, सत्यकाम जाबाल के अनुसार मनस्, विदग्ध शाकल्य के अनुसार हृदय। याज्ञवल्क्य इन सभी विचारों का खंडन करते हैं यह कह कि ये सभी एकांगी हैं। डा० रानडे के अनुसार याज्ञवल्क्य के इस खण्डन के पीछे उस सत्य की झलक है जिसमें कहा गया है कि चरम-सत्य केवल आत्मा में प्राप्त हो सकता है, उसकी क्षणिक उपाधियों में नहीं। यही विचार केनोपनिषद् में (१-२) भी मिलता है जहाँ कहा गया है कि आत्मा को श्रवण का श्रवण, मनका मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण, और चक्षु का चक्षु समझना चाहिए। जब उपनिषद् कहता है कि यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते; यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते; इत्यादि, तो इसका अर्थ है कि आत्मा को अवश्य ही अन्तरतम सत् समझना चाहिए। शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्व केवल बाहरी आवरण हैं जो स्वयं सत्य नहीं हैं बल्कि सत्य को ढके हुए हैं। (देखिये: A Constructive Survey of the Upanisadic Philosophy, P 564)।

औपनिषदिक सत्य को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए डा० रानडे इन्द्रप्रजापति-सम्वाद का सहारा लेते हैं।

प्रजापति ने कह रक्खा था कि जो आत्मा पापशून्य, जरा-रहित, मृत्युहीन, विशोक क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, वही चरम सत्य है और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए (छा० उ० ८)। पर जब इन्द्र और विरोचन उनके यहाँ उस सत्य को समझने के लिए जाते हैं तो वे उनसे तुरन्त अन्तिम बात नहीं कह देते। सर्व प्रथम प्रजापति उन लोगों को बहकाते हैं यह कह कर कि आत्मा वह प्रतिबिम्ब है जो आँख में, जल में या दर्पण में दिखलाई पड़ता है। लेकिन आत्मा की शरीर के प्रतिबिम्ब से तुलना विरोचन को संतुष्टि दे सकती है, इन्द्र को नहीं। इसीलिए उपनिषद् ने इसे असुरों का मत कहा है। प्रजापति का संकेत यहाँ उन आदमियों की ओर है जो शरीर को ही चरम सत्य मान लेते हैं जैसे चार्वाक मतावलम्बी। विरोचन संतुष्ट होकर लौट जाता है पर इन्द्र फिर प्रजापति के यहाँ आते हैं। प्रजापति ने अपनी दूसरी शिक्षा में कहा—जो यह स्वप्न में पूजित होता हुआ विचरता है यह आत्मा है। पर यह भी मत इन्द्र को ठीक नहीं लगा। वह अपने मन में सोचते हैं—"क्या स्वप्न में हम लोगों को यह नहीं मालूम होता कि मानों कोई मारता है, कोई ताड़ित करता है? क्या हम लोग स्वप्न में दुःख का अनुभव नहीं करते या रुदन नहीं करते? अतः इस प्रकार के आत्म-दर्शन में मैं कोई फल नहीं देखता।" वह फिर लौट कर प्रजापति के यहाँ जाते हैं और उनसे अपनी कठिनाई कहते हैं। इस बार प्रजापति ने इन्द्र से कहा—"जिस अवस्था में यह सोया हुआ दर्शन-वृत्ति से रहित और सम्पर्क रूप से आनन्दित हो स्वप्न का अनुभव नहीं करता वह आत्मा है।" पर प्रजापति की यह भी शिक्षा इन्द्र को संतोष न दे सकी क्योंकि वह सोचते हैं कि सुषुप्त अवस्था में आत्मा को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि "यह मैं हूं"। इस समय तो वह मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है (विनाश-मेवाप्रीतो भवति)। अतः वे फिर प्रजापति के यहाँ जाते हैं। अब गुरु समझ जाते हैं कि इन्द्र इस योग्य हैं जिनसे अन्तिम सत्य कहा जा सकता है। उन्होंने कहा, "हे इन्द्र! यह शरीर मरणशील है, यह मृत्यु से ग्रस्त है। यह इस अमृत, अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रिय से ग्रस्त है, सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रिय का नाश नहीं हो सकता। अशरीर होने पर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते। वायु अशरीर है, अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाश से समुत्थान कर सूर्य की परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीर से समुत्थान कर परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है।" (छा० उ० ८-१२-१-३)।

यहाँ इस लम्बे उद्धरण को देने का अभिप्राय यह है कि डा० रानडे औपनिषदिक दर्शन का मूल तत्व इसमें पाते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, "यह उस चरम सत्ता की सुन्दर झलक देता है जो स्वभावतः स्वप्रकाश है; जो स्वयं आत्म-द्रष्टा है, जो अपने को ज्ञान स्वरूप अद्वैतरूप में पहचानता है। निःसंदेह इसे अन्तिम सत्य समझना

चाहिए" (देखिए Constructive Survey, p. 268)। "यह वह आत्म-केन्द्रित, आत्म-विभोर अवस्था है जिसमें आत्मा को अपना छोड़कर अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। इसकी तुलना काण्ट के 'मैं मैं हूँ' (I am I) से दी जा सकती है।" जो आत्मा को शारीरिक चेतना मान बैठते हैं, वे भौतिकवादी हैं। जो इसे स्वप्न-चेतना मानते हैं उनकी तुलना आजकल के थियोसाफिस्ट से की जा सकती है। वे भी जो आत्मा को सुषुप्त-चेतना मानते हैं बहुत गहराई तक नहीं जाते क्योंकि उस अवस्था में आत्मा को न तो संसार का ज्ञान रहता है और न अपना। सच्ची आत्मा वह आत्म-चेतन (self conscious) प्राणी है जो अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है (स्वप्रकाश), जो अपने विचारों के ही बारे में सोचता है; यही अनन्त सत्ता है—नित्य आत्म-द्रष्टा। डा० रानडे इसी तत्व की पुष्टि के लिए ऐतरेय उपनिषद् की (३-३) ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिसमें कहा गया है कि स्वर्ग लोक के देवता और पृथ्वी पर के जीव चाहे वे अण्डज हों, पिण्डज हों, स्वेदज हों या उद्भिज हों, प्रत्येक जीव चाहे स्थावर हों या जंगम, सब के लिए प्रज्ञा नेत्र है। ये सभी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञा संसार का नेत्र है, प्रज्ञा ही ब्रह्म है। अतः डा० रानडे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उपनिषद् के दार्शनिक प्रज्ञा की (self consciousness) दृढ़ नींव पर सत्य की स्थापना करना चाहते हैं। उनके लिए ईश्वर नहीं है यदि वह प्रज्ञा-रूप न हो। सत् सत् नहीं है यदि उसका तात्पर्य प्रज्ञा से नहीं है। सत्य सत्य नहीं है यदि वह अपने पूरे आवरण से केवल प्रज्ञा को नहीं प्रकट करता। कहने का अर्थ है कि उपनिषद् के दार्शनिकों के लिए केवल प्रज्ञा ही चरम सत् है।

डा० रानडे ने जिस अर्थ में चेतना या प्रज्ञा शब्द का प्रयोग यहाँ किया है वह स्पष्ट है लेकिन आजकल दर्शन के क्षेत्र में यह भी मानना पड़ेगा कि यह कई अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। प्रोफेसर अनुकूलचन्द्र मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'आत्मा का स्वरूप' (Nature of Self) में बतलाया है कि आत्म-चेतन (Self Consciousness) का तीन अर्थों में प्रयोग हो सकता है; मनोवैज्ञानिक (Psychological), ज्ञानिक (Epistemological) और तात्विक (Transcendental)। पहले के अनुसार आत्मा अन्तर्दर्शन (Introspection) की वस्तु है। दूसरे के अनुसार आत्मा अपने को केवल विषयों के रूप में जानती है पर यह आत्म-ज्ञान विषय-ज्ञान के साथ-साथ होता है। तात्विक अर्थ में प्रज्ञा केवल वस्तुनिष्ठ चेतना है, विषयी को केवल विषयों का ज्ञान हो किसी अन्य वस्तु का नहीं। इस चेतना की तुलना "वस्तु चेतना" या आत्म-चेतना से जो वस्तु चेतना के साथ-साथ होती है, नहीं की जा सकती। यह केवल चेतना है जहाँ ज्ञान और सत् में कोई भिन्नता ही नहीं रहती। इसी अन्तिम अर्थ में डा० रानडे प्रज्ञा या चेतना शब्द का प्रयोग करते हैं। लेकिन चूँकि वह औपनिषदिक प्रज्ञा की तुलना कांट के "मैं मैं हूँ" (I am I) से करते हैं इसलिए इसके तात्विक अर्थ को समझने में कुछ कठिनाई होती है। पिचर्ड का हवाला देते हुए प्रो० मुकर्जी ने ठीक ही कहा है कि काण्ट का "मैं सोचता हूँ" (I think) तात्विक अर्थ में सदैव नहीं व्यवहृत हुआ है जो हर

प्रकार के ज्ञान के मूल में रहता है। यह निश्चित है कि काण्ट कभी-कभी प्रज्ञा का प्रयोग तात्विक अर्थ में करते हैं पर कभी-कभी वे इसे वस्तु-चेतना से भी मिला देते हैं। जब वे कहते हैं कि विषयी और तरह के ज्ञान के बारे में सोचता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसे आत्म-चेतना भी अन्य ज्ञान के विषय के रूप में ही होती है तो वहाँ वे प्रज्ञा का अर्थ तात्विक दृष्टि से करते हैं (देखिए—Watson's selection, p. 154)। पर जब वे कहते हैं कि एनालिटिक यूनिटी आव एपरसेप्सन (analytic unity of apperception) किसी प्रकार के सिन्थटिक यूनिटी (synthetic unity) के साथ ही सम्भव है तब वह अपने पहले वाले मत को छोड़ देते हैं और प्रज्ञा को वस्तु-ज्ञान के साथ वाली चेतना से मिला देते हैं। प्रो० मुकर्जी का कहना है कि काण्ट की इस अस्पष्टता के कारण दर्शन की दो धारायें हो जाती हैं। एक उनकी तात्विक प्रज्ञा को लेकर चलती है और दूसरी आत्मा को अनात्मा से मिला कर। योरोप में कांट के बाद वाले दर्शन में (post-Kantian idealism) दूसरी ही धारा उत्कटरूप में मिलती है; पर पहली धारा उसी प्रचडण्ता से हमें भारत के अद्वैत-दर्शन में मिलती है।

अद्वैत दार्शनिक बहुत जोर देकर कहते हैं कि प्रज्ञा या आत्म-चेतना उस चेतना से बिल्कुल भिन्न है जो वस्तु-चेतना के साथ-साथ होती है। इसी दूसरी चेतना को उन लोगों ने अहंकार कहा है, आत्मा नहीं। शंकर मानते हैं कि अहंकार हर प्रकार की क्रिया के पहले वर्तमान रहता है लेकिन इसलिए उसे आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्वयं ज्ञान का विषय है उसका पूर्ववर्ती नहीं (अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहङ्कारस्याऽप्युपलभ्यमानत्वात्–शांकर भाष्य २. ३. ४)। उनके अनुसार चेतना सब तरह की वस्तु में मूल-रूप होने के कारण सदैव एक-सी रहती है। कोई विशेष विज्ञान चेतना की वह अवस्था है जो किसी बाहरी वस्तु के सम्पर्क में आने से पैदा होती है (देखिये : शांकर भाष्य बृ० उ० २. १. ८, ४. ३. ६। छ० उ० ६, ३. २१। ब्रह्म-सूत्र-भाष्य ३. २. ३४)। ये अवस्थायें वस्तु के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं (विषयभूत उत्पद्यमानाः)। चेतन आत्मा या ज्ञाता उनसे बिल्कुल अछूता रहता है (यो यस्य विषयः न तेन हीयते वर्धते···वा)। अहं प्रत्येक चेतन अवस्था में वर्तमान रहता है पर वह स्वयं किसी चेतना का विषय नहीं बनता। वाचस्पति का कहना है कि अनन्त-आत्मा केवल जीव के रूप में ज्ञातृ, कर्तृ, और भोक्तृ है; चिदात्मा के रूप में यह आत्म-दर्शन का विषय नहीं (भामती १. १. ४)। वैसे ही विद्यारण्य कहते हैं कि आत्मा में ज्ञान और ज्ञेय होने के दोनों गुण साथ-साथ नहीं पाये जाते जो अहङ्कार में मिलते हैं। केवल अहङ्कार ही अन्तर्दर्शन का विषय हो सकता है (विवरण प्रमेय संग्रह पृ० १८४ अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय, काशी, प्रथमावृत्ति)। पाश्चात्य विद्वानों के साथ यही कठिनाई है कि वे साधारणतः अहंकार को ही आत्मा मानते हैं। शायद इसीलिए ब्रैडले ऐबसोल्यूट (Absolute) को आत्मा मानने में हिचकते हैं। वस्तुतः अहंकार जीवात्मा का स्वरूप है, वह ब्रह्म को कैसे प्रकट कर सकता है ? अहंकार में सदैव किसी दूसरी

वस्तु की ओर संकेत रहता है; और वह अपने को भी किसी दूसरी वस्तु के साथ ही जानता है। अद्वैत-दर्शन में आत्मा का अर्थ जीवात्मा नहीं है, चिदात्मा है। इसे हम लोग जान नहीं सकते फिर भी यह हमारे हर प्रकार के ज्ञान के पूर्व में वर्तमान रहता है। इसे जानने की कितनी भी कोशिश की जाय पर यह सदैव दूर ही होता जाता है और अन्त में अज्ञेय ही रहता है। ह्यूम की कठिनाई यहाँ समझ में आती है। ह्यूम ने चिदात्मा को अन्तर्दर्शन में पकड़ना चाहा, और असफल होने पर कह दिया कि आत्मा नाम की कोई चीज ही नहीं (अनात्मवाद)। काण्ट ने ठीक ही कहा है कि अनन्त-आत्मा (Noumenal self) किसी वस्तु के रूप में नहीं पकड़ी जा सकती पर इसकी पूर्ण स्थिति को बिना माने संसार के ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी अर्थ में डा० रानडे ने औपनिषदिक प्रज्ञा की तुलना काण्ट के "मैं हूँ मैं" (I am I) से की है। पर जैसा अभी हम लोगों ने देखा है, यह विचार-धारा मूलतः अद्वैत दर्शन की है। अतः यह कहा जा सकता है कि डा० रानडे ने औपनिषदिक-दर्शन की जो व्याख्या चरम सत्य को लेकर की है वह मूलतः अद्वैत दर्शन की प्रणाली पर है।

औपनिषदिक सत्य के ज्ञान-पक्ष पर विचार करते हुए डा० रानडे कहते हैं कि जिसे हम लोग ज्ञान कहते हैं उस अर्थ में चरम सत्य जाना नहीं जा सकता (देखिए—Constructive Survey p. 271) ऋषियों का यह दृढ़ मत है कि आत्मा अपने मूल-तत्व में अज्ञेय है। इसकी पुष्टि के लिए वे उपनिषद् से कुछ उद्धरण देते हैं। जैसे —

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तै० उ० २-४)

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथेतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। (के० उ० १-३)

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (के० उ० २-३)

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वंतोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।
(क० उ० २-७)

उपनिषद् में आत्मा को अज्ञेय मानना, डा० रानडे का कहना है, किसी प्रकार अतार्किक नहीं है। आत्मा अज्ञेय है इसलिए कि वह सदैव विषयी है। भला जो सदैव विषयी है वह ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है? वे याज्ञवल्क्य के कथनों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जहाँ यह मत बहुत ही पुष्ट रूप में पाया जाता है। कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं :—

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति। (बृ० उ० २-४-१४)

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुयार्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। (बृ० उ० ३-४-२)

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। (बृ० उ० ३-७-२३)

इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है —

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।

(श्वे० उ० ३-१६)

पर डा० रानडे का दृढ़ विचार है कि उपनिषद् के इस मत को किसी रूप में योरोपीय दर्शन का ऐगनास्टिसिजिम (Agnosticim) न समझ लेना चाहिए। कभी-कभी इसकी तुलना कांट के मत से की जाती है क्योंकि कांट ने भी कहा है कि ईश्वर और आत्मा उस रूप में अज्ञेय हैं जिस रूप में हम लोग ज्ञान कहते हैं। पर मूलतः दोनों में काफी अन्तर है। कांट के लिए ईश्वर और आत्मा केवल विश्वास की वस्तु हैं, पर उपनिषद् में यद्यपि आत्मा अज्ञेय है फिर भी इसका अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है। (देखिए—Constructive Survey, p. 271)। ऋषि याज्ञवल्क्य बार-बार कहते हैं कि यद्यपि कोई अन्य व्यक्ति आत्मा को नहीं जान सकता क्योंकि आत्मा के सिवा कोई अन्य जानने वाला ही नहीं, फिर भी आत्मा स्वयं अपने को जानता है। साधारण रूप से जानने की प्रणाली आत्मा पर लागू नहीं होती, पर आत्मा में अपना अपरोक्ष ज्ञान रखने की शक्ति है। प्रज्ञान अन्तिम सत्य है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय, विषय और विषयी का भेद नहीं रहता। इस मत की पुष्टि के लिए डा० रानडे जनक और याज्ञवल्क्य के बीच हुए एक सम्वाद का हवाला देते हैं। जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं, "हे याज्ञवल्क्य! इस पुरुष के लिए कौन ज्योतिवाला है?" याज्ञवल्क्य कहते हैं, "हे सम्राट! आदित्य-ज्योति यह आदित्य रूप ज्योति से ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट जाता है।" जनक पूछते हैं, "हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है?" याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है। चन्द्रमा रूप ज्योति के द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।" जनक पूछते हैं, "हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है?" याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "अग्नि ही इसकी ज्योति होता है। यह अग्निरूप ज्योति के द्वारा ही बैठता है, इधर-उधर जाता है, कर्म करता है और लौट आता है।" जनक फिर पूछते हैं, "हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त होने पर और अग्नि के शान्त होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?" याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "वाक ही इसकी ज्योति होती है। यह वाक-रूप ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है। इसी से हे सम्राट! जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाता, वहाँ

ज्योंही वाणी का उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है।" जनक फिर पूछते हैं, "हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त होने पर चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और वाक के भी शान्त होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है?" याज्ञवल्क्य कहते हैं, "आत्मा ही इसकी ज्योति होती है। यह आत्मज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है" (आत्मैवास्य ज्योति र्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति-बृ० उ० ४. ३.६)। इसकी व्याख्या करते हुए डा० रानडे कहते हैं कि उपनिषद्का यह मत स्पष्टरूपेण अरिस्टाटिल के थ्यूरिया Theoria) की पुष्टि करता है जो केवल आत्म-चिन्तन का स्वरूप है (Self Contemplation)। यहाँ आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है पर हम लोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि कैसे (देखिये-Constructive Survey-P. 275)।

अद्वैत वेदान्त में इस सिद्धान्त पर काफी तर्क-वितर्क हुआ है। डा० रानडे की विचार-धारा उससे काफी प्रभावित है। शंकराचार्य का कहना है कि बुद्धि द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है क्योंकि बुद्धि तो अनात्म की श्रेणी में है। यदि आत्मा को किसी दूसरी वस्तु के सहारे जाना जाय तो उस दूसरी वस्तु को किसी तीसरी वस्तु के और तीसरी को किसी चौथी से जाना जायगा और इस प्रकार अनवस्था उपस्थित हो जायगी। अतः इस कठिनाई से बाहर होने का एक ही रास्ता है—आत्मा को स्वप्रकाश मानना जहाँ आत्मा को अपना ज्ञान स्वयं रहता है (आत्म-प्रज्ञा)। जिस प्रकार इसका कोई दूसरा कारण नहीं वैसे ही इसका कोई दूसरा ज्ञाता नहीं। जैसे दीपक को देखने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योकि दूसरों को प्रकाशित करने के साथ-साथ वह स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है, आत्मा को आत्म-ज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती (प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ न प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा–शांकर भाष्य के० उ० १.३)। दूसरे शब्दों में आत्मा अद्वैत ज्ञाता है। यदि वह किसी अन्य विषयी के लिए विषय के रूप में हो जायगा तो इसका स्वप्रकाशत्व ही समाप्त हो जायगा। वास्तविकता तो यह है कि आत्मा स्वयंज्योतिस्स्वरूप है। इसी के प्रकाश से अन्य चीजें प्रकाशित होती हैं, यह किसी पर किसी प्रकार अपेक्षित नहीं। (अभिन्नस्वाभाविकः— न विषय-विषयि सम्बन्धजनितः शंकर भाष्य तै० उ० २. ८)।

दृग्दृश्यविवेक की पहली पंक्ति में ही हम लोग पाते हैं, "रूप देखा जाता है, आँख उसे देखने वाली है, साक्षी उसको देखने वाला है। पर साक्षी को देखने वाला अन्य कोई दूसरा नहीं।" यहाँ पर भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व पर ही जोर है। चित्सुख ने अपनी तत्त्व-प्रदीपिका में आत्मा के स्वप्रकाशत्व को मूल विषय बनाकर काफी लम्बा और गहन विवेचन किया है। उनका कहना है—आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयतुं क्षमः (चित्सुखी १. ७)।

पर हम लोग जानते हैं कि इस मत का खण्डन भी बहुत विद्वानों ने किया है। डा० रानडे किसी का प्रत्युत्तर नहीं देते शायद यह सोच कर कि अद्वैत दार्शनिकों ने तो इस पर काफी वाद-विवाद किया ही है। वे उपनिषद् के मूल सिद्धांत को इतना स्पष्टरूप से रखते हैं कि वह अद्वैत मत का घोषक होने के साथ-साथ प्रतिद्वन्द्वियों की निरर्थक बकवास की ओर भी इशारा करता है।

अब हम लोग डा० रानडे के अनुसार आत्म-चेतना के (Self Consciousness], तात्त्विक रूप पर विचार करेंगे।

उपनिषदों के पदों और वाक्यों की व्याख्या करने पर डा० रानडे को मालूम पड़ता है कि उपनिषदों में सूक्ष्म अनुभव के कई स्तर हैं जिनको यदि ठीक ढंग से रक्खा जाय और दार्शनिक विवेचन किया जाय तो विकास के रूप में पाँच मुख्य अनुभव मिलेंगे। इनको हमलोग सूक्ष्म तात्त्विक अनुभव की सीढ़ी के पाँच डण्डे या विश्राम स्थल कह सकते हैं। पहला विश्राम स्थल बृहदारण्यकोपनिषद् २. ४. ५. में प्राप्त होता है जहाँ कहा गया है कि आत्मा के प्रकाश को हृदय के भीतर देखना चाहिए—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। इस कथन से ऐसा लगता है मानों आत्मा अपने से भिन्न कोई दूसरी सत्ता हो। बृ० ४. ४. १२ में दूसरा विश्राम-स्थल मिलता है जिसमें कहा गया है कि अपने को आत्मा का ही स्वरूप समझना चाहिए, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि या मन नहीं—आत्मानं विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। तीसरा विश्रामस्थल हमें बृहदारण्यकोपनिषद् २. ५. १६ में मिलता है जहाँ कहाँ गया है कि आत्मा को ब्रह्म समझना चाहिए—अयमात्मा ब्रह्म। आत्मा और ब्रह्म का यह एकाकार उपनिषदों में बहुत से स्थलों पर मिलता है यहाँ तक कि इसे उपनिषदों की मूल विचार-धारा कहा जा सकता है। तात्त्विक अनुभव की सीढ़ी का यह तीसरा विश्राम-स्थल है। बृहदारण्यकोपनिषद् १. ४. १० चौथा विश्राम स्थल देता है जिसमें ऐसा मालूम होता है कि तीसरे विश्राम-स्थल के आधार पर कहा गया है कि मैं ही ब्रह्म हूँ—अहं ब्रह्मास्मि। इसकी व्याख्या करते हुए डा० रानडे कहते हैं, "यदि हमलोगों की आन्तरिक सत्ता जो अपने को अहम् कहती है दूसरे वाक्य के अनुसार आत्मा है; और यदि यह तीसरे वाक्य के अनुसार बिल्कुल ब्रह्म ही है; कहने का अर्थ दूसरे शब्दों में, यदि अहं आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है तो तार्किक निगमन के अनुसार अहम् ही ब्रह्म हुआ। और यही वास्तव में बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है।" (देखिये—Constructive Survey pp 277-78.)। यही बात छान्दोग्योपनिषद् में भी कही गयी है—तत्त्वमसि। यहाँ अहम् को तत्त्वम् के बराबर मान लिया गया है। तात्त्विक सीढ़ी के चौथे विश्राम स्थल पर पहुँचने के बाद पांचवें को समझना कठिन नहीं मालूम होता। यदि मैं और तुम अर्थात् विषय और विषयी दोनों ब्रह्म हैं तो इसका अर्थ हुआ कि इस संसार में जितनी चीजें दिखलाई पड़ती हैं—पुरुष, प्रकृति, आत्मा-अनात्मा—सभी ब्रह्म की कोटि में आ जाती हैं। यही

तात्त्विक अनुभव रूपी सीढ़ी का पाँचवाँ और अन्तिम विश्राम-स्थल है। छा० ३-१४-१ कहता है: यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। यहीं औपनिषदिक दर्शन अपनी चरम ऊँचाई पर पहुँचता है। इसकी बड़ाई करते हुए रानडे कहते हैं, "यह दार्शनिक सीढ़ी दर्शन की विचार-धारा को कदम-कदम बढ़ाते हुए हम लोगों को इस घुमावदार ऊँचाई पर पहुँचा देती है)। निश्चय ही यह मत अद्वैतवादी है" (Constructive Survey, P. 278)। यहाँ पर डा० रानडे स्पष्ट रूप से मान लेते हैं कि उपनिषद् का मूल दर्शन अद्वैवादी ही है और अपने इस कथन से थिबो, गफ और जैकोवी ऐसे विद्वानों के मत का समर्थन करते हैं कि उपनिषदों का सबसे अधिक सन्तोषप्रद भाष्य शंकराचार्य का है।

पर औपनिषदिक विचार धारा को सूक्ष्म अनुभव की सीढ़ी के रूप में रखने का तात्पर्य हुआ कि डा० रानडे के अनुसार द्वैत तथा बिशिष्टाद्वैत मत भी बिल्कुल व्यर्थ नहीं है।" सत्य की खोज में उनका भी एक महत्व पूर्ण स्थान है। मध्व और रामानुज की यही गलती है कि वे लोग अपने दर्शन को यद्यपि उपनिषदों पर आधारित बतलाते हैं फिर भी उपनिषदों के मन्त्रों का अर्थ पूर्ण रूप से नहीं करते। शायद बहुत अधिक ऊँचाई पर वे जाना नहीं चाहते। इसीलिए पहले या दूसरे विश्राम-स्थल पर ही रुक जाते हैं और अपने से ऊँचाई पर होने वाली चीजों को नीचे घसीट लेते हैं। बिना किसी का पक्ष लिए यही कहा जा सकता है कि उपनिषद के मन्त्र जो रामानुज और मध्व के मतों की पुष्टि करते हैं महत्वपूर्ण हैं, पर उनकी महत्ता केवल दार्शनिक विचार-धारा को प्रारम्भ करने में है; चरम सत्य का पहुँचने के लिए उनसे अवश्य ही आगे बढ़ना चाहिए। शंकराचार्य की प्रखर बुद्धि ही इसे देखने में सफल होती है। मैक्स मूलर के शब्दों में, "उपनिषदों की भाषा कविता के रूप में चाहे जितनी भी उलझी क्यों न हो वेदान्त-सूत्र भाष्य के रचयिता शंकर जानते हैं कि किस प्रकार ठीक तर्क हो सकता है। वे अपने मत की पुष्टि अपने प्रतिद्वंद्वियों के प्रतिकूल करने में पूर्णरूपेण सफल होते हैं, वे प्रतिद्वन्द्वी चाहे भारतीय हों अथवा योरोपीय" (The Vedanta Philosophy, three lectures, p. 20)। डा० रानडे का मत है कि अद्वैत मत द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनों से आगे बढ़कर उनका समन्वय करता है। (देखिए—Constructive Survey, p. 215)।

डा० रानडे शंकराचार्य की यह बात मानते हैं कि उपनिषद का मूल दर्शन अद्वैतवाद है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। और वे यह भी मानते हैं कि इस ऊँचाई तक कोई एक दिन में नहीं पहुँच सकता। एक ही रास्ता है—शनैः शनैः नीचे से ऊपर उठना। पर वे वहाँ पर शङ्कर से सहमत नहीं हैं जहाँ वे उपनिषद के अद्वैतवादी वाक्यों का भाष्य करते हैं। शंकर का कहना है कि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है, साधारण जनता के लिए उपनिषद उसकी सगुण रूप में व्याख्या करता है। केवल उपासनार्थ ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। ज्ञान का प्रकाश मिल जाने पर वह अपने आप लुप्त हो जाता है।

(देखिये–शांकर भाष्य–छा० उ० ८ १. १, वेदान्त सूत्र भाष्य ३. २ १३, ३. २ ३४)। यह सुनने में ऐसा लगता है मानों सारे उपनिषद् एक ही आदमी की रचना हैं जो अपने मत को एक व्यवस्थित ढंग से रखना चाहता है। डा० रानडे की व्याख्या शङ्कर की व्याख्या से कुछ अधिक व्यावहारिक है। डा० रानडे का कहना है कि उपनिषदों में बहुत से ऋषियों के विचार एकत्रित हैं, अत उनकी गहराई में भिन्नता होना स्वाभाविक है। यदि ठीक ढंग से रख दिया जाय तो उनमें क्रमिक विकास दिखलाई पड़ेगा - साधारण मत से बढ़कर सर्वोच्च दार्शनिक विवेचन। इसलिए हम लोगों को यह न समझना चाहिए कि उपनिषदों में भक्ति-मार्ग वाले पद एक तरह के व्यक्तियों के लिए लिखे गए हैं और निर्गुण वाक्य दूसरे तरह के। दोनों के सम्बन्ध के बारे में शंकर का मत अवश्य मान्य है कि एक ऊँचा है दूसरा नीचा। पर यह जान-बूझ कर किया गया है, मान्य नहीं। डायसन का मत है कि यह अनजान में हुआ है, पर इसमें भी कुछ दम नहीं। वास्तविक तो यह है कि उपनिषद अनेक दार्शनिकों के मत के संकलन हैं, इसीलिए इतनी भिन्नता है। यदि हम लोग, जैसा डा० रानडे का मत है, उपनिषदों की व्याख्या करते समय "विकास-मार्ग" (developmental method) का अनुसरण करें तो अनेकवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद इत्यादि विभिन्न मत-मतान्तरों की उलझन में से निकलने का रास्ता दिखलाई पड़ेगा।

अतः अन्त में यही कहा जा सकता है कि डा० रानडे के अनुसार उपनिषदों का सर्वोच्च दर्शन अद्वैतवादी है जिसमें द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि मतों का सुन्दर समन्वय होता है।

प्रो० रा० द० रानडे का नीति-दर्शन

लेखक—बी० आर० कुलकर्णी, एम० ए०

बिना रहस्यमय अन्तर्दृष्टि की सहायता के कोई भी विचारक केवल दर्शन का बाना पहन कर दर्शन की शाश्वत समस्याओं के समाधान की डींग नहीं मार सकता। सत्ता के सान्त और अनन्त, शुद्ध और मिश्रित, सकारण और स्वतंत्र, आवश्यक और संभाव्य द्वन्द्व इस बात के उदाहरण हैं कि विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियाँ स्वभावतः विषम हैं। प्रत्यक्षवाद उपर्युक्त विप्रतिषेधों के प्रथम पक्ष को तथा युक्तिवाद द्वितीय पक्ष को मानता है जब कि कान्ट को हम अपने ढंग से की हुई आलोचना में उनका समाधान करने का आदर देते हैं। यदि दर्शन की सामान्य समस्याओं की ऐसी स्थिति है तो दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप नीति—शास्त्र के विषय में यह कितना अधिक सत्य होगी! नैतिकता की रूढ़िवादिता या स्वाभाविकता, नैतिक आदर्श, नैतिक मानदंड, परम शिव, इच्छा-स्वातन्त्र्य और नैतिक विकास, ये ऐसी समस्यायें हैं जो पूर्ण युक्तिवादी की बुद्धि को भी उलझन में डाल देती हैं। नैतिक प्रयास का सर्वस्व रहस्यमय अनुभव है। इसके बिना नीतिशास्त्र की विकट समस्याओं की गहनता से मार्ग-दर्शक सूत्र नहीं प्राप्त हो सकता।

ईश्वर-प्राप्ति के दर्शन आनन्दवाद में प्रो० रानडे के नैतिक दर्शन का चरम उत्कर्ष होता है। प्रो० रानडे की दार्शनिक जिज्ञासाओं के उद्भव का श्रेय उनकी नैतिक और आध्यात्मिक कांक्षाओं को है। नैतिक समस्याओं पर उनका गहन चिन्तन और फलस्वरूप उन सब का उत्कृष्ट स्पष्टीकरण ईश्वर से मिलने की उनकी उत्कृष्ट अभिलाषा से प्रोत्साहित था। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित नैतिक दर्शन न तो अव्यावहारिक है और न पलायनवादी। यह निष्क्रिय कल्पना का फल न था। व्यक्तित्व को उन्नत करने की शक्ति से रहित शुष्क अनुमान का भी यह फल न था। उनके समस्त नैतिक विचार मुमुक्षु के आध्यात्मिक उत्थान के लिए थे। इसलिए जो प्रो० रानडे को केवल दार्शनिक समझता है वह उनको सम्यक् नहीं जानता। प्रो० रानडे प्रत्येक वस्तु में ईश्वर को और ईश्वर में प्रत्येक वस्तु को देखते थे। वे आराम और प्रेम से भरे ईश्वर के अनुध्यान में आनन्द लेने वाले सिद्ध योगी थे।

यदि ईश्वर-प्राप्ति धार्मिक जीवन की चरम सीमा है तो नीति के नियमों का पूरी तरह पालन करना धार्मिक जीवन की आरंभिक अवस्था है। यह धार्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवन नैतिकता की पराकाष्ठा होने के कारण ईश्वर की शक्ति और विभुता

का बोध कराता है और उच्च विचारों से जन्य हर्ष के साथ हमको क्षुब्ध करता है। नीति शास्त्र को जो आदर्श अप्राप्त रहता है वह धर्म को प्राप्त हो जाता है। इस अर्थ में धर्म नैतिकता से उच्चतर है।

तीन शीर्षकों के अन्तर्गत हम प्रो० रानडे के नैतिक दर्शन का अध्ययन करेंगे। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत हम उनके द्वारा किए गए पाश्चात्य नैतिक दार्शनिकों के विचारों का परीक्षण प्रस्तुत करेंगे। तदनन्तर हम उनके अनुसार नीतिशास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप का विवेचन करेंगे। अन्त में हम अपना विवरण यह बतलाकर समाप्त करेंगे कि नैतिकता का अन्त रहस्यवाद में होना चाहिए।

प्रो० रानडे कहते हैं कि यूनान के सोफिस्ट यद्यपि बुद्धि के विकास की एक महत्व पूर्ण अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि वे सद्‌गुण की शिक्षा के लिए नहीं, किन्तु अपने पेट भरने के लिए सद्‌गुण पर विचार करते थे। यदि उच्छेदवाद का अग्रदूत गार्जियस आग्रह करता है कि सत्ता, ज्ञान और प्रज्ञापन सब असंभव हैं तो उसका एथेंस का आतिथेय कैलीकिल्स मानव-कृत और स्वाभाविक नैतिकता में अन्तर बताता है। कैलीकिल्स आगे कहता है कि रूढ़ि-ग्रस्त नैतिकता कायरों का आश्रय है। और अपने आत्मरक्षण के लिए निर्बलों ने इसका आविष्कार किया है। इसलिए स्वाभाविक नैतिकता सर्वोच्च है। "जिनमें शक्ति है उनको लेना चाहिए और जो रख सकते हैं उनको रखना चहिए।" 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' कैलीकिल्स के विपरीत सुकरात गाँधी की तरह अनुरोध करता है कि अन्याय का सहना न्याय करने से श्रेष्ठतर है। अन्यायी दुष्टता में अमर होते हुए भी आत्मा के एक असाध्य यमार्बुद (Cancer) से पीड़ित हैं और अपने ही पापों द्वारा मर जायँगे।

यद्यपि सुकरात द्वारा प्रदर्शित यह नैतिक मनोवृत्ति विश्वसाहित्य में एक उल्लेख योग्य योगदान है जैसा कि गाम्पर्ज संकेत करता है, तो भी सुकरातीय नीतिशास्त्र नैतिक दर्शन का अन्तिम वाक्य नहीं है। 'गुण ही ज्ञान है' इस बुद्धि का प्रतिपादन करते समय उसने इस तथ्य की अवहेलना की कि नैतिक नियमों के ज्ञान से कहीं बढ़कर उनका पालन है और वह अधिक महत्व का है। इसलिए अरस्तू ने उचित ही बल दिया कि नैतिक रूप में गुण का अधिष्ठान विशेषतया इच्छा में होता है। सुकरात के कथनानुसार यह उचित है कि शुभ का ज्ञान ही शुभ करना है और स्वेच्छापूर्वक कोई भी अशुभ का अनुसरण नहीं करता है। लेकिन तब निम्नलिखित अनुभव की क्या व्याख्या होगी? "मैं जानता हूँ शुभ क्या है, किन्तु उसका अनुसरण नहीं कर सकता, और मैं जानता हूँ अशुभ क्या है, किन्तु उससे बच नहीं सकता।"

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

प्रो० रानडे लिखते हैं कि सिनिक्स अपनी आध्यात्मिक दीनता का गर्व करते थे और उदासीनता पर बल देते थे। इनके प्रतिकूल उपभोग की अपनी योग्यता की डींग

मारने वाले सिरेनेक्स सुख को ही बलपूर्वक नैतिक आदर्श मानते थे। लेकिन न तो केवल मनोमारण और न केवल मनःसन्तुष्टि आत्मबोध नामक हमारे आदर्श तक हमको ले जा सकती है।

प्रो० रानडे प्लेटो के नैतिक-दर्शन की ओर उन्मुख होते हुए उसके आलोचकों को यह कहते हुए पाते हैं कि प्लेटो न्याय-निष्ठा के स्वभाव की ठीक-ठीक परिभाषा बतलाने में असमर्थ था। प्लेटो के मतानुसार न्याय-निष्ठा या तो चतुर्थ गुण हो सकता है या अन्य तीन गुणों का योग। इसके विपरीत प्रो० रानडे का मत है कि प्लेटो न्याय-निष्ठा को दार्शनिक का गुण होने के कारण सर्वोत्तम गुण मानता था।

अरस्तू ने विशेषतया अपने मध्यम मार्ग के सिद्धान्त द्वारा नीति शास्त्र में बड़ा योगदान किया है। उसके अन्य उल्लेख योग्य सिद्धान्त हैं—चरित्र आदत है और ईश्वर का मनन हमारा कर्तव्य है। किन्तु अरस्तू के नैतिक-दर्शन में प्रो० रानडे के अनुसार प्रमुख दोष यह है कि उसके द्वारा विवेचित गुणों की सूची में कोई ऐसा गुण नहीं है जो अन्य सभी गुणों को सूत्रवत् पिरो ले।

स्टोइकों ने आवेगों और वासनाओं को आत्मा का रोग कहा है तथा आत्मा के उत्कर्ष के हेतु उनके दमन पर आग्रह किया है। स्टोइकवाद और ईसाई धर्म में ईश्वर के स्वरूप पर मतभेद है। स्टोइक ईश्वर को अशरीरी मानते हैं और ईसाई शरीरी। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि स्टोइकवाद ईसाई धर्म का एक सोपान है क्योंकि दोनों मतों में यह माना जाता है कि प्राणवायु या आत्मा के रूप में ईश्वर जगत में विद्यमान है, कर्तव्य-पालन मानव स्वभाव का आन्तरिक नियम है और आत्मोपसंक्रमण जीवन का आदर्श है। 'जनरल सर्वे आव् ग्रीक फिलासफी' की टिप्पणी में प्रो० रानडे का विशेष कथन है कि स्टोइकवाद ने ईसाई धर्म को न्यूमा (प्राण वायु) और लोगस् (शब्द-ब्रह्म) जैसे पदों को प्रदान किया।

यदि सिरेनेक्स ने क्षण विशेष के सुख को ऊँचा उठाया तो इपीक्यूरियन्स ने पूरे जीवन के सुख पर बल दिया है। एक का ऐन्द्रिय सुख है तो दूसरे का परिष्कृत। दोनों में विरोध है। यह देखने में रुचिकर है कि इपीक्यूरस अटारेक्सिया (दार्शनिक मानस सन्तुलन) के पक्ष में विधायक सुखों का अनादर करता है।

स्पिनोजा तक पहुँच कर हम उसके विख्यात सिद्धान्त ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम को पाते हैं। प्रो० रानडे निर्देश करते हैं कि स्पिनोजा का ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम चार दशाओं से होकर चलता है—(१) ईश्वर के प्रति मानव का प्रेम (२) ईश्वर का ही ईश्वर के प्रति प्रेम है जो वस्तुतः (३) ईश्वर का मानव के प्रति प्रेम है और जो अन्ततोगत्वा (४) मानव का मानव के प्रति प्रेम हो जाता है। इस प्रकार स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद विश्वजनीन नीतिशास्त्र में अवतरित हो जाता है।

जहाँ तक अहैतुक आदेश के सिद्धान्त की बात है, हम जानते हैं कि यह कान्ट के व्यावहारिक ज्ञान के सामान्य विन्यास की अभिव्यक्ति है और यह विश्व-व्यापकता का परिचय देता है। अतः विश्व-व्यापकता आवश्यकता और वस्तु-निष्ठता से संबंधित है, जैसा कि कान्ट ने अपने विज्ञानालोचन में दिखाया है। प्रो० रानडे के अनुसार कान्ट का नैतिक नियम वैसे ही वस्तुनिष्ठ हो जाता है जैसे प्लेटो का प्रत्यय। इसके अतिरिक्त इसको नीति-शास्त्र में वही स्थान प्राप्त है जो तर्क-शास्त्र में अबाध के नियम को, ज्ञान-मीमांसा में आत्म-चेतना की एकता को और तत्वदर्शन में परम तत्व को। अहैतुक आदेश की तीन विशिष्ट अभिव्यक्तियों को प्रकृति का नियम, आत्मा का नियम और समाज का नियम कहा जा सकता है। प्रथम में प्रकृति को नैतिक नियम समझा जाता है। नैतिक नियम को प्राकृतिक नियम की अकाट्यता प्राप्त है और प्रकृति के ही समान वह अपवाद नहीं स्वीकार करता। द्वितीय विशिष्ट अभिव्यक्ति दिखाती है कि प्रत्येक पुरुष को एक ही गिनना चाहिए और किसी को एक से अधिक नहीं गिनना चाहिए। इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति, जाति, धर्म और उपजाति के लिए समान आदर का विधान करती है। तृतीय विशिष्ट अभिव्यक्ति नीतिशास्त्र के सामाजिक पक्ष को प्रकाश में लाती है और कहती है कि यदि आत्मा एक है तो वह अद्वैत ज्ञान के रूप से दूसरों के लिए भी विधान बना सकती है। इससे नैतिक राज्य अथवा पूर्ण नैतिक जनतन्त्र के प्रत्यय का उदय होता है। किन्तु प्रो० रानडे का मत है कि कान्ट अपने अन्तिम ग्रन्थों में पूर्ण रहस्यवाद में नैतिक विशुद्धवाद को बिलकुल परिवर्तित कर देता है। कोनिंसगवर्ग का सन्त (कान्ट) व्यावहारिक नीति में कर्तव्य के लिए कर्तव्य की घोषणा करता है। परन्तु अपने अन्तिम लेखों में वह समझ जाता है कि सब कर्तव्य ईश्वर के आदेश हैं। अहैतुक आदेश सीधे ईश्वर अथवा अन्तरात्मा को सिद्ध करता है और उसकी यथार्थता को निश्चित ठहराता है। कान्ट का कथन है कि "मैं मनुष्य के रूप में यह सत्ता हूँ।" प्रो० रानडे अन्त में कहते हैं कि कान्ट ने अज्ञात रूप में प्रतिभालोचन के मार्ग का निर्माण किया है।

अब हम प्रो० रानडे कृत महान् अंग्रेज नीति-शास्त्री टी० यच० ग्रीन के परीक्षण पर विचार करेंगे जिसने यह सिद्ध किया है कि आध्यात्मिक जीवन प्रकृति और समाज में विद्यमान है। प्रो० रानडे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युक्तिनिष्ठ आदर्शवादियों ने परम तत्त्व को ज्ञान-मात्र माना है जब कि इच्छावादियों के लिए वह नेत्रविहीन और तर्क-रहित इच्छा है। इन दोनों का संघर्ष ग्रीन के द्वारा शान्त होने को था क्योंकि उसके अनुसार ज्ञान का इच्छा से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वह साध्य के उस प्रत्यय का निर्माण करता है जिसको इच्छा प्राप्त करने का प्रयत्न करती है और जब इस साध्य की प्राप्ति हो जाती है तब ज्ञान का इच्छा के साथ अभेद सम्बन्ध हो जाता है। ग्रीन ने मानव में बुद्धि है, इसके आधार पर प्रकृति में बुद्धि है, इसको सिद्ध किया है। इसको प्रो० रानडे पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार मानवीय कार्यों के एकीकरण से

बुद्धि उपलक्षित होती है उसी प्रकार प्रकृति के नियमों के एकीकरण से भी प्रकृतिस्थ बुद्धि लक्षित होती है। आगे ग्रीन पूर्ण रूप से सही कहता है कि नैतिकता विज्ञान के समान वस्तु-निष्ठ और सार्वजनीन है क्योंकि दोनों विषयों में सभी मानवी बुद्धियां ईश्वरीय बुद्धि की प्रतिकृति हैं। परन्तु प्रो० रानडे का प्रश्न है कि किस अर्थ में मानव बुद्धि ईश्वरीय बुद्धि की प्रतिकृति है, अंशरूप में, संभूति रूप में अथवा आभास रूप में? और भी, जैसा कि हम देखते हैं कि मानव-बुद्धि इच्छा और भावना से युक्त होती है, तो क्या फिर प्रकृति में उपस्थित बुद्धि भी उनसे युक्त होती है? चूँकि मानव प्रकृति और आत्मा का योग है इसलिए न केवल आत्म-आनन्द और न केवल आत्म-निरोध उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए पर्याप्त हैं। अतः ग्रीन के अनुसार सभी शक्तियों की प्राप्ति, पूर्णता, और विकास व्यक्ति के लिए परम नैतिक आदर्श हो जाता है। कांटीय सिद्धान्त कि केवल शुभ इच्छा ही शुभ है, अपने पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इच्छा तब तक पूर्णतया शुभ नहीं है जब तक वह अपने विषयों को प्राप्त न कर ले। शुभ इच्छा ग्रीन के मतानुसार वह इच्छा है जो गुण, कला और विज्ञान में समान रूप से पूर्णतया प्राप्त करने का प्रयास करती है। ग्रीन प्रत्येक व्यक्ति के सन्तोष से युक्त शुभ के महत्व पर बल देता है और यदि 'शुभ' इच्छा का साध्य है तब तो नैतिक 'शुभ'-शुभ का समानार्थक हो जाता है। हमारा यहाँ इस प्रश्न से सम्बन्ध है, कि क्या व्यक्ति का शिव समाज का शिव है? यदि कुछ राजनीतिज्ञ मन्त्रित्व पद पर पहुंच जाते हैं तो क्या सर्व-साधारण उस पद पर पहुँच जाता है? यदि एक व्यक्ति लक्षपति हो जाता है तो क्या सब की आर्थिक स्थिति उन्नत हो जाती है? या, क्या हमें इसी कठोर नियम में विश्वास करना पड़ेगा कि देवदत्त के धन का अपहरण करके ही यज्ञदत्त धनी हुआ है? एक व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि, सांसारिक उन्नति दूसरों को तद्वत उन्नत नहीं बना सकती। तब किस अर्थ में एक व्यक्ति का शिव दूसरों के शिव से अभिन्न है? केवल आध्यात्मिक जगत में ही एक व्यक्ति का शिव समाज के अन्य सदस्यों के शिव से अभिन्न है। वस्तुतः एक व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान से दूसरे व्यक्ति का पतन कभी नहीं हुआ। इसके विपरीत, अध्यात्म में बढ़ी हुई आत्मा की उपस्थिति एवं शक्ति उन व्यक्तियों के आध्यात्मिक उत्थान में सहायक हो सकती है जो उसकी प्रकाशमान सीमा के अन्तर्गत रहने में सौभाग्यशाली हैं। इसी हेतु ईश्वर-प्राप्ति हो जाने पर भी व्यक्ति को अपने समाज में कार्य करते रहना पड़ता है। तब मानव जीवन का आदर्श क्या है? क्या यह पूर्णता की अथवा ईश्वर की प्राप्ति है? नहीं, यह विकास और निरन्तर प्रकर्ष है। जब तक मर्त्य कंचुक का अस्तित्व है तब तक आध्यात्मिक पूर्णता अथवा ईश्वर के साथ पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करना साहसपूर्ण कथन मात्र है। पूर्ण ईश्वर-प्राप्ति या पूर्णता की डींग न मार कर शरीर और मन की निर्बलता तथा सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति पर स्थापित परिसीमाओं के होते हुए भी कुछ खण्डित आध्यात्मिक अनुभवों को पाने वाला व्यक्ति भी धन्यवाद का पात्र है। ईश्वर प्राप्ति तो सदा साधक

के लिए आदर्श बनी रहती है और बनी रहनी भी चाहिए। ये कुछ उदात्त नैतिक गम्भीर विचार हैं जिन्हें प्रो० रानडे ने ग्रीन के नैतिक दर्शन के प्रसंग में हमें इलाहाबाद में १६५० में पढ़ाया था जब कि मैं एम० ए० का छात्र था। ये शिक्षायें कुछ दिनों तक मुझे उनके ही सुविधानुसार १२॥ अपराह्न से २॥ अपराह्न में मिली थीं, जिसके अनन्तर वे अपना अपरोक्ष ध्यान आरम्भ करते थे। दार्शनिक संतों के कार्य सचमुच अपरिज्ञेय रहते हैं।

प्रो० रानडे भगवद्गीता और हिन्दी के सन्त कवियों के साहित्यिक ग्रन्थों के नैतिक दर्शन का रचनात्मक एवं संश्लेषणात्मक अध्ययन करने वाले प्रथम पुरुष थे। उन्होंने प्रथम बार यह बताया कि भगवद्गीता का केन्द्रीय गुण ईश्वर-प्रेम है जिसमें मैत्री, करुणा, समता, संतोष, यम, शौच, असंग और श्रद्धा जैसे गुण निहित हैं। ईश्वर-प्रेम की वही पद्धति उन्हें हिन्दी के सन्त-साहित्य में प्राप्त हुई।

प्रो० रानडे का मत है कि आध्यात्मिक जीवन निभाने के लिए कुछ गुणों का सम्पादन करना पड़ेगा। इससे यह भी ध्वनित होता है कि कुछ दोषों का परिहार करना पड़ेगा। सन्तों की संगति प्रमुख गुणों में से एक मुख्य गुण है। प्रो० रानडे का कथन है कि सन्तों की संगति ही एक सुख-राज्य है। उनका आदर्श राज्य ईश्वर-राज्य (रामराज्य) है। वहाँ ईश्वर परम शासक है और उसके आध्यात्मिक सूत्र में आबद्ध सभी मानव समान और साधक नागरिक हैं। उनका व्यवसाय केवल ईश्वर की महिमा तथा प्रशंसा से विश्व को आप्लावित कर देना है। प्रो० रानडे सुखवाद और संन्यासवाद के, या भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के मार्ग का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि भौतिक कल्याण की भर्त्सना हमें नहीं करनी चाहिए और वास्तव में नैतिक दार्शनिक तो वह होगा जो यथोचित दृष्टिकोण में उनका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। इस सम्बन्ध में उन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य के आनन्दवाद (Eudaemonism) के उदाहरण का उल्लेख किया है।

संगति का स्वभाव पर प्रभाव पड़ता है कि नहीं? इस विकट प्रश्न के उत्तर में प्रो० रानडे का कहना है कि नीति-निर्मित चरित्र पर कुसंगति का प्रभाव नहीं पड़ सकता है यद्यपि मूल-स्वभाव इससे सुप्रभाव्य है। प्रो० रानडे के अनुसार ललित कलायें दुधारी तलवार हैं। वे नैतिक एवं आध्यात्मिक मार्ग पर भी अग्रसर कर सकती हैं और ऐन्द्रिय वासनाओं को भी उत्तेजित कर सकती हैं। उनका लक्ष्य काम देवता की सेवा करना नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत उनका लक्ष्य ईश्वर की महिमा एवं मानव सम्पदा का आराम होना चाहिए। प्रो० रानडे के मत से वासनाओं के दमन के स्थान पर हमें उनका अध्यात्मीकरण कर देना चाहिए जिससे वे भक्तिपूर्ण उल्लास में सहायक हो सकें। आध्यात्मिक विकास के लिए आवेगपूर्ण भावना से हमें उपकरण का काम लेना चाहिए क्योंकि ईश्वर उनका आधार अथवा अन्तर्यामी शक्ति है।

जहाँ तक नीति शास्त्र की सब से कठिन समस्या इच्छा-स्वातंत्र्य का संबन्ध है, हम प्रो० रानडे के मूलग्रन्थ का उद्धरण देने से अधिक कुछ नहीं कर सकते—"मानव अपनी साधारण समस्याओं के सोचने की मूर्खता में अपने को सभी दृष्ट वस्तुओं का स्वामी समझने लगता है। वह यह विश्वास करने लगता है कि वह प्रत्येक अवस्था में उनका स्वामी ही रहेगा। वह प्रकृति को भी अपनी प्रभुवती इच्छा के सम्मुख झुकने के लिए विवश कर सकता है। किन्तु जीवन की घटनायें यह प्रमाणित कर देती हैं कि ये आशायें मिथ्या हैं और साधारण दशाओं में थोड़ी-सी स्वतंत्रता भले मिल जाय किन्तु वह सही अर्थ में स्वतंत्र नहीं है। वह डोरी से आबद्ध एक बाज के समान है और केवल सीमित क्षेत्र में ही उड़ सकता है, उसके बाहर उड़ने के लिए बाँधा है। इसी प्रकार मानव भले ही यह मिथ्या कल्पना करे कि वह स्वतंत्र है और अपनी इच्छानुसार कोई भी कल्पना कर सकता है किन्तु उसकी स्वतन्त्रता बद्ध श्येन की स्वतन्त्रता के समान है (ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फिलासफी पृ० ३१४)।

विविध नैतिक सिद्धान्त, यथा—प्रतिसुखवाद, आध्यात्मिक कर्मवाद, निःश्रेयसवाद और आत्म-साक्षात्कार प्रो० रानडे की नैतिक दर्शन की पूर्ण योजना में स्थान प्राप्त करते हैं। भगवद्गीता का परिपूर्ण आशावाद बौद्ध निर्वाण का निश्चित रूप से विरोधी है, यदि हम निर्वाण को नकरात्मक अभाव अर्थ में लें तो अपने लिए और दूसरों के लिए दिव्य आनन्द की प्राप्ति प्रो० रानडे के दर्शन का प्राण है। अतः उन्होंने इस बात को बार-बार कहा है कि रहस्यवाद अथवा अध्यात्म ज्ञान भावना एवं क्रिया का पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर देता है। यह कहना मिथ्या होगा कि केवल बुद्धि, केवल भावना और केवल क्रिया आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति में साहयक होती है। इनमें से एक या अन्य पर रहस्यवादी की मनोवृत्ति के अनुसार बल दिया जा सकता है। पर दिव्य आनन्द-प्राप्ति के लिए अधिक अथवा कम मात्रा में सब का रहना वाँछनीय है। ज्ञान, भक्ति तथा योग व्याघातक नहीं अपितु संग्राहक हैं। प्रो० रानडे ने अपनी 'कान्सट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी' में नैतिकता एवं तत्व-दर्शन तथा नैतिकता और रहस्यवाद के सम्बन्ध का वर्णन आश्चर्यपूर्ण ढंग से किया है। हम उनका मूल उद्धृत करते हैं, "यदि हम मानव की चेतना की अखंडता पर पूर्ण विचार करें तो मानव चेतना के यथाशक्य उच्चतम विकास के लिए रहस्यात्मक अनुभव से नैतिक अनुभव को तथा बुद्धि को नीति से पृथक करना पूर्णरूप से असम्भव प्रतीत होगा। बिना नीति रूपी मेरुदंड के बुद्धि चतुर कूटतर्क के रूप में विह्नसित हो सकती है और नैतिकता रहित रहस्यवादी यदि सम्भव भी हो तो वह एक भद्दा जीवधारी होगा और मानव के आध्यात्मिक विकास पर कलंक-सा रहेगा। और जैसे नैतिकता को ज्ञानात्मक होने के लिए दृढ़तापूर्वक बुद्धि से संलग्न होना चाहिए उसी प्रकार अपने चरम विकास के लिए उसका अन्त रहस्यात्मक मनोवृत्ति में होना चाहिए। केवल यही मानव जीवन का लक्ष्य और साध्य है।"

संक्षेपतः तत्व दर्शन, नैतिकता और रहस्यवाद मानव के उत्कृष्टतम आध्यात्मिक विकास के लिए एक दूसरे से उसी प्रकार अवियोज्य हैं जिस प्रकार मानव के उत्कृष्टतम मनोवैज्ञानिक विकास के लिए बुद्धि, इच्छा और आवेग अवियोज्य हैं।[१] नैतिक परम कल्याण अप्रविलेय रूप से रहस्यात्मक सिद्धि से सम्बन्धित है। आदर्श नैतिकता का उद्‌गम ईश्वर से होता है और वह चरम काष्ठा भी ईश्वर में प्राप्त करती है। ईश्वर ही नैतिकता के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत करता है और वही उसे पूर्णता भी प्रदान करता है, क्योंकि नैतिकता के लिए जो शाश्वत 'नकार' है वही ईश्वर के लिए शाश्वत 'हाँ' है।

अनुवादकर्त्ता

शीतलाप्रसाद पाण्डेय

१ ए कान्सट्रकटिव सर्वे आव् उपनिषदिक फ़िलासफी पृ० २८७-८८।

आचार्य रानडे और अपरोक्षानुभूति

ले० डॉ० शिवनारायणलाल श्रीवास्तव, एम० ए०, डी० लिट्०

स्व० आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के निधन से दार्शनिक जगत् ने एक अमूल्य रत्न को खो दिया। उनके एक प्रिय शिष्य के नाते उनकी पुण्य स्मृति में मैं कुछ शब्द उनके व्यक्तित्व और उनके दार्शनिक विचारों के विषय में लिख रहा हूं। उनके व्यक्तित्व के विषय में इसलिए लिखना आवश्यक है कि उनके दार्शनिक विचार उनके व्यक्तित्व में, उनकी जीवन-शैली में, मूर्तिमान थे। जिन लोगों को आचार्य रानडे के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे सभी इस बात की पुष्टि करेंगे। दर्शन जीवन की व्याख्या है। उच्चस्तरीय जीवन में ही श्रेष्ठ दार्शनिक तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं। दार्शनिक का जीवन जितना ही श्रेष्ठ, सर्वाङ्गीण एवं सर्वतोमुखी होगा, उसका दर्शन उतना ही व्यापक एवं अर्थपूर्ण होगा। भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार किसी भी व्यक्ति का दर्शन उसकी चेतना के विकास के सापेक्ष होता है। विश्व के सार-भूत तत्वों का साक्षात्कार सन्तों की पूर्णतः विकसित चेतना में होता है। चेतना का यह विकास उनके आध्यात्मिक साधन का परिणाम होता है। भारतीय परम्परा के अनुसार दार्शनिक को विचारक और साधक दोनों होना चाहिए। आचार्य रानडे इसी परम्परा के दार्शनिक थे।

यद्यपि उन्होंने विचार की प्रक्रियाओं का कभी परित्याग नहीं किया, फिर भी उनकी अन्तिम आस्था अपरोक्षानुभूति (mystic experience) में थी। इसी आस्था ने उनकी जीवन-शैली को निर्धारित किया। रानडे ने सन्तों के ढांचे में अपने जीवन को ढाला। अतः उनमें वे सभी गुण विद्यमान थे जो सन्तों में होने चाहिए, सादगी, सच्चाई, विनय, ईश्वर-भक्ति आदि। जनवरी ९, १९५४ को उनके 'परमार्थ सोपान' के प्रकाशन के उपलक्ष में आयोजित सभा के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह उद्‌गार प्रगट किया था—"आचार्य रानडे से मेरा कई वर्षों से परिचय है। अपने आराध्य विषय के अनुशीलन में, अपने जीवन को समर्पण करने में, वे मुझसे अधिक समर्थ रहे। मेरा कार्यक्रम प्रक्षिप्त रहा, यद्यपि दर्शन से मुझे सर्वोपरि अनुराग है। रानडे के जीवन में दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं है किन्तु परम ज्ञान की प्राप्ति का साधन है (Pursuit of wisdom), आत्मा का ध्यान एवं आत्म-समर्पण का जीवन है।" इन शब्दों में डा० राधाकृष्णन् ने आचार्य रानडे के व्यक्तित्व के केन्द्र-बिन्दु को प्रगट कर दिया है।

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि रानडे ने अपरोक्षानुभूति

(intuition or mystical experience) पर इतना जोर दिया है, तथापि उनके अनुसार अपरोक्षानुभूति बुद्धि या विचार की विरोधी नहीं है और न सन्त-जीवन का यह अर्थ होता है कि सन्त नैतिक कर्तव्यों की अवहेलना करता है। ठीक इसके विपरीत उन्होंने यह कहा है कि अन्तर्ज्योति को जगाने वाले सन्त की बुद्धि और भी अधिक तीव्र एवं स्फुटित होती है और उसकी नैतिकता का भी उन्नयन होता है। उन्हीं के शब्दों में "जो व्यक्ति सन्त-जीवन (mystical life) का आकांक्षी है उसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी बुद्धि तीव्र एवं अमोघ हो; उसमें शक्तिशाली दार्शनिक चिंतन की क्षमता होनी चाहिए। यह कोई असंगत बात नहीं है कि शंकराचार्य और याज्ञवल्क्य, प्लाटिनस और स्पिनोजा, सन्त पाल और आगस्टाइन, ज्ञानेश्वर और कबीर जैसे महान् सन्तों ने महान् बौद्धिक कृतियों को जन्म दिया है जो कि उनके जीवन के पश्चात् भी जीवित रह सकीं। हमें यह कहना चाहिए कि ये कृतियाँ कुछ हद तक अमर हैं और जब तक संसार में सन्तों की आन्तरिक अनुभूतियों का मूल्य रहेगा तब तक इनका विनाश नहीं हो सकता। और बातों में से एक, इस प्रकार का सही विचार जिसे कि दार्शनिक स्वीकृति तथा स्तुति प्राप्त हो सके, आन्तरिक अनुभूति का अनिवार्य अंग होता है। .... अतः बौद्धिक शक्ति एवं स्फुटित विचार अपरोक्षानुभूति का प्राथमिक लक्षण है।

अपरोक्षानुभूति का एक दूसरा लक्षण है व्यक्ति और समाज के नैतिक विकास की उसकी क्षमता। अपरोक्षानुभूतिवाद के आलोचकों द्वारा कहा गया है कि यह वाद एक ओर तो अति नैतिकता की ओर ले जाता है और दूसरी ओर शान्त जीवन की ओर। डीन इंज ने कहा है कि वे दार्शनिक सम्प्रदाय जो कि अपरोक्षानुभूति से सहानुभूति रखते हैं, प्रायः नैतिकता की दृष्टि से कमजोर होते हैं; और इस सम्बन्ध में वे पौर्वात्य सर्वेश्वरवाद (oriental pantheism) का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—मानों कि इसका कोई पृथक् वर्ग हो, जो सभी वस्तुओं को समान रूप से भागवत (divine) समझता है और उचित और अनुचित में भेद नहीं रखता। (Studies of English Mystics, p. 31)। डीन इंज का टामस ए केम्पिस को सन्त (mystic) की उपाधि से इसलिए वंचित रखना कि वह शांत-जीवन का प्रतिपादक है, असंगत है। स्मरणीय है कि सन्त-मत की यह समालोचना डीन इंज ने की है जो कि स्वयं और कुछ होने की अपेक्षा सन्त ही अधिक मात्रा में हैं। और सन्त के लिए यह कहना कि संत-मत नैतिकता का शोषण करता है कांच के घर में रहने वाले के लिए अपने ही घर में पत्थर फेंकना है। विपरीततः, हम यह पाते हैं कि सच्चा सन्त-जीवन व्यक्ति तथा मानव समाज में पूर्ण नैतिकता के विकास का प्रतिपादन करता है। प्लाटिनस ने भी सन्त-जीवन के लिए नैतिक शीलों की परिपक्वता पर बल दिया है।"[1]

1. Pathway to God in Hindi Literature, p. 4-5.

ऊपर दिये हुए उद्धरण से यह स्पष्ट है कि रानडे के अनुसार अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक सन्त-मार्ग बुद्धि और नीति के विरुद्ध नहीं है; अपितु बौद्धिक प्रखरता और नैतिक परिपक्वता सन्त-मार्ग के लिए अनिवार्य हैं। सन्त-मार्ग के अनुशीलन में रत रानडे की कृतियों में भी हमें उनकी कुशाग्र बुद्धि का पर्याप्त परिचय मिलता है।

जिस तरह सन्तों की आन्तरिक अनुभूति के साथ बुद्धिपरता तथा नैतिकता के अभाव की कल्पना केवल भ्रान्तिमात्र है, उसी तरह यह भी भ्रान्त धारणा है कि सन्तों के जीवन में भावनाओं (emotions) के लिए कोई स्थान नहीं रहता अर्थात् उनका जीवन भावना-शून्य होता है। आचार्य रानडे ने इस भ्रान्त धारणा का भी निराकरण किया है। तुलसीदास, सूरदास, एकनाथ, तुकाराम आदि सन्तों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि "आन्तरिक अनुभूति के लिए भावनाओं का जीवन प्रायः अनिवार्य है। सच पूछा जाय तो ईश्वर-साक्षात्कार की ओर उन्मुख कोमल भावनाओं की प्रचुरता के बिना आन्तरिक अनुभूति सम्भव नहीं है। सन्त-जीवन का भावना-शून्य होना तो दूर रहा, हमें यह कहना चाहिए कि वह अत्यन्त भावुक होता है; भेद केवल यही है कि इस जीवन में भावनाओं को व्यवस्थित एवं बुद्धि के नियन्त्रण में रखना चाहिए।"[१] जिन लोगों ने आचार्य रानडे के समीप रहकर उनके स्वयं के जीवन से परिचय प्राप्त किया है वे जानते हैं कि उनके जीवन में कोमल भावनाओं की कितनी प्रचुरता थी।

सन्त-अनुभूति के सम्बन्ध में जो सबसे जटिल प्रश्न उठाया जाता है वह है उसकी प्रामाणिकता के विषय में। सन्त-मत के आलोचकों द्वारा बहुधा यही कहा जाता है कि सन्त-अनुभूति एक स्वगत (subjective) अनुभूति है जिसके लिए कोई सर्ववेद्य (objective) प्रमाण नहीं है। यों तो यह ठीक ही है कि सन्त-अनुभूति सन्त की स्वानुभूति होती है और उसके लिए वह स्वतः सिद्ध होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार की अनुभूति नितान्त वैयक्तिक है और इसका कोई सर्ववेद्य प्रमाण नहीं है। यह स्पष्ट है कि सन्त-अनुभूति का विषय बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों की तरह सर्ववेद्य नहीं हो सकता, किन्तु एक दृष्टि से इसका एक सर्ववेद्य प्रमाण भी है जो कि सन्त-अनुभूति को नितान्त वैयक्तिक कहाने से बचाता है—वह है संसार के समस्त देशों में होने वाले सभी युगों के सन्तों की अनुभूतियों की एकरूपता, सन्त-अनुभूति की सार्वभौमिकता। आचार्य रानडे लिखते हैं कि "पूर्व और पश्चिम के सन्तों की संचित अनुभूति" "यह सिद्ध करती है कि किसी हद तक संत-अनुभूति सार्वभौम है। ये सभी संत भगवन्नाम, भक्ति की ज्वाला, आत्मानुभूति का स्वरूप आदि विषयों पर एकमत हैं और केवल अभिमानपूर्ण पक्षपात के कारण ही एक देश या धर्म के कुछ लोग अपने सन्तों को अन्य देश या धर्म के सन्तों से श्रेष्ठतर समझते हैं। यदि ईश्वर के समक्ष सभी मनुष्य समान हैं और सभी मनुष्यों में वही दिव्य-चक्षु है तो यह कहना निरर्थक है कि

---

१ वही, पृ० ७।

विभिन्न संतों की ईश्वरीय अनुभूतियों में गुणात्मक भेद हैं। यह सच है कि शारीरिक, मानसिक एवं स्वाभाविक भेद हो सकते हैं, किन्तु ईश्वरीय अनुभूतियों में गुणात्मक भेद होना सम्भव नहीं है।"[३]

प्रस्तुत लेख में हमने आचार्य रानडे के अपरोक्षानुभूति सम्बन्धी विचारों का ही अधिकतर उल्लेख किया है क्योंकि लेखक की राय में आत्मानुभूति ही रानडे के समस्त दार्शनिक विचारों का केन्द्र-बिन्दु है। इस दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा कि रानडे को प्रेरणा उपनिषदों और भारतीय सन्तों से मिली, यद्यपि उन्होंने ग्रीक और योरोपीय दर्शनों का भी मार्मिक अध्ययन किया। पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनों के अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे—लेखक भी इस विचार से पूर्णतः सहमत है—कि पूर्व और पश्चिम के दर्शन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं है किन्तु मिलते-जुलते हैं।[४] शंकर और ब्रैडले, वार्ड और रामानुज, सांख्य और मैक्टेगार्ट तथा अन्य पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों में पर्याप्त समानता है। इससे यही सिद्ध होता है कि दर्शन प्रादेशिक नहीं किन्तु सार्वभौमिक है और पूर्व और पश्चिम के दर्शनों को एक दूसरे के विपरीत मानना भ्रान्तिमात्र है। रानडे पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनों के सम्बन्धक अध्ययन के (a correlated study of Indian and Western Philosophy) के समर्थक थे।

ग्रीक, भारतीय तथा योरोपीय दर्शनों के समीक्षात्मक एवं रचनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप जिन दार्शनिक तथ्यों को रानडे ने अपनाया उनका उन्होंने Contemporary Indian Philosophy में दिये हुए अपने निबन्ध में संक्षिप्त उल्लेख किया है जो मुख्यतः ये हैं :—(१) भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का सम्बन्धक अध्ययन केवल संभव ही नहीं किन्तु इष्ट भी है; (२) सापेक्षतावाद ईश्वर पर लागू नहीं होता अर्थात् ईश्वर निरपेक्ष तत्व है; एक निरपेक्ष चरम सत्य है जो कि ईश्वर है, (३) सत्य की श्रेणियाँ (degrees) नहीं होतीं, श्रेणियाँ विपर्यय की हो सकती हैं; (४) गति (motion) भ्रान्तिमात्र नहीं है, गति की वास्तविक सत्ता है; (५) आत्मज्ञान सम्भव है। आत्मा ज्ञाता है जो ज्ञेय कभी नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञेय नहीं हो सकता इसका यही अर्थ है कि आत्मा विषयरूप से प्रस्तुत नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मा नितान्त अज्ञेय है। आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है जिसमें आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। याज्ञवल्क्य तथा शंकर और काण्ट के मत में यही भेद है कि काण्ट के अनुसार आत्मा सदैव अज्ञेय रहेगा जब कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अपरोक्षानुभूति (intuition) द्वारा आत्मा का ज्ञान सम्भव है। (६) आत्म-ज्ञान से व्यक्ति और समाज का नैतिक उन्नयन भी होता है। मानव के आध्यात्मिक विकास का नैतिक परिपक्वता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

३. वही, पृ० ८।

४. देखिये, Contemporary Indian Philosophy में 'The Evolution of my own thought' नामक उनका निबन्ध.

प्रो० रानडे का बौद्धिक रहस्यवाद

प्राचार्य अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, निवृत्त अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

स्वर्गीय प्रो० रानडे के साथ मैं बहुत अरसे तक रहा हूँ। उनके सम्पर्क में रहने से मुझे ज्ञान हुआ कि वे असीम स्नेह और सर्वतोमुखी उदारता करने वाले महापुरुष थे। वे अपने कट्टर से कट्टर विरोधी से भी हिलमिल जाते थे। उनका व्यक्तित्व उनके दर्शन का द्योतक था।

वे रहस्यवादी थे, पर रहस्यवादी शब्द के साधारण अर्थ में नहीं। उनका दर्शन किसी ऐसे पुराने मत का जीर्णोद्धार मात्र नहीं था जो बुद्धिवादी दर्शनों की प्रखर मांगों को ठुकरा देता है। निःसन्देह उनका मत रहस्यवाद था और इसको उन्होंने भारतीय तथा पश्चिमी विचार-धाराओं के द्वारा विकसित किया था। उनकी प्रचण्ड घोषणा है कि अपरोक्षानुभूति (प्रतिभान) बुद्धि की परिपूर्णता है और इस कारण इस पर आधारित रहस्यवाद अबौद्धिक, युक्तिशून्य नहीं है। इस प्रकार उनके रहस्यवाद ने रहस्यवादी विचार-धारा को अनोखे और महत्वपूर्ण ढंग से एक नई दिशा में मोड़ा है।

उनके रहस्यवाद की चरम कसौटी एक प्रकार का अनुभव है जिसमें भावना तथा इच्छा के आदर्शों के साथ ही साथ बुद्धि के आदर्श की प्राप्ति होती है। मानव स्वभाव के बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक आदि पक्षों से परिपूर्ण साधना द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना ही दर्शन का प्रयोजन है। इस साधना से एक पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है जिसमें ईश्वर अपने को प्रकट करता है। इस अनुभव को प्राप्त करने का मतलब बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र से हटना नहीं है, अथवा नैतिकता या कला-मर्मज्ञता से भागना नहीं है। इसके विपरीत इस अनुभव में मनुष्य की सभी विविध प्रवृत्तियों की पूर्ण प्राप्ति और परितृप्ति होती है। यह अनुभव संबन्ध-निरपेक्ष है इस कारण अकथनीय तथा अवर्णनीय है। यही ईश्वर-प्राप्ति है। चूँ कि यह बौद्धिक आदर्शमात्र को आत्मसात् और उपसंक्रमण करता है, इसलिए यह बुद्धि के परे या ऊपर है। चूँ कि यह नैतिक आदर्श को आत्मसात् और उपसंक्रमण करता है इसीलिए यह नीति के परे या ऊपर है, एवमादि।

उपर्युक्त कारणों से श्री रानडे का रहस्यवाद में विशिष्ट योगदान है। इसका समकालीन दर्शन में, विशेषतः समकालीन धर्म-शास्त्र में, महत्वपूर्ण स्थान है। यदि नर्मी से कहा जाय तो भी हम कहेंगे कि यह इतना महत्त्व पूर्ण है कि इस शताब्दी के दर्शन के विद्यार्थियों द्वारा इसको पूरी तरह से विकसित करने की आवश्यकता है।

—:०:—

प्रो० रानडे के रहस्यवाद का साक्षात्कार

भगवती प्रसाद, इलाहाबाद

(१) उपनिषदों के दर्शन पर लिखी गई श्री रानडे की पुस्तक को पढ़ने से एक प्रकाश मिलता है। महाराष्ट्र के रहस्यवाद नामक उनकी दूसरी पुस्तक जिज्ञासु पाठक के मर्म को छू लेती है और हृदय के संगीत को सुना देती है।

सम्भवतः हिन्दू-धर्म का रहस्यवाद की ओर विकास हो रहा है। श्री रानडे के शब्दों में "जब हम उपनिषदों के रहस्यवाद से मध्य युग के रहस्यवाद की ओर चलते हैं, तो देखने में आता है कि आध्यात्मिक साधना छिपी हुई कन्दराओं से निकल कर बाजार में आ गई है।" यह सत्य है और बड़ी सुन्दर शैली में यहां कहा गया है। प्रो० रानडे का रहस्यवाद भी लोक में बिखरा हुआ पर अत्यन्त निखरा हुआ रहस्यवाद है। उनकी पुस्तक पाथवे टु गाड तो उनके रहस्यवाद का पूर्ण परिचय देती है। यह साधक की सच्ची देशना करती है और उसके मार्ग का पूरा चित्र उतार देती है।

(२) एक बार अध्यात्म परिषद् की बैठक में मुझे शामिल होने का अवसर मिला। पं० देवीप्रसाद शुक्ल ने रहस्यवाद के किसी पक्ष पर उस बैठक में लेख पढ़ा था। उसके अनन्तर मैंने प्रो० रानडे से पूछा—क्या लोक-सेवा में संलग्न व्यक्ति परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता है?

इस पर प्रो० रानडे ने कहा—"हाँ, हाँ, वह भी एक मार्ग है।"

मेरे लिए अब लोक-सेवा और परमात्म-चिन्तन दोनों का समन्वय करना समस्या हो गया।

श्री रानडे के निम्नलिखित शब्द इस प्रसंग में उल्लेख योग्य हैं - "जहाँ तक समाज के लिए रहस्यवादी की उपयोगिता का प्रश्न है, इसको हम बिलकुल सत्य मान सकते हैं कि जो रहस्यवादी समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी नहीं है, वह बिलकुल रहस्यवादी नहीं हैं। यह सत्य है कि रहस्यवादियों की प्रवृत्तियों में भेद होता है। कोई रहस्यवादी कुछ या अधिक विरक्त होना पसन्द कर सकता है तो कोई कर्मठ होता है।" उनके मत से शिवा जी के गुरु समर्थ रामदास तथा महात्मा गान्धी कर्मोन्मुख रहस्यवादी थे।

इस प्रकार यह जानने में कठिनाई न होगी कि नामस्मरण (परमात्मा के नाम पर चिन्तन) और कर्मवाद में विरोध नहीं है। एक दूसरे का सहकारी है। अगर चौबीस

घन्टे में कुछ समय सोने का मतलब काम को बन्द करना न होकर उसको नई शक्ति से करना है तो कुछ समय ईश्वर-नाम का स्मरण भी कर्म का संन्यास न होकर कर्म को और ऊँचे स्तर से करना है। संयत आत्मवाद की ये अनिवार्य शर्तें हैं- नाम स्मरण और कर्म करना। गीता सचमुच रहस्यवादी कर्मवाद की, न कि कोरे बौद्धिक कर्मवाद की, शिक्षा देती है।

(३) एक बार प्रो० रानडे से मैंने पूछा कि प्रतिभास (Hallucination) और रहस्यवादी अनुभूति (Mystical experience) में क्या अन्तर है। इस पर उन्होंने तीन बातें बतलायीं।

पहली बात—नानक की निम्नलिखित बानी इस भेद को स्पष्ट करती है—

"बाहर भीतर एकहि जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।"

कबीर भी इसको बताते हैं—

"भीतर रहा सो बाहर देखे, बाहर रहा सो भीतर देखै। दूजा दृष्टि न आवे।"

इसका आशय यह है कि रहस्यानुभूति शरीर के बाहर और भीतर दोनों जगह विद्यमान वस्तु की अनुभूति है। भ्रम-प्रतिभास केवल शरीर के अन्दर विद्यमान (मनो कल्पित) वस्तु के ज्ञान हैं। शरीर से बाहर उनसे द्योतित वस्तु का प्रक्षेप अवश्य होता है, पर वस्तुतः बाहरी जगत् में वह वस्तु होती नहीं। दूसरी बात आनन्दानुभूति है। भ्रम-प्रतिभास आदि में निरतिशय आनन्द नहीं मिलता है, जब कि अपरोक्षानुभूति में मिलता है।

तीसरी बात सातत्य और नित्यता है। रहस्यानुभूति नित्य और सतत होती है, भ्रम तथा प्रतिभास क्षणभंगुर और कादाचित्क होते हैं। भ्रमों और प्रतिभासों का तांता नहीं बँधता, रहस्यानुभूति का तो खासा तांता बँधा रहता है। इस तांते में तारतम्य भी दिखाई पड़ता है।

इन तीन कसौटियों से सचमुच मुझे बड़ा सन्तोष मिला। मैं इनकी सत्यता पर जितना ही मनन करता हूँ उतना ही ज्ञात होता है कि रहस्यानुभूति नितान्त सत्य है।

—::o—

गुरुदेव रानडे की नाम-साधना

ले०—प्राचार्य शं० वा० दांडेकर, एम० ए०

प्रस्तुत लेख में मैं गुरुदेव रानडे की नाम-साधना का ही संस्मरण कर रहा हूँ।

१

'गुरुवाक्यावांचूनि शास्त्र। हातीं न शिवे॥'

(गुरु-वाक्य के सिवा अन्य शास्त्रों को हाथ से छूना तक न चाहिए।)

गुरुदेव रामभाऊ को बचपन में ही श्री भाऊ साहब महाराज उमदीकर जी का अनुग्रह प्राप्त हुआ। जैसे-जैसे अनुभव आने लगे वैसी-वैसी उनकी गुरु के प्रति निष्ठा बढ़ती गई। भाऊ साहेब महाराज के शब्द ही उनके धर्म-शास्त्र बने। उन्होंने अपने गुरु जी के अक्षर-अक्षर एकत्रित किए हैं। उनका मानस था कि उनमें से कुछ अंश प्रकाशित हो। परन्तु दुर्भाग्य से वह कार्य अधूरा हीं रहा। प्रा० नरहर पंत दामले, श्री काका साहब तुलपुले प्रभृति अधिकारी सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि वे उस साहित्य को अवश्य प्रकाशित करें।

गुरुसंप्रदाय धर्म। तेचि जयाचे वर्णाश्रम।
गुरुपरिचर्या नित्यकर्म। जयाचें गा॥
श्रीगुरुचें द्वार। तें जयाचें सर्वस्व सार।
गुरुसेवकां सहोदर। प्रेमें भजे॥
जयाचें वक्त्र। वाहे गुरुनामाचे मन्त्र।
गुरुवाक्यावांचूनि शास्त्र। हातीं न शिवे॥ ज्ञाने० १३-४४४-४७

[गुरु संप्रदाय के आचार ही जिसके वर्णाश्रम विहित कर्म हैं, गुरु-सेवा जिसका नित्यकर्म रहता है, श्री गुरु का द्वार ही जिसका सर्वस्व सार है, जो गुरु सेवकों के साथ अपने भाई के समान प्रेम से बर्ताव करता है, जिसका मुख गुरु-नाम का मन्त्र धारण करता है और जो गुरु-वाक्य के सिवा दूसरे शास्त्र को हाथ से छूता तक नहीं है, वह पुरुष तत्वज्ञान का स्थान है।]

श्री ज्ञानदेव जीकी 'आचार्योपास्ति' पद पर उपर्युक्त लिखी ओवियों का गुरुदेव प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

२

'जो नित्य एकांता जाये।'

(जो नित्य एकान्त में वास करता है।)

गुरुदेव ने इलाहाबाद में मोटर खरीदी थी। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या विद्यापीठ में पढ़ाने के हेतु और सभाओं में व्याख्यान देने या सुनने के हेतु दौड़-धूप करने वाले रामभाऊ को मोटर की आवश्यकता थी? स्टेशन पर गाड़ियाँ देखने के लिए या सुबह शाम बगीचे में घूमने के लिए उन्होंने मोटर रखी होगी यह कारण उनके बारे में असम्भव था। उनकी मोटर थी इलाहाबाद के घर का एकान्त भी साधना के लिए पर्याप्त न होने से गंगा जी के किनारे जाकर साधना करने के लिए। ज्ञानदेव जी की 'जो नित्य एकान्ता जाये।' (जो नित्य एकान्त में वास करता है।) यह नित्य एकांत वास की महिमा वर्णन करने वाली ओवी रामभाऊ के बारे में प्रतिदिन प्रतीत होती थी।

रामभाऊ की यह एकान्त वास की वृत्ति पूना में फर्ग्युसन कालेज में प्राध्यापक होने पर भी दिखाई देती थी। वे साइकिल पर बैठकर दूर एकान्त में जाकर ध्यान करने के लिए प्रति दिन बैठते थे।

३

'ध्यान से अटूट प्रेम।'

गुरुदेव इलाहाबाद में द्रौपदी घाट के बँगले में रहते थे। एक बार किसी ने उनसे पूछा, 'रामभाऊ, इलाहाबाद में द्रौपदी घाट पर बँगला किसलिए? उन्होंने आचार्यरचित श्लोक की आगे की पंक्ति कही :—

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहम्।
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि॥

कैसा यह ध्यान से प्रेम!

४

'फललें तें लवे भारे। पीक खरें आलें तें॥'

(अच्छी फसल तभी समझी जाती है जब पेड़ फल-भार से झुकते हैं।)

गुरुदेव ने ज्ञानेश्वरी से और तुकाराम महाराज की गाथा से कुछ उद्धरण चुने। वास्तव में वे उस समय (सन् १६१८-१६ में) कालेज में प्राध्यापक थे। वे एम० ए० की परीक्षा में तत्त्वज्ञान विषय में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे और चान्सलर स्वर्णपदक

प्राप्त होने से उनका जिधर-उधर सम्मान हुआ था। फिर भी 'आपुलेंचि रत्न थितें। घेड़े' पारखियाचेनि हाते'।' (अपना रत्न जौहरी से जँचवाना चाहिए।) इस उक्ति के अनुसार अपने ज्ञान की जाँच उसके तज्ज्ञों द्वारा कराने में प्रतीत होनेवाली विनय और नम्रता रामभाऊ में थी। उन्होंने चुने उद्धरण गु० वै० ह० भ० प० जोग महाराज (महाराष्ट्र के एक बड़े साधु) को जाँचने के लिए दिए। उन्होंने उस समय ऐसा विचार नहीं किया कि 'बिष्णु बोवा जोग तो कम पढ़े लिखे आदमी! (विष्णुबोवा जोग मराठी चौथी कक्षा तक पढ़े थे।) उन्हें अपने चुने उद्धरण दिखाने से क्या लाभ!' परन्तु नहीं। उन्होंने चुने उद्धरण जोग महाराज के पास अवलोकनार्थ भेजे। उन्हें पढ़कर जोग महाराज ने मुझसे कहा, 'अरे! तेरे प्राध्यापक ने तो अच्छे उद्धरण चुन निकाले।' कितना खुला दिल! नहीं तो, 'इसमें तुम क्या समझता है?' कहकर दूसरों को चुप करने वाले पंडित रहते ही हैं!

उनकी यही वृत्ति रात को ग्रन्थ तैयार करने के लिए जब उसका वाचन चलता था तब रहती थी और ऐसा ग्रन्थ के अन्त तक चलता रहता था। किसी ने नया अर्थ बताया, समान अर्थ की पंक्ति सुझायी कि तुरन्त रामभाऊ उनसे कहते थे, 'यह लीजिये लेखनी और दीजिये लिख कर।' उन्होंने एक बड़े शहर के समारोह में अपने व्याख्यान में कहा, 'यह पद मैंने एक नाई से लिया है।'

५

'साधिनाची पुष्टि येईल अंगा।'

(साधना से शरीर बलवान् होगा।)

एक दिन स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बात-चीत हो रही थी। मैंने कहा, 'कीर्तन करते हुए घूमते रहने पर स्वास्थ्य ठीक रहता है।' रामभाऊ ने कहा, 'अजी, भाऊ साहब महाराज कहते थे, 'मनुष्य साधना समाप्त करने पर दूध पीकर मस्त हुए मनुष्य के समान दिखाई देना चाहिए।'

क्षय-जैसी असाध्य बीमारी से झगड़ते हुए रामभाऊ चालीस वर्ष तक भगवान् की साधना कर सके इसका कारण उनकी पुष्टिदायक साधना है। 'जिये मार्गीचा कापड़ी महेश अजुनी।' (अब भी शिवजी साधना-मार्ग के राही हैं।) यह उक्ति सर्वश्रुत ही है। रामभाऊ का संक्षेप में वर्णन करना हो तो वे साधना की प्रतिमूर्ति थे। दिन में कई घन्टे चौदह-चौदह घन्टे भी वे साधना में ही बिताते थे। अन्य समय भी जैसे बोलते समय, पुराण-पठन के समय या किसी की बात सुनते समय उनके आचरण में कुछ निरालापन दिखाई देता था। ध्यान में लौ लगी कि रामभाऊ पुराण से कभी उठेंगे ही नहीं यह निश्चित। दो दिन ध्यान किया तो मनुष्य को ऐसा प्रतीत होता है कि कितनी साधना की! रामभाऊ प्रतिदिन दस-दस घन्टे इस प्रकार तीन तपके ऊपर साधना करने पर भी कहते थे, 'मेरे गुरु जी के समान मुझसे साधना नहीं होती।'

६

'नित्यनेम आदरें।'

(आदर से नित्य नियम का परिपालन करना चाहिए।)

ठीक समय पर नित्य नियम होने चाहिए इसलिए रामभाऊ जिसको हम सार्वजनिक कार्यक्रम कहते हैं उनसे वंचित रहते थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, 'Dandekar, I have no social life.'

निकटवर्ती मनुष्य से सम्बन्धित कोई बड़ा समारोह क्यों न हो, यदि यह ध्यान के समय हो तो रामभाऊ उसमें सम्मिलित नहीं होते थे। वे नियम की पाबन्दी का ख्याल बराबर रखते थे। जिनको उनके नित्य नियमों की कड़ाई का ख्याल था उनके अन्तःकरण में रामभाऊ के विषय में किसी प्रकार की भी गलतफहमी उत्पन्न नहीं होती थी। परन्तु दूसरों को रामभाऊ का इस प्रकार का आचरण विचित्र-सा प्रतीत होता था। इसके सम्बन्ध में वे अपने गुरुजी का दृष्टान्त देते थे। एक दिन भाऊ साहब महाराज साधना करने के लिए अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर रहे थे। इतने में एक प्रतिष्ठित आदमी उनसे मिलने के लिए आये। उनको देखकर भाऊ साहब बोले, 'बाद में आइये।' और दरवाजा बन्द करके वे ध्यानस्थ बैठे। जिस दिन रामभाऊ परलोक सिधारे उस दिन भी उन्होंने नियम का परिपालन किया। कितनी नियम पर निष्ठा !

७

'नामाच्या चिंतनें। बारा वाटा पळती विघ्नें॥'

(हरिनाम के चिंतन से विघ्न चारों ओर भाग जाते हैं।)

दो तीन वर्ष पूर्व रामभाऊ को प्रतिदिन महीन ज्वर आता था। सोलापूर, बम्बई के विख्यात डाक्टर-वैद्यों ने कहा कि क्षय के जन्तुओं का प्रादुर्भाव हृदय और कफ की जाँच करने पर दिखाई देता है। तब उसके लिए दवाइयाँ और इन्जेक्शन्स लेना आवश्यक है। गुरुदेव ने डाक्टर से कहा, 'दवाइयाँ अब नहीं चाहिए, एक सप्ताह के बाद देखेंगे।' उस सप्ताह में उन्होंने साधना पर विशेष जोर दिया और आश्चर्य कि डाक्टरों ने एक सप्ताह के बाद जब हृदय और कफ की जाँच की तब दोनों जन्तु-शून्य दिखाई दिए। नाम की शक्ति पर कितनी श्रद्धा !

गुरुदेव तो यही मानते थे कि भगवत्प्राप्ति के लिए हरि-नाम से बढ़कर कोई दूसरा साधन ही नहीं है। गुरु के प्रदान किये नाम मन्त्र के सिवा अन्य साधना की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं गया। 'कोणी कांहीं तरी केली आचरणें। मज या कीर्तनेंवीण नाहीं। (कोई भले ही अन्य साधना करे, मेरे लिए तो कीर्तन-भजन के सिवा दूसरी साधना ही नहीं है।) इस तुकाराम महाराज की उक्ति के अनुसार गुरुदेव

का आचरण था। उनका दृढ़ विश्वास था कि नाम से ही सब कुछ सिद्ध होता है। इसीलिए उन्होंने हरिनाम के सिवा दूसरी साधना ही नहीं की।

८

'अखण्ड लागली से ज्योती।'

(अखण्ड ध्यान में लौ लगी।)

एक बार किसी ने गुरुदेव से पूछा, 'रामभाऊ आप नींद कितने घन्टे लेते हैं।' उन्होंने तुकाराम महाराज की उक्ति में कहा :—

'न कले दिवस की राती। अखण्ड लागली से ज्योती।

आनन्द लहरीची गती। वर्णई किती तया सुखा॥'

(ध्यान में अखण्ड लौ लगने से दिन या रात का भी स्मरण नहीं रहता। उस ब्रह्मानन्द का और महासुख का वर्णन नहीं हो सकता।)

—:●:—

डाक्टर रानडे और कर्नाटक-रहस्यवाद

म० श्री० देशपाण्डे, एम० ए०, अथनी, कर्नाटक

श्री गुरुदेव रानडे बुद्धि के हिमालय थे। ज्ञान-विज्ञान के सभी विभागों में उनकी प्रकृष्ट प्रतिभा की अत्यन्त सहज गति थी। प्रधानतया वे सन्त-दार्शनिक थे; पर साथ ही वे गणितज्ञ, वैज्ञानिक एवं बहुभाषाविद् भी थे। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक इन तीन प्राचीन भाषाओं पर, अँगरेजी और जर्मन इन दो अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं पर, मराठी और कन्नड इन प्रादेशीय भाषाओं पर तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी पर उनका पूर्ण अधिकार था। मराठी उनकी मातृ भाषा थी। इसी का उन्होंने प्रारम्भ से अध्ययन किया था। नवीन कर्नाटक-राज्य के बीजापुर जिले के अन्तर्गत जमखण्डि नामक तालुके में जन्म तथा पालन पोषण होने पर भी पहले वे कन्नड भाषा को थोड़ा-सा समझ तो लेते थे किन्तु उसे पढ़ या लिख नहीं सकते थे। कन्नड भाषा के प्रगाढ़ अध्ययन की आवश्यकता को उन्होंने अपने जीवन में अपेक्षाकृत कुछ देर से समझा। अपनी अननुकरणीय रीति से उन्होंने इस भाषा पर विना इसकी लिपि को जाने ही बड़ी शीघ्रता से अधिकार प्राप्त कर लिया था।

यह जानना रोचक है कि किस भाँति उनका ध्यान कन्नड और कर्नाटक-रहस्यवाद के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ। उमादी के प्रख्यात सन्त तथा उनके आध्यात्मिक गुरु श्री भाऊ साहब महाराज और उनके गुरु के आध्यात्मिक गुरु निम्बार्गी के प्रख्याततर सन्त श्री नारायण राव महाराज दोनों ही बीजापुर जिले के थे और कर्णाटकीय थे। वे दोनों मराठी जानते थे परन्तु अपने आध्यात्मिक प्रवचनों की व्याख्या और विवरण के लिए प्रायः कन्नड का प्रयोग करते थे। इस सम्बन्ध में श्री गुरुदेव ने स्वयं एक व्याख्यान में यह बात कही है "कर्नाटक-रहस्यवाद एक अत्यन्त विशाल विषय है और वस्तुतः यह मेरा महान् सौभाग्य था कि इसका ज्ञान मुझे अपने आध्यात्मिक गुरु और परम गुरु से प्राप्त हो सका। कर्नाटक का होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ क्योंकि रामदास और तुकाराम की रचनाओं के अतिरिक्त इसी भाषा के माध्यम से मेरे आध्यात्मिक गुरु प्रथम बार मेरे ऊपर धार्मिक अनुभूति की सत्यता अंकित कर सके। एक बार ऐसा हुआ कि जब वे और मैं, बीजापुर जिले के अन्तर्गत होती नामक स्थान में थे, एक गीत गाया जा रहा था। मैंने उस गीत को सुना। ...... उन्होंने मुझसे उस गीत का अर्थ पूछा। मैंने कहा 'मैं इस पद में गरुड और उरग इन दो शब्दों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं समझ सका हूँ। तब वे बोले, 'यह उचित नहीं है कि तुम इतने स्वल्प और दोषपूर्ण ज्ञान से सन्तुष्ट बने रहो। तुम्हें कन्नड सीखनी चाहिए।' तब मुझे मेरे कुछ

मित्रों ने बताया कि किसी भी भाषा को सीखने का एक अच्छा तरीका लिपि-परिवर्तन की विधि है। डेकन (Deccan) कालेज के प्रधानाचार्य बेन (Bain) ने, जिनका मैं शिष्य था, मुझे बताया कि किसी विदेशी भाषा के सीखने की सरल विधि यह है कि किसी अत्यन्त सरल और उच्च स्तर की पुस्तक को लेकर, अनुवादों के द्वारा उसके प्रत्येक पद को समझा जाय। तदनन्तर, वह मनुष्य, उन्होंने कहा, केवल बाइबिल तथा तत्सम्बन्धी अनुवादों को सावधानी से पढ़ने से, जर्मन, फ्रेन्च, लैटिन और ग्रीक सीख सकता है। अतः मैंने इस विधि का यहाँ भी अनुसरण किया। बीजापुर मे १६०८ में प्रकाशित किन्ही बाबा चार्यकाव्य की 'महाराजस्वर वचन' नामक पुस्तक थी। इसमें निम्बार्गी के महान् सन्त के वचन संगृहीत थे। ...... उनके उपदेश मेरे गुरु और उनके ब्राह्मण शिष्य को तथा मुझे परम्परानुसार प्राप्त हुए। यह पुस्तक देवनागरी लिपि में छपी थी, अतः मेरे लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुई।"[1]

इस प्रकार श्री गुरुदेव ने अपना कन्नड का अध्ययन प्रारम्भ किया और उस भाषा पर अधिकार प्राप्त करने की तथा कन्नड साहित्य में स्थित रहस्य-ज्ञान की प्रभूत निधि से पूर्णरूपेण लाभान्वित होने की चेष्टा की।

श्री गुरुदेव की गीत-चयन की विधि भी उल्लेखनीय थी। जैसा कि उन्होंने परमार्थ सोपान की भूमिका में लिखा है, "पदों के विशाल क्षेत्र से चयन करना कोई सरल कार्य नहीं था।...आध्यात्मिक अर्थ से समन्वित विचार नूतनता हमारे चयन की प्रधान कसौटी थी। किसी साहित्यिक-ग्रन्थ में इन पदों को खोज निकालने में हम व्यस्त नहीं रहे किन्तु मित्रों एवं विद्यार्थियों के साथ वाद-विवाद एवं भजन के बीच में यदि उनका प्रसंग आ गया तो उन्हें स्वीकार कर लिया।" कन्नड़ के आध्यात्मिक गीतों के चयन में भी यही सिद्धान्त लागू किया गया। जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं— जिस सम्प्रदाय से श्री गुरुदेव का सम्बन्ध था वह कन्नड़ सन्तों का सम्प्रदाय था। स्वभावतः ये सन्त अपने भक्तों में आध्यात्मिकता के प्रति प्रेम जागृत करने के लिए इन गीतों का उपयोग किया करते थे। इस प्रकार श्री गुरुदेव ने इन पदों की विधि को इन सन्तों से उत्तराधिकार के रूप में पाया। दूसरे, कर्नाटक प्रदेश सन्तों और साधुओं की भूमि होने के नाते, ऐसे गीतों से पूर्ण है। बहुत से ग्राम-सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक लालसा एवं अनुभूति इन रत्नों में अभिव्यक्त करके उन्हें इस प्रदेश में चतुर्दिक बिखेर दिया। शताब्दियों में ये गीत साधकों के अधरों पर नाचते हुए उनके जीवन को प्रभावशाली ढङ्ग से ढालते रहे हैं। दर्शक और साधक, श्री गुरुदेव के पास आकर उनके सामने इन गीतों को गाया करते थे और उन्हें उनके सन्मुख चयन के लिए प्रस्तुत किया करते थे। इस प्रकार सुन्दर गीत बिना खोजे उन्हें मिल गये और उनके समृद्ध संग्रह में उन्हें स्थान मिला।

---

१. कर्नाटक रहस्यवाद भूमिका पृष्ठ ४ ५

मैं एक बार श्री गुरुदेव से पूँछ बैठा कि उनके चयन की कसौटी क्या है, इसका उन्होंने उत्तर दिया, "यदि कोई गीत गाये जाने पर तुम्हें भाव-विभोर कर दे तो उसको आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यवान समझो।" बहुत से गीतों के चयन में श्री गुरुदेव ने इस कसौटी का प्रयोग किया होगा। उनके अन्य शिष्यों की भाँति मुझे भी उनके तन्मय ध्यान को जिससे वे इन गीतों को सुना करते थे, तथा उनकी गद्गद अनुभूतियों को जिनका वे उस समय आनन्द लिया करते थे, देखने का अपूर्व सौभाग्य मिला। अतः पूर्ववर्णित कसौटी के अतिरिक्त यह भी उनकी मुख्य कसौटी रही होगी। उन बहुत से गीतों में से जो उनके सामने इस प्रकार गाये गये थे, उन्होंने इस प्रकार संस्कृत, हिन्दी, मराठी और कन्नड से लगभग पाँच सौ गीत और पदावलियों का चयन किया। इनमें से चार सौ के लगभग देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो चुके हैं। सम्पूर्ण पाँच सौ गीतों एवं पदावलियों का एक नूतन संकलन तैयार किया जा रहा है। 'परमार्थ-मन्दिर' के शीर्षक से यह शीघ्र देवनागरी लिपि में प्रकाशित होगा।

श्री गुरुदेव का इन गीतों के अध्ययन करने का और उनके विषय पर अधिकार प्राप्त करने का ढङ्ग भी अतिशय विस्मयजनक था। उनका अध्ययन गम्भीर, मर्म-भेदी तथा पूर्ण था। प्रथम वे गीतों को गाये जाते हुए सुनते थे और तत्पश्चात् उनकी व्याख्या करवाते थे। फिर उनको दूसरी बार सुना करते थे। तत्पश्चात् यदि उनकी इच्छा उन गीतों को चुन लेने की हुई, तो वे अपने शिष्यों में से किसी एक को उन्हें देवनागरी लिपि में लिख लेने तथा अपने संग्रह में स्थान दे देने का आदेश देते थे। बाद में ये चुने हुए गीत प्रायः गाये जाते थे यहाँ तक कि उनके चिन्तन-काल में भी। मुझे उन गीतों में से कुछ को कई बार गाने का सुन्दर सौभाग्य मिला जब कि वे चिन्तन के लिए बैठ रहे थे। श्री गुरुदेव मुझे कमरे के बाहर बैठने तथा उस दिन उनके द्वारा पहिले से चुने हुए कुछ गीतों के गाने का आदेश किया करते थे। दस मिनट के अन्तर के पश्चात् गीत गाये जाते थे। दूसरे और भी शिष्य थे जिनको यही करने का आदेश दिया जाता था। बहुत वर्षों तक यह चलता रहा। इससे श्री गुरुदेव गीत की अन्तरात्मा से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हुए। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति भी निराली थी। एक बार एक मेरे बड़े साधक गुरु बन्धु ने बतलाया कि श्री गुरुदेव को वे सब आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हो चुके थे जो उनके महान् ग्रन्थ अर्थात् 'महाराष्ट्र में रहस्यवाद' में वर्णित हैं। श्री गुरुदेव जी ने भी मुझे एक बार बतलाया था कि आध्यात्मिक अनुभव अनन्त हैं और श्री महाराज की कृपा से उन अनुभवों तक की प्राप्ति उन्हें हुई जो कि संसार के सभी सन्तों के उल्लिखित अनुभवों से भिन्न हैं। उन्होंने अपने शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ "भगवद् गीता—ईश्वर-साक्षात्कार का दर्शन" में कहा है: "आलोक-ज्ञान कभी भी सम्पूर्ण और अन्तिम रूप में नहीं आता है। हम सदैव परमतत्व के निकटतर ही पहुँच पाते हैं। किन्तु कभी भी वहाँ तक वस्तुतः पहुँच नहीं पाते।" यदि ऐसा है, तो कोई आश्चर्य नहीं कि गुरुदेव को ऐसे अनुभव प्राप्त हो सके जो नितान्त

नूतन और निराले थे। इतने उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाने के कारण श्री गुरुदेव उन गीतों का, जो उन्हें बिना खोजे मिल गये, पूर्ण महत्व समझने में भली भाँति समर्थ थे। अतः वे उन गीतों का भी सुचारु एवं स्पष्ट अर्थ लगा सके जो कन्नड के विद्वानों को भी उलझन में डाले थे। उनकी प्रदीप्त प्रतिभा ने इन गीतों के अन्धकार-ग्रस्त स्थानों पर एक नवीन प्रकाश की धारा बहायी तथा रहस्यवादी सन्तों के सम्पूर्ण अर्थ को सुबोध-शैली में प्रस्तुत किया। इस प्रकार श्री गुरुदेव में आधुनिक मस्तिष्क को सन्तुष्ट कर सकने वाली कन्नड रहस्यवाद की व्याख्या करने के लिए हर प्रकार से प्रकृष्ट सुयोग्यता थी। इस प्रकार हमारे प्राचीन महान् रहस्यवादी सन्तों को उनकी व्याख्या करके उनके सन्देश का आधुनिक संसार में प्रभाव-पूर्ण प्रचार करने के लिए एक महत्तर अर्वाचीन रहस्यवादी मिला जो कि एक महान् दार्शनिक भी था।

आध्यात्मिकता के प्रति अपने अनोखे दृष्टिकोण पर उन्होंने इस प्रकार प्रकाश डाला है। उनका कथन है "एक दार्शनिक के रूप में, जिसने अपने जीवन के लगभग चालीस वर्ष दर्शन के अध्ययन में व्यतीत किये हैं, मैं जानता हूँ कि धर्म या धर्म की शाखा में यदि वे ईश्वर की सेवा कर रहे हैं तो कोई विरोध नहीं है।"१ "दार्शनिक का यह कर्तव्य है कि वह इन सब धर्मों की तह में प्रवेश करे और देखे कि क्या इन विचित्र मतों के लिए एक समान मन्त्र नहीं खोजा जा सकता।"२ "जब कोई दार्शनिक आध्यात्मिक अनुभूति के विषय में कुछ कहता है तब वह न हिन्दू है, न मुसलमान और न ईसाई। वह सारे संसार का नागरिक है और इस अर्थ में आध्यात्मिक जगत का नागरिक है। दार्शनिक वह है जो ईश्वर के राज्य से नग्न रूप में संसार में आकर परम-तत्व को अपने लिए प्राप्त करे और देखे कि क्या इसका प्रचार समाज में नहीं हो सकता।"३

प्रथम महत्वपूर्ण किन्तु छोटी पुस्तक, जो कि इस महान् रहस्यवादी ने कन्नड में आयोजित की और निकाली, 'बोधसुधे' के शीर्षक से प्रसिद्ध है। यह उनके गुरु के गुरु निम्बार्गी के महान् सन्त के नैतिक एवं आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन है। श्री महाराज को वे आधुनिक कर्नाटक का सर्वश्रेष्ठ सन्त तथा आधुनिक भारत के श्रेष्ठ सन्तों में से एक मानते थे। उन्होंने उनका सदैव स्वामी विवेकानन्द के निम्नांकित शब्दों में उल्लेख किया, "संसार की महत्तम विभूतियाँ बिना प्रसिद्ध हुए उठ गईं। बुद्ध और ईसा जैसे सन्त, जिनके विषय में हम सब जानते हैं, उन श्रेष्ठ विभूतियों की तुलना में जिनके विषय में संसार कुछ नहीं जानता, केवल द्वितीय कोटि के व्यक्ति हैं। ये सन्त चुपचाप रहते हैं और चुपचाप चले जाते हैं, और कालान्तर में इन्हीं के विचार बुद्ध और ईसा के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं और इन्हीं परवर्त्ती व्यक्तियों को हम जान पाते हैं।"४ अपने व्याख्यानों में से एक में श्री गुरुदेव ने इन सन्त की बहुत प्रशंसा की है।

१-२ कर्नाटक रहस्यवाद : भूमिका पृ० २ और ३।
३ कर्नाटक रहस्यवाद का सार पृ० २।
४ विवेकानन्द : स्वतन्त्रता।

उन्होंने कहा है "जब दो वर्ष पूर्व लचन (Lachan) में आध्यात्मिक सभा हुई थी, उस अवसर पर मैंने एक सन्देश भेजा था जिसमें कहा था कि यह निम्बार्गी महाराज का ही सम्प्रदाय है जो कर्नाटक के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की एकता का आधार है। वे स्वयं लिंगायत थे और उनका शिष्य एक महान् ब्राह्मण था और दोनों मिलकर आध्यात्मिक साधना के दो श्रेष्ठ आभूषण थे। मैं यह केवल अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर ही नहीं कह सकता हूँ वरन् उनकी कृतियों और उपदेशों की, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के सन्तों तथा संसार के अन्य धार्मिक मतों के उपदेशों से तुलना के द्वारा भी कह सकता हूँ। उस संदेश में मैंने यह भी कहा कि निम्बार्गी बीजापुर प्रदेश के अन्तर्गत सुदूर एक कोने में स्थित है और यह सन्त विख्यात नहीं हैं तथापि वे उस बकुल वृक्ष के समान है जिसके पुष्प कोने में स्थित होने पर भी समस्त कर्नाटक प्रदेश में सौरभ का संचार करेंगे। जगन्नाथ पंडित के निम्नांकित पद यहाँ उल्लेख योग्य हैं :—

> निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती,
> कृती मालाकारी बकुलमपि कुत्रापि निदधे।
> इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो,
> जगज्जालकर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥

प्रत्येक वस्तु की कसौटी उसमें निहित सत्य तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव होते हैं। अतः यदि हममें से प्रत्येक अपने कर्तव्य का पालन करते हुए, ईश्वर-भक्ति के सहित सुचारु रूप से जीवन-यापन करने का निश्चय करता है, तो हमारे कार्य और हमारा मूल्य प्रायः हमारे गुरुओं की महत्ता के सूचक होंगे। इसी दृष्टिकोण से मैं निम्बार्गी महाराज के सन्देश की ओर देखता हूँ।"

मुझे श्री गुरुदेव के पवित्र चरणों में बैठकर उनके निर्देशन में उस ग्रन्थ को तैयार करने का बिरला अवसर मिला। इस सन्त के सभी वचन साठ अध्यायों में संकलित एवं श्रेणीबद्ध किये गये और प्रत्येक अध्याय का समीचीन शीर्षक रखा गया। तत्पश्चात् वे निम्नांकित चार विभागों में विभाजित किये गए :—(१) आचार के सिद्धान्त, (२) दुर्गुणों से मुक्ति, (३) सद्गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न, (४) ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग। यह एक ग्रन्थ-रत्न है। १९५८ में देवनागरी लिपि में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।२ श्री गुरुदेव ने अपने निर्देशन में इस ग्रन्थ के लिए मराठी भाषा में एक महत्वपूर्ण भूमिका लिखवाई है। जब यह ग्रन्थ तैयार हो रहा था तो मैंने उस महान् सन्त

---

१. कर्नाटक रहस्यवाद की भूमिका—पृ० ६।

२. भारत की सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि ही अपनानी चाहिए—यह भी गुरु-देव का मत था। इस मत के वे संस्थापकों में से हैं।

के प्रति एक स्तुति लिखी। श्री गुरुदेव ने इसे बहुत पसन्द किया तथा अपने सम्प्रदाय का बन्दे मातरम् कहा। अतः उन्होंने इसको केवल ग्रंथ के प्रारम्भ में स्थान ही नहीं दिया वरन् कुछ परिवर्तन करके शीघ्र प्रकाशित होने वाले कर्नाटक रहस्यवाद से सम्बन्धित अपने ग्रन्थ में भी सम्मिलित कर लिया। प्रत्येक अवसर पर जब आश्रम में कोई कार्यक्रम प्रारम्भ होता था तो वे मुझसे उस प्रार्थना को गाने के लिए कहा करते थे। अपने अननुकरणीय ढङ्ग में उन्होंने स्वयं इसका आंग्ल भाषा में अनुवाद किया है। उचित अवसर पर यह अनुवाद उनके ग्रन्थ में प्रकाशित होगा। यहाँ मूल तथा उसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है :--

प्रार्थने

देव ! हिरि गुरुराय ! तिळियदै निन माय !
सेळेयदिरलेन्न मन जगद वैभववु।
भाव बलियलि ध्यानदलि बेरेयलेन्न मन,
देव दोरलि तन्न दिव्य वैभवव ॥ १ ॥

दुरुळतेयु अळियलै ! सरळतेयु मोळेयलै !
मैयु सवेयलि निन्न सेवेयल्लि।
मतियु होळेयलि नाथ ! तोळगलेन्नय मातु
कृतियु बेळगलि निन्न बेळकिनल्ली ॥ २ ॥

निन्न नामव मनवु नित्य नेनेयुतलिरलि
अन्य विषयंगळनु बयसदिरलि।
निन्न नामद सुधेय मनदणिये सवियुतलि
आनन्द—सागरदि मुळुगुतिरलि ॥ ३ ॥

निन्न करुणवे अन्न, निन्न करुणवे नीरु
निन्न करुणवे उसिरु एनगागलि।
निन्न ओलविन सेलेयु तोरेदु सुधेयनु सुरिदु
संततेन्ननु पोरेदु बेळेसुतिरलि ॥ ४ ॥

निन्न सितमातुगळु मिंचु-मातुगळय्य
संचरिसि बेळकु-बल नीडुतिरलि।
निन्न हिरितुडिगळवु सिडिलिन कुडियय्य
गुडुगि एदेयिं दैन्य दूडुतिरलि ॥ ५ ॥

अर्थात्*

हे ईश्वर ! तू बहुत बड़ा गुरु है। तेरी माया अवश्य ही अथाह है। इस कारण मेरे मन में इस संसार के वैभव के लिए कुछ भूल न हो। मेरे अंतःकरण में भक्ति-भाव बढ़े। और इसके संयोगवश ईश्वर की दिव्य कान्ति का मुझे नित्य दर्शन हो ॥ १ ॥

मेरे दुर्गुण नष्ट होकर सद्गुणों का अंकुर फूटें। तेरी अनन्य सेवा में मेरी काया जीर्ण हो। और तेरे दिव्य प्रकाश से मेरी बुद्धि, मेरी वाक् और मेरी कृति को अलौकिक कांति मिले ॥ २ ॥

तेरे नाम के स्मरण में मेरा मन लीन हो जावे। और उसे दूसरे विषयों का ज्ञान न हो। तेरे नामरूपी अमृत के स्वेच्छा-पान करने से वह आनंद-रूपी सागर में लीन हो जावे ॥ ३ ॥

तेरी कृपा ही मेरा भोजन, तेरी कृपा ही मेरा पेय। तेरी कृपा ही मेरा प्राण वायु हो। तेरा प्रेम-रूपी वृक्ष नव पत्र फोड़कर मेरा सतत पालन, पोषण व विकास करे ॥ ४ ॥

तेरे सीमित शब्दों में विद्युत की कान्ति है। उसे मेरे अंतःकरण में संचार कर तेजस्वी और समर्थ बना दे। और अपने भीषण बोल-रूपी गर्जन से मेरी दैन्य-वृत्ति का लोप कर दे ॥ ५ ॥

श्री गुरुदेव हम लोगों को बताया करते थे कि जितना ध्यान और परिश्रम उन्होंने इस ग्रन्थ पर केन्द्रित किया उतना अपने किसी अन्य ग्रन्थ पर नहीं। कालान्तर में मैंने उनके आदेश से इस पुस्तक को पद्यरूप देकर १९५२ में कन्नड लिपि में प्रकाशित करवाया। इस सन्त के इस ग्रन्थ में निहित उपदेश से गर्भित कुछ गीतों की रचना करने के लिए भी श्री गुरुदेव ने मुझसे कहा। तदनुसार मैंने चालीस गीतों की रचना की जो अभी तक अप्रकाशित हैं। हाल ही में मैंने इस पुस्तक का अनुवाद मराठी में किया है। यह अभी मुद्रणालय में है।

तत्पश्चात् कर्नाटक रहस्यवाद पर उनके मुख्य ग्रन्थ की, जिसका शीर्षक कन्नड साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग है, तैयारी प्रारम्भ हुई। अपने 'हिन्दी-साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग' नामक ग्रन्थ की सामान्य भूमिका में श्री गुरुदेव ने इस ग्रन्थ का इस प्रकार उल्लेख किया है :—"इन तीन भारतीय भाषाओं को मैं मौलिक रूप में जानता हूँ—मराठी, कन्नड तथा हिन्दी और मैंने तीन ग्रन्थों की योजना बना

---

*उपर्युक्त कविता का हिन्दी अनुवाद श्रीपाद वि० गोठनकर ने प्रस्तुत किया है—सम्पादक।

डाली है। महाराष्ट्र रहस्यवाद पर मैं एक ग्रन्थ पहिले ही प्रकाशित कर चुका हूँ। इसके पश्चात् दूसरा ग्रन्थ यही है जो हिन्दी रहस्यवाद से सम्बन्धित है और तीसरा तैयार होकर प्रकाशित होने जा रहा है जिसके दो परिच्छेद कर्नाटक विश्वविद्यालय में प्रकाशित हो चुके हैं।" यह सब, रहस्यवाद के उद्यान से रंग-विरंगे पुष्पों का चयन करने एवं उनकी एक माला स्वामी को उपहार-रूप में भेंट करने के उनके चिरकाल से मनोवांछित लक्ष्य की पूर्ति के लिए था। अपने पूर्वरचित तीन ग्रन्थों की भाँति अर्थात्१ उपनिषद् दर्शन का समीक्षात्मक परिशीलन, (२) महाराष्ट्र में रहस्यवाद तथा (३) हिन्दी साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग की भाँति श्री गुरुदेव इस ग्रन्थ में भी 'स्रोत एवं व्याख्या-विधि' का प्रयोग करना चाहते थे जिसका प्रयोग प्रोफेसर बर्नेट-सरीखे विद्वान बड़ी सफलतापूर्वक कर चुके थे। 'आध्यात्मिक जगत के नागरिक' होने के नाते श्री गुरुदेव ने अपने जाल को कन्नड के रहस्यवादी गीतों के विशाल समुद्र की गहराई और विस्तार को समेटते हुए फैलाया और अपनी व्याख्या के लिए कुछ श्रेष्ठ गीतों और वचनों को चुन लिया। स्वभावतः उनका चयन किसी सम्प्रदाय या मत-विशेष से सीमित नहीं था। सभी सन्तों को, बिना इस बात का भेद किये कि वे वैष्णव, शैव या वीरशैव थे, उनसे समान सम्मान प्राप्त हुआ। उन्होंने मुसलमान सन्त तक से गीत चुने जैसा कि वे हिन्दी के आध्यात्मिक गीतों के विषय में कर चुके थे। और उन्होंने केवल सुप्रसिद्ध सन्तों से ही गीत लेने पर ध्यान नहीं दिया, मानव समुद्र के गर्भ में चमकते हुए विशुद्धतम दिव्य प्रभा वाले रत्नों के सदृश, अनजाने विकसित होकर मरु-स्थल के वातावरण में अपने आध्यात्मिक माधुर्य को नष्ट करने वाले पुष्पों के सदृश बहुत से अप्रसिद्ध सन्तों का उन्होंने हाथ फैलाकर स्वागत किया और अपने सन्तों की माला में उच्च स्थान दिया। इस प्रकार श्री गुरुदेव ने ५२ कवि-सन्तों से १५० गीत और वचन चुने। इनमें से २६ सन्त सुविख्यात या आंशिक रूप से प्रसिद्ध थे। शेष २६ पूर्ण-रूपेण अज्ञात हैं। इनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है यहाँ तक कि इनके नाम भी लोगों को ज्ञात नहीं हैं। इनके विषय में हमारी सम्पूर्ण जानकारी इनके यत्र-तत्र बिखरे हुए गीतों के अन्त में पाई जाने वाली कुछ मुद्रिकायें मात्र हैं। जहाँ तक इन गीतों की शैली का प्रश्न है, इसमें सुसंस्कृत पंडित की अत्यन्त श्रेण्य शैली से लेकर निरक्षर ग्रामीण की पूर्णतया निकृष्ट बोली तक शामिल है। कन्नड-रहस्यवाद के उद्यान के ये चित्र-विचित्र कुसुम थे जिनको इस रहस्यवादी माली ने अपने समीक्षात्मक चिन्तन तथा विवेचन के लिए संग्रहीत किया। अपने हिन्दी-गीतों के संग्रह की भाँति, इस संग्रह की रचना भी जैसा कि उन्होंने कहा है, "मुख्यतः मेरे अपने आध्यात्मिक विकास में सहायक होने के लिए की गई है, 'स्वान्तः सुखाय' जैसा कि तुलसीदास कहते हैं। किन्तु मुझे प्रसन्नता होगी यदि यह मेरी तरह दूसरों के लिए भी उनकी आध्यात्मिक साधना को पूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध हो।"१

---

१. परमार्थ सोपान : आमुख पृष्ठ ८।

इस ग्रन्थ की योजना प्रायः उनके "हिन्दी-साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग" के समान ही है। 'परमार्थ-सोपान' की भूमिका में वर्णित निम्नलिखित योजना सारांशतया इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी लागू होती है। "यदि हम संसार के दर्शन एवं धार्मिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन करें, विशेषतया उन महापुरुषों के जीवन-चरितों तथा उपदेशों का जो मानव जाति की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न युगों और देशों में ईश्वर के मार्ग पर चले हैं, तो हम देखेंगे कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए उन सबों ने जिस मार्ग को अपनाया उसमें कुछ समान स्थूल विशेषतायें हैं। सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्नांकित पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षिप्त करके लिखा जा सकता है:— प्रथम कुछ दार्शनिक, मूल्यवैज्ञानिक (axiolgical) तथा मनोवैज्ञानिक प्रेरणायें हैं जो मनुष्यों को आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रेरित करती हैं। तत्पश्चात् नैतिक तथा आध्यात्मिक तैयारी का प्रश्न आता है जिसका समाधान उन्हें मार्ग पर अग्रसर होने की आशा कर सकने के पूर्व अवश्यमेव करना पड़ता है। तीसरे उन्हें अपने सम्मुख कुछ आचार एवं सफलता के ऐसे सिद्धान्त रखने पड़ते हैं जिनका अनुकरण उन्हें अवश्यमेव करना होता है। यह वे तब तक नहीं कर सकते जब तक वे ईश्वर के स्वरूप तथा कार्यों का अपने पूर्वोक्त आदर्शों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने प्रति स्पष्टतया निश्चित न करलें। जब ईश्वर और आदर्शों का संबन्ध भलीभाँति निश्चित हो जाय तब उन्हें अपने पूर्ववर्त्ती साधकों के अनुभवों की सत्यता सिद्ध करने के लिए स्वयं उस मार्ग पर चलना पड़ता है। अन्त में दीर्घकाल तक ईश्वर के मार्ग पर चल चुकने तथा शारीरिक, मानसिक, प्राकृतिक एवं सामाजिक कष्ट तथा विघ्न झेल चुकने के पश्चात् वे अपने लिए कुछ ऐसे प्रकाश-स्तम्भों को प्रत्यक्ष पा सकते हैं जो उन्हें ईश्वरीय 'मार्ग' पर साहस तथा विश्वास के साथ चल सकने और जिस उच्चतम लक्ष्य का वे अन्वेषण कर रहे थे, उसे प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं।"१ एक और बात इन दोनों ग्रन्थों में समान है—हिन्दी-सन्तों से सम्बन्धित ग्रन्थ की भाँति "पदों का क्रमबद्ध आयोजन उनका तर्क-संगत विभाजन, विभिन्न परिच्छेदों का विकास-युक्त क्रम, इस ग्रन्थ की भी विशेषतायें हैं।"२

जब यह ग्रन्थ तैयार हो रहा था, तब श्री गुरुदेव ने कर्नाटक विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में दो व्याख्यान दिये। पहिला २६ अगस्त १६५० को धारवार में और दूसरा २५ नवम्बर १६५१ को बेलगाँव में। पहिला भाषण तत्कालीन उपकुलपति और दूसरा श्री बी० जी० खेर प्रधान मंत्री बम्बई, की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रथम व्याख्यान का विषय 'कर्नाटक रहस्यवाद का परिचय' और दूसरे का 'कर्नाटक रहस्यवाद का सारांश' था। दोनों व्याख्यानों का जनता ने अत्यन्त उत्साह के साथ स्वागत किया।

---

१. परमार्थ-सोपान : सामान्य भूमिका, पृष्ठ १-२।

२. वही पृष्ठ ३।

इन भाषणों ने कर्नाटक-रहस्यवाद पर एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत करने के लिए श्री गुरुदेव को उपकुलपति के द्वारा निमन्त्रण मिलने का मार्ग प्रशस्त किया और उपकुलपति ने इस व्याख्यान-माला के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। उन्होंने इन व्याख्यानों को ग्रन्थाकार में प्रकाशित करवाने का दायित्व भी अपने ऊपर लिया। श्री गुरुदेव ने शीघ्र ही यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और इस विषय पर बीस व्याख्यान देने के लिए सहमत हो गये। लेकिन जब वे व्याख्यान की सामग्री को जुटाने लगे तो उन्होंने देखा कि वह केवल दस या बारह व्याख्यानों के लिए ही पर्याप्त थी। तदनुसार उन्होंने इस परिवर्तन की सूचना विश्वविद्यालय के अधिकारियों को दी। किन्तु चूँकि अधिकारी बीस व्याख्यान चाहते थे, इसलिए उन्हें कुछ अतिरिक्त सामग्री एकत्र करके उसी विषय को पूर्व-निश्चित बीस व्याख्यानों में परिवर्द्धित करना पड़ा। किन्तु श्री गुरुदेव अन्त तक केवल चौदह व्याख्यान ही दे सके, बारह धारवार में और दो बीजापुर में। ये सब व्याख्यान उनके टेपरिकर्डर पर अंकित कर लिये गये और बाद में उनके शीघ्र-लिपिक द्वारा टाइप कर लिये गये। उन्हें इस वर्ष और व्याख्यान देने थे—तीन धारवार में और तीन बंगलौर में। किन्तु ईश्वर की इच्छा कुछ और थी। उसने अपने दूत को अपना कार्य पूरा करने के पहिले ही बुला लिया। अकस्मात् श्री गुरुदेव ने अपने नश्वर परिधान को ६ जून १९५७ के दिन परित्याग कर दिया और इस कारण से यह ग्रन्थ अपूर्ण बना रहा। अन्तिम छः व्याख्यान अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इस प्रकार कर्नाटक अपने रहस्यवाद की महत्ता के विषय में उनके परिपक्व विचारों को सुनने के अपूर्व अवसर से वंचित कर दिया गया। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह पूँछने का प्रलोभन उठता है कि क्या यह अच्छा न होता यदि विश्वविद्यालय के अधिकारी श्री गुरुदेव द्वारा किये गये परिवर्तन से सहमत हो जाते! इससे हमें अब तक पूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हो जाता।

हिन्दी रहस्यवाद से सम्बन्धित ग्रन्थों के सदृश श्री गुरुदेव का अभिप्राय कर्नाटक रहस्यवाद पर भी दो ग्रन्थ रचने का था। प्रथम ग्रन्थ का शीर्षक 'कन्नड सन्तों का परमार्थ-सोपान' और दूसरे का 'कन्नड साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग' होने वाला था। प्रथम में चुने हुए गीतों का संग्रह होता जो आंग्ल भाषायी समुचित शीर्षकों के साथ, कन्नड और देवनागरी दोनों लिपियों में एक दूसरे के सामने छापे जाते। अंत में कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी जोड़ी जातीं। श्री गुरुदेव ये शीर्षक और टिप्पणियाँ लिखवा चुके थे। उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के लिए सभी सन्तों की संक्षिप्त जीवनियाँ लिखने के लिए आदेश दिया जैसी कि डा० सुखदेव विहारी मिश्र ने उनके हिन्दी के परमार्थ सोपान के लिए लिखी थीं। तदनुसार मैंने २६ कवि-सन्तों के जीवन-चरित लिखे, पाँण्डुलिपियाँ उन्हें दिखाईं और उनमें से उन्हें पढ़कर सुनाये। शेष २६ सन्तों के विषय में मुझे कुछ सूचना प्राप्त न हो सकी। अतः मैंने उनकी मुद्रिकाओं का उल्लेख मात्र करके विषय को वहीं छोड़ दिया। श्री गुरुदेव ने अपने विद्यार्थी एवं शिष्य श्री पी० एच० कुलकर्णी

से कन्नड परमार्थ-सोपान की मुद्रणप्रति (Press copy) तैयार करने के लिए कहा जो कि वे पहिले ही कर चुके थे। मुद्रणार्थ भेजे जाने के पूर्व उसमें उन्हें केवल कुछ अन्तिम संशोधन करने थे। जीवन-चरितों की रूपरेखाओं की मुद्रण प्रति भी पूर्णतया तैयार है।

द्वितीय ग्रन्थ अर्थात् कन्नड-साहित्य में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग में प्रथमतः दस परिच्छेद की आयोजना थी। अगर परिच्छेदों के निम्नांकित शीर्षकों पर हम दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि ये किस प्रकार श्री गुरुदेव के पंचसूत्री मार्ग के परिवर्द्धित रूपमात्र हैं। मूलरूप में परिच्छेद-शीर्षक ये हैं :—

परिच्छेद १ आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक
,, २ नैतिक तैयारी
,, ३ गुरु का स्वरूप और कार्य
,, ४ गुरु तथा शिष्य
,, ५ सन्त तथा ईश्वर
,, ६ ईश्वर का स्वरूप
,, ७ ईश्वर का नाम
,, ८ अभ्यास की कला
,, ९ रहस्यानुभूति
,, १० चरम आरोहण

कालान्तर में जब यही सामग्री बीस परिच्छेदों में विभाजित की गई तो शीर्षकों में निःसन्देह यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन किये गये। किन्तु प्रारम्भिक योजना में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया गया। अपने सारांश में वह वैसी ही बनी रही। इस लेख के अल्प विस्तार के अन्तर्गत इस ग्रन्थ-रत्न का और विस्तार के साथ विवरण देना न तो सम्भव है और न वांछनीय ही है। इतना कह देना पर्याप्त है कि यह ग्रन्थ पूर्ण होने पर संसार के रहस्यवादी साहित्य में महत्वपूर्ण वृद्धि करेगा।

अन्त में, कन्नड के रहस्यवादी सन्तों की महत्ता प्रकाशित तथा स्थापित करने के लिए श्री गुरुदेव द्वारा २१ नवम्बर १९५४ को दिये गए इस माला के प्रथम व्याख्यान में अंकित, ग्रीक-दर्शन, ईसाई मत, महाराष्ट्रीय एवं हिन्दी के रहस्यवादी संतों के आधार पर किये गये कन्नड-रहस्यवादियों के तुलनात्मक विवेचन का सारांश दे देने से अच्छा मैं कुछ और नहीं कर सकता। चूंकि इस व्याख्यान का वास्तविक अंश मुझे प्राप्त नहीं है अतः मैंने उस व्याख्यान के अपने नोट्स के आधार पर यह संक्षिप्त विवरण तैयार किया है।

संसार के रहस्यवादियों में कर्नाटक के रहस्यवादी सन्तों का स्थान निर्धारित करते हुए, जो कि उस व्याख्यान का विषय था, गुरुदेव ने निम्नांकित तुलना स्थापित की। उन्होंने कहा, "कर्नाटक के संतों तथा संसार के इतर संतों में आश्चर्य-जनक सादृश्य है। यदि ग्रीक दार्शनिकों को लें तो कल्याण-स्थित अनुभव मन्तप के महान् संत प्रभुदेव सुकरात से मिलते हैं। वासवेश्वर का प्लेटो और चन्नवासव का फीडो से सादृश्य है। सर्वज्ञ का द्वितीय रूप हेरक्लाइटस (Herakleitos) है। कन्नड के कुछ सन्तों की तुलना ईसाई-सन्तों से भी की जा सकती है। प्रभुदेव की ईसामसीह से, वासव की सन्त पाल से, सिद्धराम की सन्त आगस्टाइन से, चन्नवासव की सन्त लूथर से समता है। यदि महाराष्ट्रीय संतों को लें, तब भी हम उनमें और कर्नाटक-सन्तों में सादृश्य-चिह्न पायेंगे। वासव तुकाराम के समान हैं। चन्नवासव की सङ्गठन शक्ति और प्रचार-कुशलता की तुलना रामदास के इन्हीं गुणों से की जा सकती है। जगन्नाथ दास और निजगुणी विद्वत्ता तथा साहित्यिक रचना दोनों दृष्टिकोण से एकनाथ के समकक्ष हैं। कुछ बातों में कनकदास चोखामेला से मिलते-जुलते हैं। यह सत्य है कि जहाँ तक रहस्यानुभूति के उत्कर्ष तथा उनकी काव्य-कृतियों की समृद्धि की बात है, उनमें महान् अन्तर है, तब भी यह तथ्य है ही कि दोनों महान् रहस्यवादी थे। काखन्दकी के सन्त श्री महीपति स्वामी का ही द्वितीय रूप ग्वालियर के सन्त महीपति हैं। दोनों महान् पण्डित, महान् कवि एवं महान् रहस्यवादी थे। दुर्भाग्यवश इन दोनों सन्तों का समृद्ध रहस्यवादी साहित्य अभी तक अप्रकाशित तथा अनवगाहित पड़ा हुआ है। फलस्वरूप, विद्वानों का उचित ध्यान इनकी ओर आकर्षित नहीं हुआ है जिसका यह प्रकृष्टरूपेण अधिकारी है। अतः दोनों प्रसिद्धि नहीं पा सके। इसी तरह की समता कन्नड एवं हिन्दी सन्तों में भी स्थापित की जा सकती है। जो स्थान तुलसीदास का हिन्दी साहित्य में है वही कन्नड साहित्य में पुरन्दरदास का है। साहित्यिक दृष्टि से दोनों समान होते हुए भी, आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से पुरन्दरदास तुलसीदास से कहीं आगे हैं। यद्यपि तुलसीदास की भाँति पुरन्दरदास ने भी अपनी आध्यात्मिक साधना सगुण-भक्ति से प्रारम्भ की तथापि कालान्तर में वे एक महान् योगी हो गये। इसी प्रकार विजयदास सूरदास के सदृश हैं, कनकदास रैदास से मिलते-जुलते हैं और शरीफ साहब की कुछ बातों में कबीरदास से समानता है। सर्पभूषण चरणदास के समकक्ष हैं।" श्री गुरुदेव द्वारा की गई यह तुलना, ऐसी आशा है, संसार के रहस्यवादियों में कन्नड के सन्तों का जो उच्च स्थान है, उस पर कुछ प्रकाश डालेगी।

संक्षेप में, कर्नाटक रहस्यवाद पर उस महान् ग्रन्थ की, जिसे श्री गुरुदेव ने इतनी योग्यता के साथ आयोजित किया और लगभग पूरा किया, यह रूप-रेखा है। हम लोगों की क्या ही लालसा है कि उन्हें अपने महान् ग्रन्थ को अन्तिम संशोधन करके अंतिम रूप देने का अवसर मिलता! धन्य है वह शिष्य जिसे इस ग्रंथ को पूरा

करने का भार सौंपा जायेगा तथा 'ईश्वर के नगर' से श्री गुरुदेव जिसे निर्देश-स्फूर्ति प्रदान करेंगे । कर्नाटक विश्वविद्यालय धन्य होगा जब वह इसे प्रकाशित करने का सम्मान प्राप्त करेगा। और धन्य होगा प्रिय कर्नाटक प्रदेश जब यह बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाशित होकर उसके पुत्र एवं पुत्रियों के जीवनों को पवित्र तथा आलोकित करेगा और उसके महान् रहस्यवादी सन्तों के सन्देश को संसार के कोने-कोने में प्रसारित करेगा।

अनुवादकर्त्ता

सुरेशचन्द्र दीक्षित, एम० ए०,

अग्रवाल महाविद्यालय, प्रयाग।

गुरुदेव रानडे की साध्य-साधन-मीमांसा

लेखक जी० वी० तुलपुले, एम० ए०

तीस वर्ष पूर्व की बात है, एक दिन गुरुदेव के साथ निम्बल के आश्रम में भ्रमण करते हुए मैंने उनसे पूछा कि वह चरम उद्देश्य क्या है जो आध्यात्मिक मार्ग से परमार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने तत्काल ही श्री रामदास के तीन पदों में उत्तर दिया जिनका 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' में इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

"केवल तभी किसी मनुष्य को उसके आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य पर पहुँचा हुआ माना जा सकता है जब कि वह स्वयं यह जान गया है कि उसके समस्त पाप समाप्त हो गये हैं और जन्म-मरण-चक्र स्तब्ध हो गया है, जब कि वह आत्मा-परमात्मा दोनों को ही जान गया है और जब वह आत्मा के परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण का अनुभव कर चुका है, जब वह उस तत्व को जान गया है जिससे संसार बना है और जो उसकी उत्पत्ति का उत्तरदायी है" (पृ० ४०६)। आध्यात्मिक जीवन के लाभ के ऐसे दिव्य साक्षात्कार का मैंने कभी बौद्धिक विचार भी नहीं किया था। मैंने सोचा कि इस दिव्य साक्षात्कार पर विचार मात्र करने से भी कोई अपने तुच्छ आध्यात्मिक अनुभव पर गर्व नहीं करेगा। कहना न होगा कि उस अवसर ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला।

गुरुदेव रानडे के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार जानता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार ही उनका लक्ष्य था जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन और तत्सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु अर्पण कर दी और उस नाम के साधन से पचास वर्ष गहन मनन में लगा रखा जो कि सौभाग्यवश उन्होंने अपने सद्गुरु से प्राप्त किया था। ब्रह्म-साक्षात्कार उनका साध्य था और नाम द्वारा मनन था साधन।

गुरुदेव रानडे ने एक बार कहा था, "मैंने अपनी श्रद्धा का बौद्धिक समर्थन प्राप्त करने के लिए दर्शन का अध्ययन किया।" उसी विचार को उन्होंने 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी के पृष्ठ ५६२ पर व्यक्त किया है—"मेरे दार्शनिक जीवन के आरम्भ से ही आध्यात्मिक जीवन मेरा लक्ष्य रहा है। मुझे आशा है कि वहीं उसका उपसंहार भी होगा।" यह आशा पूर्णतः सत्य सिद्ध हुई। सभी जानते हैं कि गुरुदेव ने अपनी आस्थाओं के निर्माण के लिए दर्शन का अध्ययन नहीं किया। उनकी आस्था तो जन्मजात थी और उनके अपने आध्यात्मिक अनुभवों और अपने महान् गुरु के जीवन के अवलोकन

तथा उनके उपदेशों के श्रवण में विकास हुआ और स्थिरता बढ़ी। उन्होंने अपने दार्शनिक ग्रन्थ भी इसलिए लिखे कि "भगवद्गीता और उपनिषद्-सरीखे ग्रन्थ भारत से आधुनिक विचारों के प्रकाश में बौद्धिक परिपुष्टि चाहते हैं" (उप० भूमिका पृ० १४)। वे यह भी कहते हैं कि "उनके अपने विचार सम्पूर्ण ग्रन्थ में जान-बूझ कर कहीं भी नहीं दिए गए हैं, परन्तु जो भी इस ग्रन्थ के समस्त तथ्यों को पूर्णतः ग्रहण करने का कष्ट करेगा वह देखेगा कि लेखक किन रचनात्मक विचारों को उपस्थित करना चाहता है" (उप० भूमिका पृ० २०-२१)। अब हमें यह देखना है कि गुरुदेव आदर्श अथवा लक्ष्य के विषय में क्या कहते हैं क्योंकि यद्यपि उनकी अपनी आस्था आध्यात्मिक अनुभव और गुरु के उपदेशों से उत्पन्न हुई थी तथापि उन्हें युवा भारत अथवा यथार्थ में मानवता के सन्मुख भी ब्रह्म-साक्षात्कार का आदर्श रखना था और फिर उसकी पुष्टि के हेतु बौद्धिक तर्क खोजने थे।

इस आदर्श के विषय में गुरुदेव रानडे कहते हैं, "नैतिकता रहस्यवादी दृष्टिकोण में समाप्त होनी चाहिए जो कि मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य और मन्तव्य है" (उप० पृ० २८७)। "रहस्यवाद ही सर्वोच्च दृष्टिकोण है जो मानव के सामर्थ्य में है। वह ईश्वर का एक प्रशान्त एवं भक्तिपूर्ण मनन है" (महाराष्ट्र रहस्यवादः भूमिका पृ० १)। "रहस्यवाद का तात्पर्य मस्तिष्क के उस दृष्टिकोण से है जो ईश्वर के निकट, व्यक्तिगत और सहजज्ञान-जनित प्रत्यक्ष में विश्वास करता है।" "इस ग्रन्थ का चरम उद्देश्य आध्यात्मिक है। प्रत्येक अन्य वस्तु उस उद्देश्य के आधीन है" (उप० भूमिका पृ० १२)। गुरुदेव की एक पुस्तक का नाम ही "ब्रह्म-साक्षात्कार के दर्शन के रूप में भगवद्गीता का दर्शन" है जिसमें "ब्रह्म-साक्षात्कार के दर्शन" के रूप में उन्होंने भगवद्-गीता की सुन्दर व्याख्या की है। उनके रहस्यवादी आदर्श ब्रह्म-साक्षात्कार की परिपुष्टि में इससे अधिक उद्धरण देना आवश्यक नहीं है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि जिन प्रमुख सत्यों का उपनिषद् के ऋषियों ने पता लगाया हैं वे ये हैं— "आत्मा है और उसको पाया जा सकता है। शरीर के समान संसार भी आत्मा का आवरण मात्र है। अथवा दोनों आत्मा ही हैं।" यहाँ भी आत्म-साक्षात्कार पर ही जोर है। पूर्ण अद्वैत की दार्शनिक स्थिति के विषय में वे कहते हैं कि "पूर्ण अद्वैत की अवस्था का बौद्धिक दर्शन और रहस्यवादी अनुभव इस तथ्य पर निर्भर करता है कि प्राकृतिक रूप से हम आध्यात्मिक यात्रा में मार्ग-दर्शक होने वाले हैं अथवा रहस्यवादी। हमारे अन्तिम अध्याय से यह स्पष्ट है कि हम पिछला विकल्प ही अधिक पसन्द करेंगे" (उप० पृ० २७८)।

ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-साक्षात्कार के रहस्यवादी आदर्श में आस्था की बौद्धिक परिपुष्टि के विषय में डा० रानडे कहते हैं, "उपनिषद् सत्य का एक ऐसा रूप दे सकते हैं जो मानव की वैज्ञानिक, दार्शनिक और धार्मिक अभीप्साओं को संतुष्ट करेगा क्योंकि वे हमको एक ऐसा दृष्टिकोण देते हैं जिसको तत्व के व्यक्तिगत प्रत्यक्ष और

सहज ज्ञान से प्रतिपादित होते हुए देखा जा सकता है, जिसका कोई विज्ञान खंडन नहीं कर सकता, जिसको समस्त दर्शन हमारी चेष्टाओं के अन्तिम लक्ष्य के रूप में इङ्गित कर सकता है और जो उन धर्म के विभिन्नरूपों में अन्तरस्थ सत्य के रूप मे देखा जा सकता है जो केवल इसलिए झगड़ते हैं कि वे एक स्थान पर नहीं मिल सकते" (उप० पृ० २)। "उपनिषदों के उपदेश रहस्यवादी अनुभव के लक्ष्य पर मिलते हैं" (उप० भूमिका पृ० १०)। अतः सत्ता के विषय में उपनिषदों के विचार सामान्य रहस्यवाद की धारणाओं के समान हैं। अब हम रहस्यमय सत्ता के इस रूप पर क्रमशः विज्ञान, दर्शन और धर्म के दृष्टिकोण से संक्षेप में विचार करना चाहते हैं।

"सभी युग और देशों के रहस्यवादियों ने एक ही भाषा बोली है क्योंकि वे एक ही आध्यात्मिक देश के निवासी हैं। उनमें कोई भी जाति, समाज अथवा राष्ट्र का भेद-भाव नहीं है। देश-काल का उनके आध्यात्मिक अनुभव के शाश्वत एवं अनन्त स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं है" (पाथवे टु गाड, भूमिका पृ० २)। परन्तु विज्ञान रहस्यवाद से इन सन्तों के रहस्यवादी अनुभव की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की आशा करता है। आध्यात्मिक अनुभव की परख का प्रमुख चिह्न है उसकी सार्वजनिकता और अन्य गुण गौण हैं। पूर्व और पश्चिम के रहस्यवादियों का सामूहिक अनुभव यह सिद्ध करेगा कि उनके रहस्यवादी अनुभव में कुछ सार्वजनीनता है। ईश्वर का नाम, भक्ति की अग्नि, आत्मसाक्षात्कार की प्रकृति इत्यादि के विषय में उनके उपदेश एक-से ही हैं···यही सार्वजनीन तत्व, जैसा कि कान्ट कहते हैं, रहस्यवादी अनुभव को यथार्थता, निश्चित रूप और प्रामाणिकता प्रदान करता है।···रहस्यवादी अनुभव दैवी रूप है। यह दैवी तत्व ही उसको इतना अधिक प्रभावोत्पादक और प्रामाणिक बनाता है (पी० जी० भूमिका पृ०८)। कुछ और भी चिह्न हैं। "सही बौद्धिक विचार······रहस्यवादी अनुभव का निश्चित साथी है ··· आध्यात्मिक अनुभव के सत्य की दूसरी पहिचान व्यक्ति और समाज के निश्चित नैतिक विकास को करने की उसकी योग्यता है···उनका (सन्तों का) अनुभव सदैव ही प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव रहा है। वास्तव में वह संभवतः मानव के योग्य सर्वोच्च आनन्द है। कोई रहस्यवादी अत्यधिक भावुकतामय होता है, केवल यह भावुकता बुद्धि के नियंत्रण में रहनी चाहिए" (वही भूमिका पृ० ५-७)। मानव की शक्ति और सर्वोच्च आनन्द का इतना महान विकास रहस्यवादी अनुभव के सत्य की निश्चित पहिचान है। भ्रम अथवा कल्पना से कभी इस प्रकार का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता।

यहाँ तक विज्ञान की बात हुई। अब दर्शन को लीजिए। "किसी भी आध्यात्मिक सिद्धान्त के सत्य और प्रामाण्य को जीवन को अधिक दैवी और रहने योग्य बनाने की उसकी शक्ति से जाना जा सकता है" (उप० भूमिका पृ० १४)। ज्ञान, दर्शन अथवा अध्यात्मशास्त्र का जीवन को दैवी बनाने में सही कार्य क्या है ? क्या केवल तर्क पर आधारित रह कर ये इस कार्य में सहायता कर सकते हैं ? "मानव जीवन

के सर्वोच्च सत्यों, आत्मा, विश्व और ईश्वर के विषय में दार्शनिक विचार केवल बुद्धि के बल पर नहीं किए जा सकते क्योंकि बुद्धि आत्माश्रय-दोष, द्वन्द्वावली और शुष्क तर्कना तक ही सीमित है।" (उप० भूमिका पृ० ६)। शुद्ध बुद्धि के विचारों के साथ "शुभ और मूल्य के विचारों" का योग आवश्यक है। अतः रहस्यवाद उपनिषद दर्शन का पूर्णत्व था जैसा कि वह समस्त दर्शनों का पूर्णत्व है। और ··· उपनिषदों के सृष्टि-विज्ञान, मनोविज्ञान, अध्यात्मशास्त्र और नीतिशास्त्र उनके रहस्यवादी सिद्धान्तों के केवल सहायक मात्र हैं (उप० पृ० ६५)। गुरुदेव रानडे हमें बतलाते हैं कि किस प्रकार दर्शन रहस्यवाद में समाप्त होता है। उपनिषदीय दार्शनिक को इस सर्वाधिक केन्द्रीय समस्या का उत्तर जानना ही चाहिए कि सत्य क्या है, आत्मा क्या है और उसके विषय में वह क्या बौद्धिक विचार कर सकता है ? इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न उसको अध्यात्मशास्त्र के हृदय-प्रदेश तक ले जायगा और जब एक बौद्धिक हल मिल जायगा तो दूसरी समस्या होगी कि उस ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया जाय, व्यवहार का क्या नियम होना चाहिए जिसको पालन करके कोई ईश्वर को पाने की आशा कर सके। इस व्यावहारिक प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप वह रहस्यवादी दृष्टिकोण आयेगा जो नैतिक प्रयत्न को पूर्ण करेगा और जो नैतिक प्रयत्न के बिना "हैमलेट" को निकाल देने से "हैमलेट नाटक" के समान होगा (उप० पृ० ६४-६५)। इस प्रकार दर्शन नैतिकता की ओर ले जाता है और नैतिकता रहस्यमय जीवन में समाप्त होती है जो कि दैवी और रहने योग्य जीवन है। इस प्रकार दर्शन हमारे प्रयत्न के अन्तिम लक्ष्य के रूप में रहस्यवादी आदर्श की ओर इंगित करता है।

दर्शन से अगला कदम है नैतिकता। हम देखेंगे कि किस प्रकार नैतिकता रहस्य वाद से सम्बन्धित है और अन्त में किस प्रकार रहस्यवादी आदर्श धार्मिक भावनाओं को भी सन्तुष्ट करता है। "उपनिषदों की नैतिक समस्या एक ओर अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्धित है और दूसरी ओर रहस्यवाद से। ······यदि हम सम्पूर्ण रूप में मानव की चेतना की एकता पर विचार करें तो मानव चेतना के सर्वोच्च विकास के पक्ष में बौद्धिक को नैतिक और नैतिक को रहस्यवादी तत्व से पृथक् करना पूर्णतया असंभव प्रतीत होगा। नैतिक रीढ़ के बिना बुद्धि केवल शब्दकौशल पर उतर आएगी और नैतिकता के बिना रहस्यवादी यदि संभव भी हो तो वह एक घृणित जीव मात्र होगा जो मानव के आध्यात्मिक विकास पर कलंक के समान है। और फिर जिस प्रकार बुद्धियुक्त होने के लिए नैतिकता को बुद्धि के साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्धित होना चाहिए उसी प्रकार उसकी पूर्णता के लिए उसको रहस्यवादी दृष्टि में समाप्त होना चाहिए जो मानव जीवन का एक मात्र आदर्श है। संक्षेप में मानव के सर्वोच्च आध्यात्मिक हित के पक्ष में आध्यात्मिकता, नैतिकता और रहस्यवाद एक दूसरे से उतने ही अपृथक् हैं जितने कि उसके सर्वोच्च मनोवैज्ञानिक विकास के लिए बुद्धि, संकल्प और संवेग" (उप० पृ० २८७-२८८)। "सर्वोच्च नैतिक लक्ष्य (आनन्द) साधक के प्रयत्नों के लक्ष्य के रूप में त्रिविध

एकता (ब्रह्म, आत्मा और जीव) के रहस्यवादी साक्षात्कार में है" (उप पृ० ३०५)। आत्म-साक्षात्कार के नैतिक और रहस्यवादी पक्ष यहाँ भलीभांति मिश्रित कर दिये गये हैं (उप० पृ० ३०४)। आध्यात्मिक अनुभव के बिना नैतिकता अपूर्ण रहेगी।

यह देखने के पश्चात कि किस प्रकार नैतिकता केवल रहस्यवादी अनुभव में पूर्ण होती है हम अन्त में यह देखना चाहते हैं कि सत्ता का रहस्यवादी दृष्टिकोण किस प्रकार धार्मिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करता है, किस प्रकार वह सब धर्मों में अन्तस्थ देखा जा सकता है। अपने मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र की भूमिका में गुरुदेव रानडे ने आत्म-साक्षात्कार, आत्मा-परमात्मा की एकता, सफल रहस्यवादी के ऐश्वर्य, आदर्श सन्त, नाम की महत्ता इत्यादि के विषय में पूर्व और पश्चिम के रहस्यवादियों के वचनों की तुलना की है। वहां उन्होंने रहस्यवादी अनुभव की उपमाएं भी दी हैं। "पूर्व और पश्चिम के रहस्यवादियों के इन उपदेशों की तुलना से हम कह सकते हैं कि वे किसी प्रकार किसी कल्पनीय पारस्परिक प्रभाव का परिणाम नहीं हैं परन्तु एक व्यक्तिगत, सामान्य और निकट रहस्यवादी अनुभव के परिणाम हैं। हेराक्लाइटस कहता है "जो जाग्रत हैं उनका एक सामान्य संसार है और जो सो रहे हैं उनमें से प्रत्येक की दुनिया अलग-अलग है (एम० एम० भूमिका १६)"। इस प्रकार सभी काल और देशों के रहस्यवादी एक दिव्य समाज बनाते हैं (एम० एम० पृ० ८)। सभी धर्मों के बीच एक रहस्यमय अनुभव का सूत्र है जो मानवता को भ्रातृत्व के बंधन में बांधता है और जिसके कारण गुरुदेव रानडे ने कहा कि वे धर्म को समझते हैं, धर्मों को नहीं और मानव भ्रातृत्व एक ईश्वर और एक धर्म के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

गुरुदेव रानडे के अनुसार आत्म-साक्षात्कार और ईश्वर का शान्त और सौम्य मनन ही मानव का उद्देश्य है। इस साध्य की प्राप्ति के साधन पर विचार करने से पूर्व हमें आत्मा अथवा ईश्वर के साक्षात्कार के विषय में दो प्रश्नों का उत्तर देना है। प्रथम मौलिक प्रश्न है कि आत्मा को, जो चिरन्तन ज्ञाता है, किस प्रकार जाना जा सकता है? उत्तर यह है कि आत्मानुभूति संभव है क्योंकि "आत्मा को आत्मविभाजन की महान शक्ति मिली है। आत्मा स्वयं को ज्ञाता और ज्ञेय में विभाजित कर सकती है "(उप० पृ० २७४)।" रहस्यवादी सत्ता के रूप में आत्म-चेतना के अनुरूप अन्तर्दर्शन एक मनोवैज्ञा-पद्धति है, केवल अन्तर्दर्शन द्वारा ही आत्मानुभूति संभव है (उप० पृ० २७४)। दूसरा प्रश्न उस शक्ति के विषय में है जिससे हम आत्मा अथवा ईश्वर का अनुभव पा सकते हैं। ईश्वर के अनुभव के लिए सहज ज्ञान जो बुद्धि सम्वेदना और संकल्प से भिन्न है अत्यन्त आवश्यक है। "बुद्धि, संवेदना और संकल्प में संघर्ष होने के बजाय बुद्धि उन सबकी पीठ पर रहती है (पी० जी० भूमिका पृ० २)। ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए साधन है निष्पाप और गुणवान् मन से नाम-चिन्तन। शुद्ध जीवन

मौलिक शर्त है। नाम किसी सद्गुरु से प्राप्त करना चाहिए जिसका आध्यात्मिक अनुभव आध्यात्मिक गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के अनुसार स्वभावतः ही शिष्य में अवतरित होना चाहिए" (पी० जी० पृ० १४८)। "आत्मानुभव की ऊँचाई पर पहुँचे हुए आध्यात्मिक गुरु से साधक जो नाम पाता है केवल वही इस विषय में सहायक हो सकता है (पी० जी० पृ० ३४८)। यह सबीज नाम कहलाता है। नाम-चिन्तन की भी एक पद्धति है। वह आन्तरिक अथवा मानसिक चिन्तन होना चाहिए।

इसके बाद आता है गहन चिन्तन जो चिन्तन-प्रणाली का मूलतत्व है। फिर साधक को अपना चिन्तन जीवन के अन्त तक जारी रखना चाहिए, उसको अपने जीवन भर प्रयोग करना चाहिए और अन्त में वह सब भक्ति-भावना से होना चाहिए। दीर्घकाल, नैरंतर्य और सत्कार इस प्रणाली को प्रभावोत्पादक बनाने की आवश्यकता शर्तें हैं (पी० जी० पृ० १२५)। अन्त में आत्मा की अँधेरी रात का विषय आता है। "रहस्यवादी अनुभव के इतिहासों में हम पढ़ते हैं कि किस प्रकार लगभग प्रत्येक सन्त के जीवन में सबसे अँधेरा समय ऊषा के निकटतम होता है।·········जब तक हम ईश्वर की शक्ति के सन्मुख पूर्ण असहायता का अनुभव नहीं करते तब तक ईश्वर की कृपा संभव नहीं हो सकती" (पी० जी० पृ० १८१-१८२)। इस अँधेरी रात के बाद ईश्वरीय कृपा होती है और साधक प्रकाश, रंग, रूप, शब्द इत्यादि का अनुभव प्राप्त करता है, इन अनुभवों के विषय में पतञ्जलि का कथन है कि "ततः प्रातिभश्रावणास्वादवेदनादर्शवार्ता जायन्ते"। गुरुदेव रानडे के ग्रन्थों में इस अनुभव के विषय में उपनिषदीय ऋषि और मराठी तथा हिन्दी सन्तों की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। परन्तु "किसी अनुभव के आनन्द और दर्शन में वही अन्तर है जो ज्ञान और तादात्म्य में" (उप० पृ० ३०६)। अतः यह समझाने के लिए वे जीवन को दैवी और अधिक रहने योग्य बनाते हैं" जो कि मानव का यथार्थ लक्ष्य है। उनके वर्णन के उदाहरण देना अत्यन्त लाभप्रद होगा। इन अनुभवों का प्रभाव ही हमें उनकी पवित्रता और महानता के विषय में सन्तुष्ट कर सकता है।" समाधि के अनुभव का लाभ क्या है जब तक कि उसके मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक परिणाम नहीं होते (पी० जी० पृ० ३२६)" ? तब इन आध्यात्मिक अनुभवों अथवा ईश्वर-साक्षात्कार के परिणाम क्या होते हैं ? उनकी संख्या अधिक है जिनमें से कुछ की ओर हम इंगित करेंगे। कबीर कहते हैं कि "जुगन जुगन की तृषा बुझानी। करम भरम अघ व्याधि टरै। काल कराल निकट नहि आवै। अमर होय कबहूँ न मरै।" (पी० जी० पृ० २२६)। जब कोई सन्त प्रभु-प्रेम की मदिरा का पान कर लेता है तब उसका सन्देह समाप्त हो जाता है और वह पूर्ण समत्व पर पहुँच जाता है। उसका एक गुप्त अनुभव है। अपनी आत्मा का मूल्यांकन करते हुए वह किसी की भी परवाह नहीं करता और दैवी चिन्तन तथा दैवी आनन्द में मग्न रहता है। ईश्वर की प्राप्ति से पूर्ण समता आती है। ईश्वर के साक्षात्कार के पश्चात् मौन की अवस्था है। सन्त एक प्रकार से ईश्वर के समान बन जाता है। वह सदैव ब्रह्मानन्द

की अवस्था में रहता है। जब तक और जब कभी वह चाहे उसे ब्रह्मानन्द का रस लेने से कौन रोक सकता है?" (पी० जी० पृ० २४१)।

यहाँ पर एक आदर्श उपनिषदीय सन्त का वर्णन है :—"एक व्यक्ति जिसके लिए ये सभी प्राणी आत्मा बन चुके हैं उसका क्या दुख, क्या क्लेश हो सकता है जब कि उसने सब वस्तुओं में एकता देखी है? वह दुख के अन्त तक चला गया है और उसने इच्छा के बाह्य आवरण को काट डाला है जिसने अब तक उसे अन्धकार और निराशा से ढँक रखा था। उसकी समस्त इच्छायें समाप्त हो चुकी हैं क्योंकि वह सर्वोच्च इच्छा अर्थात् आत्म-साक्षात्कार को पूर्ण कर चुका है। जिस प्रकार जल-विन्दु कभी कमल के पत्ते पर नहीं ठहरते उसी प्रकार पाप उसे कभी दूषित नहीं करता। उसके लिए कोई पाश्चात्ताप की भावना नहीं है। वह कभी नहीं सोचता कि उसने शुभ कार्य क्यों नहीं किये और केवल बुरे कार्य ही क्यों किये। वह सत्ता की प्रकृति को जान गया है और इस प्रकार द्वन्द्वों से परे पहुँच गया है। यदि कोई उसको कष्ट देने का निश्चय करे तो उसकी आशायें छिन्न-भिन्न हो जायेंगी क्योंकि अभेद्य शिला पर कांटे मारने वाली कोई भी वस्तु स्वयं खंड-खंड होकर विखर जायेगी। सन्त एक अभेद्य शिला है। वह शाश्वत समता प्राप्त कर चुका है क्योंकि जैसा कि उपनिषदों का कथन है उसने ईश्वर को 'एकत्रित" कर लिया है। योग की पद्धति में पूर्ण पर चिन्तन करने के कारण मन सहित उसकी सभी इन्द्रियाँ गतिहीन हो गई हैं और आत्मा को प्राप्त करने के कारण उसने कहीं शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लिया है" (उप० पृ० ३१५)।

अब हम एक महान् उपनिषदीय रहस्यवादी के अनुभव के पश्चात् का स्वगत भाषण देकर यह संक्षिप्त लेख समाप्त करते हैं :—"अन्त में महानतम रहस्यवादियों में से एक, जिसका स्वगत भाषण तैत्तिरीय उपनिषद् में हमारे लिए सुरक्षित रखा गया है, उपनिषद् और उनके बाद के साहित्य में अनुपम छटा वाले एक पद में हमें बतलाता है कि जब वह अपने इहलौकिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और आनन्दिक कोष को पार कर जाता है तब वह सार्वभौम एकता का गीत गाते हुए अपने एकान्त में पूर्ण निस्तब्धता में बैठा रहता है। "कितना आश्चर्य-जनक है! कितना आश्चर्य-जनक है!! कितना आश्चर्य-जनक है!!! मैं भोजन हूँ! मैं भोजन हूँ!! मैं भोजन हूँ!!! मैं भोजन को खाने वाला हूँ, मैं भोजन को खाने वाला हूँ, मैं भोजन को खाने वाला हूँ; मैं उनकी एकता बनाने वाला हूँ! मैं उनकी एकता बनाने वाला हूँ!! मैं उनकी एकता बनाने वाला हूँ!!!" इन उक्तियों का आध्यात्मिक अर्थ केवल यही है कि वह स्वयं ही समस्त भूत था और स्वयं ही समस्त आत्मा और उनका सम्बन्ध सूत्र। और ज्ञानमीमांसीय अर्थ यह है कि वह स्वयं ही द्रष्टा-संसार है, स्वयं ही दृश्य संसार है और स्वयं ही दृग्दृश्य-सम्बन्ध। यह एक ऐसी आध्यात्मिक अवस्था है जिसको एक आधुनिक आदर्शवादी विचारक ने एक ऐसी स्थिति कहा है जिसमें युद्ध स्थल, योद्धा और युद्ध सभी का अन्तर अन्तर्ध्यान हो जाता है। यह एकता का संगीत वैसा

ही है जैसा कि हम बहुधा अन्य देशों में भी पाते हैं। यथा "मैं नियम की प्रथम उत्पत्ति हूँ, मैं देवताओं से भी वृद्ध हूँ। मैं अमरत्व की नाभि हूँ। वह जो कि मुझे देता है, वहीं मुझे रखता है। जो सभी भोजन को खाता है, मैं उसे भोजन की तरह खाता हूँ। मैं सूर्य के समान तेज से समस्त विश्व को ढँक लेता हूँ।"

क्या इससे अधिक आनन्दमय, दैवी अथवा रहने योग्य जीवन की कल्पना संभव है ? हम ईश्वर के प्रति आभारी हैं कि गुरुदेव रानडे केवल ऐसे रहस्यवादी ही नहीं हैं जिनका रहस्यवादी अनुभव उनको देवत्व तक उठा देने को पर्याप्त है परन्तु एक दार्शनिक भी हैं और वे इस कारण विचारशील मानवता को भी साध्यों के एक दैवी राज्य तक उठा सकते हैं।

संकेत-सूची—

उप० —A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy
एम० एम०—Mysticism in Maharastra.
पी० जी०— Pathway to God in Hindi Literature.

अनुवादक रामनाथ शर्मा, एम० ए०, डो० फिल० ।
इलाहाबाद ।

गुरुदेव रानडे की नाम-साधना का फल

एस० एन० देशपाण्डे, एम० ए०, बी० एस-सी, तर्क-अध्यापक, विलिंगटन कालिज, सांगली

१. १ जून १६३४ को जब मैं पहली बार गुरुदेव रानडे के निम्बल आश्रम में गया तो प्रवेश करते हुए ही पाया कि वह वातावरण 'नारायण, नारायण, नारायण' नाम से गूंज रहा है। इसने मेरे हृदय की भक्ति-मन्दाकिनी को प्रवाहित कर दिया। कुछ क्षणों के बाद गुरुदेव अपने कमरे से यह कहते हुए निकले —

नमो महद्भ्यो नमोऽर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।

तदनन्तर उन्होंने गुलाब का इत्र उपस्थित लोगों को लगाया और सबको अपना-अपना कर्म करते हुए नाम-जप करने की शिक्षा दी।

२. १६३८ में मुझे गुरुदेव के साथ प्रयाग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों कुछ घटनायें घटीं जो अत्यन्त विस्मयकारी और शिक्षाप्रद हैं। यहाँ दो का उल्लेख किया जाता है।

(क) एक दिन वे मुझे अपनी कार में बैठाकर घूमने लिवा ले गये। वे किसी मनोरम स्थान में ध्यान करने के लिए जाते थे। उस दिन वे गंगा के किनारे गए। गंगा में बाढ़ आयी थी। कार किनारे रोक दी गयी। प्रो० रानडे कुछ क्षण तक ध्यान में मग्न रहे। इतने में जब उनका ध्यान टूटा तब कार के चारों तरफ बाढ़ का पानी फैल गया। ड्राइवर ने कहा कि पानी कार की मशीन में घुस गया। उसने कार को चलाने की बड़ी कोशिश की पर निराशा ही हाथ रही। उसने हम सब लोगों को कार ठेलने को कहा। इसी बीच प्रो० रानडे पुनः ध्यान में लीन हो गए। उनके मुखारविन्द से 'नारायण नारायण' की ध्वनि निकली। तदनन्तर समाधिस्थ-अवस्था में ही निम्नलिखित पंक्ति को कह गए—

"खाया पिया सुख से सोया।
राम-भजन कूं दिया कमल मुख।"

इतना कहने पर उनका ध्यान टूटा और उन्होंने ड्राइवर को पुनः कार चलाने को कहा। हम सब लोग कार में बैठे ही रहे। ड्राइवर ने उनके कहने पर कार चलाई और यह देखकर हम लोगों को परम आश्चर्य हुआ कि कार चल पड़ी और हम सभी सुरक्षित लौट आए।

(ख) एक बार प्रो० रानडे की कलाई में यकायक सूजन और जलन हो गयी थी। दर्द अधिक था। तिस पर भी उनके मुख से " नारायण नारायण " और निम्नलिखित श्लोक सुनाई पड़े—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरादूरतः,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयं नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कुर्यात्प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

कड़ी बीमारी में भी उनका ध्यान चलता रहता था। वह सदा अपने रोग को साधना द्वारा जीत लेते थे।

३. एक दिन उन्होंने मेरी पत्नी को बतलाया " सद्गुरु द्वारा दिया हुआ भगवान् का नाम एक प्रतीक है। इसमें ईश्वरीय शक्ति है। यदि सान्द्र भक्ति और सच्ची प्रार्थना के साथ नाम-स्मरण किया जाय तो यह अवश्य हमारी सहायता करेग। सद्गुरु का भौतिक आकार दीक्षा देने का अस्थायी माध्यम है। हमें नाम पर अटल रहना चाहिए और अबाध गति से इसका स्मरण करते रहना चाहिए। "

४. १६३८ और १६४२ के बीच प्रो० रानडे से मेरा सम्पर्क काफी बढ़ गया। इस बीच कई चमत्कारी घटनाएँ घटीं जिनका वर्णन यहाँ करना अनावश्यक प्रतीत होता है।* पर यह कहना आवश्यक है कि इन घटनाओं के कारण मैं उन्हें साक्षात् ईश्वर मानने लगा हूँ।

५. प्रो० रानडे समय-समय पर मुझे पत्र द्वारा याद दिलाते रहते थे कि मुझे नाम-स्मरण तथा सत्संग सदैव करते रहना चाहिए। उनका विश्वास था कि हरि-स्मरण से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सचमुच गुरु द्वारा दिया गया नामोपदेश विशेष महत्व का है। हम ईश्वर के जो नाम पुस्तकों में पाते हैं उनका गुरुदत्त नाम से कोई सम्बन्ध नहीं है। गुरूपदिष्ट नाम में प्रचुर शक्ति रहती है। उसमें गुरु की साधना जीवित रहती है। अतः वह साधक को अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है।

---

* मैं इनका वर्णन एक पुस्तक के रूप में मराठी भाषा में कर रहा हूँ जो शीघ्र प्रकाशित होगी।

रानडे का धर्म-दर्शन

रामनाथ शर्मा एम० ए०, डी० फिल०, इलाहाबाद

भारत धर्म-प्राण देश है। भारतीय दार्शनिकों ने कभी भी बौद्धिक विश्लेषण मात्र के रूप में दर्शन का अध्ययन नहीं किया। दर्शन परमार्थ-सोपान की बौद्धिक पृष्ठ भूमि था। दर्शन धर्म का मानसिक आधार था। आधुनिक काल में भी जब कि गण्यमान्य भारतीय दार्शनिकों ने अनिवार्य रूप से पाश्चात्य दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है उनके विचारों में उपनिषद् के ऋषियों की आत्मा स्पष्ट परिलक्षित होती है। विवेकानन्द हों या राधाकृष्णन, अरविन्द हों या रानडे, सभी ने दर्शन और धर्म के सामंजस्य पर बल दिया है। सभी ने मस्तिष्क और हृदय दोनों को ही समान महत्व दिया है। दर्शन हो या राजनीति, धर्म हो या साहित्य, समन्वयवाद भारत की आत्मा है, भारतीय संस्कृति का सार है।

बैरन फान ह्यूगल के विरुद्ध रानडे रहस्यवाद और दर्शन में कोई आवश्यक भेद नहीं मानते। ज्ञानेश्वर, प्लाटिनस, एखार्ट इत्यादि जहाँ एक ओर रहस्यवादी दृष्टा थे वहाँ दूसरी ओर बुद्धिवादी दार्शनिक भी। ज्ञानेश्वरी किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ से कम नहीं है। पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवादी सन्तों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा रानडे यह स्पष्ट करते हैं कि सहज ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि द्वारा उपलब्ध ज्ञान देशकालातीत है और सभी जगह एक-सा ही है। उनका "मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र" इस विषय पर अनुपम खोजपूर्ण ग्रन्थ है। उपनिषदों की अतल गहराइयों में पैठ कर रानडे जिन अनमोल मोतियों को चुन लाये उनके सम्मुख बौद्धिक विचार मात्र पर आधारित निगमन अथवा आगमन की तार्किक पद्धति से उपलब्ध ज्ञान उनको सहज ही अपूर्ण जान पड़ा। विचार दर्शन उत्पन्न नहीं करता। दर्शन का आधार अनुभव है। बौद्धिक विचार तो केवल उस अनुभव को दार्शनिक जामा भर पहना देता है। रानडे के शब्दों में "उपनिषद हमें सर्वोच्च सत्ता का एक ऐसा रूप दे सके हैं जो मानव की वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रेरणाओं की सन्तुष्ट करता है क्योंकि वह हमें ऐसा दृष्टिकोण देते हैं जिसको एक स्पष्ट, निकटतम, सहज रहस्यात्मक अनुभव द्वारा प्रतिपादित होते देखा जा सकता, जिसकी ओर समस्त दर्शन अपने प्रयत्नों के अन्तिम लक्ष्य के रूप में इंगित कर सकता है और जो तत्काल ही धर्म के विभिन्न रूपों में अन्तस्थ सत्य के रूप में देखा जा सकता है जो केवल इसीलिए झगड़ते हैं कि वे एकानुवर्ती नहीं हो सकते।"[१]

रानडे के अनुसार सभी रहस्यवादी द्रष्टाओं ने सर्वोच्च सत्ता का एक ही रूप में

1. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, P. 2.

अनुभव किया। सभी एक ही दैवी समाज के अंग थे। उनमें देश-काल की सीमाओं से अन्तर नहीं पड़ता। सभी ने आत्मा को एक ही रूप में देखा। इसी प्रकार सन्त-सुलभ गुणों के विषय में भी सभी रहस्यवादी एकमत हैं। ज्ञानेश्वर और प्लाटिनस ने रहस्यमय चेतना और पतित आत्मा का एक समान वर्णन किया है। नाम के महत्व पर पूर्वीय और पाश्चात्य रहस्यवादियों ने समान रूप से बल दिया है। उनके रहस्यात्मक अनुभव भी एक-से हैं। रानडे के अनुसार रहस्यवादी अनुभव विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक अनुभव मात्र नहीं बल्कि ईश्वर के प्रति अदम्य तथा निर्बाध प्रेम हैं।२ यह आनन्द निषेधात्मक न होकर अनिर्वचनीय है। साधारण कामुक वासना-जनित आनन्द से उसकी तुलना करने का प्रयत्न जैसा कि कुछ पाश्चात्य मनोविश्लेषणवादी करते हैं, केवल अनुभवहीनता का परिचायक है। रानडे के अनुसार जब-जब इन रहस्यवादी द्रष्टाओं ने परमात्मा और आत्मा के सम्बन्ध को वर-वधू, प्रेमी-प्रेमिका, नरनारी इत्यादि के रूप में चित्रित किया है तब उनका तात्पर्य इस सीमित उपमा द्वारा उस असीम आनन्द की ओर इंगित करना मात्र है। सत्य तो यह है कि रहस्यवादी अनुभव गूँगे का गुड़ है। जो उसका आस्वादन करता है वही उसके आनन्द को जानता है। किसी प्रकार की कल्पना अथवा बौद्धिक वर्णन द्वारा हम इसका बाहरी अंश ही छू पाते हैं। यहाँ पर रानडे और विलियम जेम्स एकमत हैं। जेम्स के अनुसार भी धार्मिक और कामुक चेतना के उद्देश्य, अनुभव, क्रियाओं तथा मानसिक एवं शारीरिक स्थितियों में मौलिक भेद है।

अब प्रश्न उठता है कि तब धार्मिक अथवा रहस्यवादी अनुभव की पहचान क्या है? उसकी विशेषताएँ कौन-सी हैं? रानडे के अनुसार इस प्रकार का अनुभव सार्वभौम होता है। दूसरे वह बुद्धि के विकास की ओर ले जाता है, ह्रास की ओर नहीं। यह आवश्यक नहीं कि सभी रहस्यवादी दार्शनिक भी हों परन्तु बौद्धिक शक्ति और विचारों की स्पष्टता तो आवश्यक है ही। इसी प्रकार यों तो रहस्यवादी का जीवन अत्यन्त भावुकतापूर्ण होना चाहिए परन्तु जैसा कि स्पिनोजा ने अपने ईश्वर के "बौद्धिक प्रेम" के सिद्धान्त में इंगित किया है इस भावुकता पर बुद्धि का नियन्त्रण होना आवश्यक है। डीन इन्ज के विरुद्ध रानडे का मत है कि रहस्यवाद व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में पूर्ण नैतिकता का पाठ पढ़ाता है। "समाज की सेवा न करने वाला रहस्यवादी रहस्यवादी ही नहीं है।"३ रानडे का यह वक्तव्य रहस्यवाद और समाजवाद की गहरी खाँई को पाटता है। धर्म मानव स्वभाव की आवश्यक माँग है। समाजवाद के लिए ईश्वर का बहिष्कार जीवन को एकांगीपन की ओर ले जाता है। मानव ईश्वर का रूप है। फिर ईश्वर और मानव, व्यक्ति और समाज, प्रकृति और मनुष्य में यह भेद कैसा? श्री अरविन्द के समान रानडे ने भी उपनिषदों के रहस्यवाद का वैज्ञानिक युग के आधुनिकतम विचारों से सामंजस्य किया है। उपयोगितावादियों के समान रानडे कहते हैं

२. वही पृ० २१। ३. वही पृ० २८।

कि रहस्यवादी अनुभव की प्रामाणिकता के निर्णायक स्वयं रहस्यवादी ही हैं। उनका शुद्ध नैतिक जीवन, ईश्वर में अटल आस्था, सन्तुलित बुद्धि तथा अदम्य साहस, विश्वास और शक्ति ही उस अनुभव को सत्य घोषित करते हैं। इससे अधिक वैज्ञानिक प्रमाण और हो भी क्या सकता है ? कहना न होगा कि यह मत एक विशेष प्रकार के अत्यन्त उन्नत रहस्यवाद पर ही लागू होता है परन्तु इससे यह एकांगी नहीं हो जाता क्योंकि धर्म के विषयों में प्रारम्भ नहीं बल्कि अन्त ही सत्य का निर्णायक है। सर्वोच्च स्तर ही अन्य स्तरों का मार्ग-दर्शक है। पशु-पूजा अथवा प्रकृति-पूजा में धर्म के रहस्यों की खोज अनुचित है। यदि धर्म का वास्तविक रहस्य जानना ही है तो वह अरविन्द और रानडे जैसे सन्तों के आदर्श रहस्यवाद में ही जाना जा सकता है, वामाचारी साधुसमाज के घृणित ढंग में नहीं।

रानडे ने रहस्यवाद का गम्भीर अध्ययन किया, न केवल महाराष्ट्रीय और कन्नड़ बल्कि हिन्दी रहस्यवाद का भी। न केवल भारतीय सन्त परंपरा बल्कि सूफी और ईसाई सन्तों के जीवन का भी तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने रहस्यवाद की एक मोटी रूप-रेखा प्रस्तुत की। उनकी अमर कृतियाँ "पाथवे टु गाड" "मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र", ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे आव् उपनिषदिक फिलासफी" एवं "परमार्थ सोपान" इत्यादि इसी गहन अध्ययन का परिणाम हैं। इस अतल सागर से जो रत्न वे चुन लाए वे दर्शन-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

रानडे के अनुसार संसार के समस्त रहस्यवादियों के ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग की कुछ सामान्य मुख्य विशेषताएँ हैं। साधारणतः इनको पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम तो कुछ ऐसे दार्शनिक, नैतिक और शारीरिक तत्व हैं जो मानव को आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाते हैं। इसके पश्चात् नैतिक और आध्यात्मिक तैयारी का प्रश्न आता है जिसको हल करना भी परमावश्यक है। तीसरे, उनको अपने सन्मुख कुछ आदर्श रखने पड़ते हैं। इसमें उन्हें इन आदर्शों का ईश्वर से सम्बन्ध निश्चित करना पड़ता है और फिर स्वयं उस ईश्वरीय मार्ग पर चलकर उसके ज्ञान का अनुभव करना होता है। अन्त में जब वे पर्याप्त समय तक उस मार्ग पर चल चुकते हैं तब वे उस पर कुछ निर्देशक चिह्न निश्चित कर सकते हैं जिससे उनको अपना सर्वोच्च आदर्श प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अपनी पुस्तक "पाथवे टु गाड" में रानडे ने हिन्दी सन्तों की परम्परा में इन सभी अंगों का विस्तृत वर्णन किया है।

भारतीय दार्शनिकों की परम्परा में रानडे नीति को धर्म के आधार पर खड़ा करते हैं। कान्ट के अनुसार ईश्वर की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि वह भले को भला और बुरे को बुरा फल दे अन्यथा संसार में न्याय ही नहीं होगा। अतः कान्ट के दर्शन में ईश्वर अथवा धर्म नीति का गौण अंग है। परन्तु इसके विपरीत रानडे गीता के समान "ईश्वर के प्रति प्रेम" को ही नीति की आधार-शिला मानते हैं। इस विषय में वे आगस्टाइन से बहुत अधिक प्रभावित हैं। आगस्टाइन के अनुसार प्रेम अथवा

परोपकार ही नैतिकता का मूल स्रोत है। अपने हिन्दी सन्तों के अध्ययन में रानडे ने इसी पर जोर दिया है। विराग, विवेक, धैर्य और दम इत्यादि व्यक्तिगत गुण, दया और परहित इत्यादि सामाजिक गुण तथा अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन भी केवल 'ईश्वर प्रेम' के अंगमात्र हैं। श्री अरविन्द के समान रानडे भी ईश्वर को सब कुछ मानते हैं। श्री अरविन्द के पूर्ण योग का आधार है आत्म-समर्पण। रानडे के मार्ग का सम्बल है ईश्वर-भक्ति और प्रेम। एक योगी है दूसरा भक्त। परन्तु रानडे की भक्ति में बुद्धि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अतः उनका मार्ग एकांगी नहीं कहा जा सकता। फिर भी जहाँ अरविन्द ने शरीर के भी दैवीकरण पर जोर दिया वहाँ प्राचीन सन्त-परम्परा के अनुसार रानडे भौतिक जगत को उतना महत्व नहीं देते। सम्पूर्ण चेतना के विकास का जो मार्ग अरविन्द ने निकाला उतना पूर्ण रानडे का मार्ग नहीं। पर दोनों ही अपने स्थान पर अद्वितीय हैं। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति को भिन्न मार्ग ही रुचिकर हो सकता है और हितकर भी। सभी मार्ग भगवान की ओर ले जाते हैं।

उपनिषदों के खोजपूर्ण अध्ययन में रानडे ने पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्तियों का तर्कपूर्ण खंडन किया है। अपने दार्शनिक विश्लेषण से उन्होंने यह दिखा दिया है कि उपनिषद् किसी बर्बर युग की अव्यवस्थित वार्ता नहीं बल्कि दर्शन के भाण्डार हैं। वे केवल कर्मवादी ही नहीं हैं बल्कि उनमें नैतिकता का भी समुचित स्थान है। वे निराशा वादी नहीं बल्कि जीवन को दैवी सत्ता की ओर ले जानेवाले प्रगतिशील मार्ग दिखाने वाले हैं। प्रो० अर्कुहर्ट के आक्षेप के विरुद्ध रानडे का कहना है कि आनन्द निषेधात्मक नहीं हो सकता और न ही वह देशकाल के अनुसार परिवर्तित होता है। अतः यह कहना भ्रमात्मक है कि टैगोर से पूर्व भारतीयों को आनन्द के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही नहीं था।

रानडे के अनुसार दर्शन का साध्य रहस्यवाद है। वे दर्शन और धर्म को परस्पर विरुद्ध न मानकर अन्योन्याश्रित मानते हैं। भारत की प्रत्येक दार्शनिक क्रान्ति धार्मिक क्रान्ति थी। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। दर्शन के सत्यों का अनुभव होता है धर्म में और धर्म के अनुभवों का बौद्धिक विश्लेषण तथा दार्शनिक विवेचन अनिवार्य है। मानव व्यक्तित्व में मस्तिष्क और हृदय दोनों को ही सन्तुष्ट होना चाहिए। अतः दर्शन और धर्म दोनों ही अनिवार्य हैं। रानडे के शब्दों में किसी भी अध्यात्म-शास्त्रीय सिद्धान्त की उपयुक्तता तथा महानता जीवन को दैवी बनाने में सहायता देने से नापी जा सकती है।"४ संक्षेप में रानडे का धर्म है "बौद्धिक रहस्यवाद" और यही है उनका दर्शन। उन्होंने रहस्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "रानडे के साथ दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम न होकर ज्ञान की खोज है। उनके लिए वह आत्मा का मनन है, जीवन का आत्मसमर्पण का मार्ग है।"५

---

४. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy. P. 15

५. परमार्थ सोपान पृ० ११।

श्री रानडे का चिन्तन-निष्कर्ष

बलदेव उपाध्याय, काशी विश्वविद्यालय

श्री रानडे साहब एक विलक्षण पुरुष थे। वे सच्चे अर्थ में तत्ववेत्ता दार्शनिक थे। उनके लिए दर्शन केवल अध्ययन-अध्यापन का विषय नहीं था, प्रत्युत वह उनके दैनन्दिन जीवन में ओतप्रोत था। यदि हम उन्हें दर्शन की जीवन्त मूर्ति कहें, तो कुछ अनुचित नहीं होगा। यह कटु सत्य है कि आज कल विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के अध्यापक और अध्यक्ष कक्षा में अपने. छात्रों के समाने कतिपय परचिन्तित तथा परिपठित दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने में ही अपने पवित्र कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। दर्शन के सन्तत चिन्तन के अभाव में वे अपने छात्रों में उसके प्रति उत्साह और स्फूर्ति नहीं प्रदान करते। रानडे साहब इस परिपाटी के प्रबल अपवाद थे। उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति, चाहे वे उनके प्रतिदिन व्याख्यान सुनने वाले छात्र हों अथवा यदा-कदा उनकी अमृत वाणी सुनने का अवसर लाभ करने वाले अध्यात्म-प्रेमी हों, उनके विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इसका कारण था कि वे अपने विचार तथा आचार के बीच मञ्जुल सामञ्जस्य स्थापपित करने वाले दार्शनिक थे। तर्क के द्वारा सुचिन्तित तत्त्व उनके जीवन में साधन के अंग बन कर उल्लसित होते थे। दर्शन के तत्त्व केवल मानसिक व्यायाम के साधन न बन कर हृदय को प्रफुल्लित करने वाले तथा जीवन को सरस और पूर्ण बनाने वाले उपकरण थे। इस विषय में उनका शान्त जीवन प्राचीन ऋषियों के समान था। वे वास्तव रूप से औपनिषद अर्थ में 'कवि' थे। कवयः क्रान्तदर्शिनः। वे सचमुच क्रान्तदर्शी विद्वान थे। वे साधक थे, सच्चे उपासक थे, समाधि में लीन होने वाले योगी थे। और इसलिए उनका व्यक्तित्व पूर्णरूपेण विकसित था। उनमें तार्किक बुद्धि तथा प्रतिभा का अनुपम मिलन था।

प्राचीन दर्शन को समझने तथा समझाने की उनकी एक विशिष्ट पद्धति थी जिसका अनुकरण करना हमारे लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। प्रतीच्य दर्शन के मूल रूप के ज्ञान के लिए उन्होंने ग्रीकभाषा का प्रगाढ़ अध्ययन किया था। ग्रीक भाषा के जानकर इने-गिने भारतीय विद्वानों में वे अन्यतम थे और उनका लिखा हुआ "ग्रीक तथा संस्कृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन" ('संकृत रिसर्च' १६१३ में प्रकाशित) आज भी भाषाशास्त्र के अध्ययनशील विद्यार्थियों के लिए एक महत्व पूर्ण तथा नितान्त उपयोगी निबन्ध है। इस निबन्ध में रानडे साहब ने दोनों भाषाओं के वैयाकरण साम्य तथा वैषम्य का विवरण बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से किया है। उन्होंने

यवन दार्शनिकों के ग्रन्थों का अध्ययन इस प्रकार उनके मूल रूप में ही (अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर नहीं) किया था। उस युग में भी ऐसा सांगोपांग अनुशीलन एक दुरूह व्यापार माना जाता था। आज भी भारत में यही दशा है। संस्कृत भाषा के तो वे प्रकाण्ड पण्डित थे ही। इसलिए उपनिषदों का उनका दार्शनिक विवेचन आज भी नितान्त मौलिक, प्रामाणिक तथा उपादेय है। सिद्धान्तों का विवेचन मूल ग्रन्थों के आधार पर तो वे करते ही थे, साथ ही साथ ग्रन्थों का अन्तःपरीक्षण कर वे उसके सिद्धान्तों का क्रमिक विकाश बतलाने में भी कृतकार्य होते थे। A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy नामक ग्रन्थ में उन्होंने दार्शनिक तत्वों का विवरण उपनिषदों में से संगृहीत धार्मिक वाक्यों के आधार पर किया है। इस ग्रन्थकी शैली इस प्रकार श्लाघनीय तथा उपादेय है तथा विवरण प्राञ्जल तथा प्रामाणिक है। डाक्टर बेलवेलकर के सहयोग से लिखित दर्शनेतिहास ग्रन्थ में रानडे साहब ने नाना उपनिपदों का जो दार्शनिक विश्लेषण भाषाशास्त्रीय तथा तार्किक दृष्टि से किया है वह एक श्लाघनीय विद्वत्ता का सूचक है। मूल ग्रन्थों के विचारों की यह विश्लेषण-परिपाटी रानडे साहब के प्रकृष्ट पाण्डित्य तथा गम्भीर अनुशीलन की पर्याप्त सूचिका है।

मैं उनके सम्पर्क में एक विलक्षण प्रकार से आया। वे मेरे ग्रन्थ "बौद्धदर्शन मीमांसा" के एक परीक्षक थे और हिन्दी के अनेक माननीय लेखकों की दार्शनिक कृतियों के समक्ष इसे उन्होंने सर्वश्रेष्ठ होने की सम्मति दी। फलतः मुझे इस ग्रन्थ पर डालमिया पुरस्कार (दो हजार एक सौ रुपयों का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पारितोषिक) मिला। ग्रन्थ से प्रभावित होकर रानडे साहब ने मुझे स्वयं प्रयाग बुलाया तथा अपनी अध्यात्म परिषद् में उपस्थित होकर व्याख्यान देने का निमन्त्रण दिया। फलतः 'भारत में तान्त्रिक धर्म,' 'शंकराचार्य', 'वैष्णव धर्म-दर्शन' आदि विषयों पर व्याख्यान देकर रानडे साहब की भूयसी प्रशंसा पाने का श्रेय मुझे प्राप्त हुआ है। दर्शन तथा धर्म के ऊपर अनेक समय वार्तालाप के प्रसंग में उनके मुख से अनेक गम्भीर तथ्यों को सरस तथा सुबोध भाषा में सुनने का अवसर मुझे मिला है जिससे दोनों के परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त बड़ी सुगमता से हृदयंगम किया जा सकता है। वे दर्शन के चिन्तन का पर्यवसान रहस्यवाद (या मिस्टिसिज्म) में मानते थे। 'रहस्यवाद' का तात्पर्य प्रातिभ ज्ञान के द्वारा उपलब्ध अपरोक्षानुभूति है। उनकी दृष्टि में तर्कसाध्य परोक्ष अनुभूति तथा प्रतिभाजन्य अपरोक्षानुभूति में वही अन्तर है जो किसी अनुभव के विवरण तथा उस अनुभव के उपभोग में है अथवा जो ज्ञान तथा सत्ता के बीच में विद्यमान है।[1] तर्क के द्वारा उपलब्ध ज्ञान परोक्ष अर्थात् परानुभूति है और इस ज्ञान

1. Any mediate, intellectual or expressible knowledge would fall short of immediate, intuitive, first-hand experience. There is the same gulf between the expression of an experience and the enjoyment of it, as there is between knowledge and being. —Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P. 326.

को अपनी अनुभूति में बिना लाये वह कथमपि उपादेय नहीं हो सकता। ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म की सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण है—स्वात्मानुभूति, अपना वैयक्तिक अनुभव। इसीलिए भर्तृहरि ने इस तथ्य का प्रतिपादन "स्वानुभूत्येकमानाय" कह कर किया है। भगवान् की सत्ता का एक मान (प्रबलतम प्रमाण) अपनी अनुभूति ही हो सकती है। दूसरे के अनुभव के आधार पर निश्चित किया गया तथ्य कथमपि पूर्ण, प्रामाणिक तथा अकाट्य नहीं हो सकता। सन्तों की वाणियों तथा अनुभूतियों की ओर रानडे साहब के आकृष्ट होने का रहस्य इसी दृष्टिकोण में है।

डा० रानडे की दृष्टि में सन्त तथा विद्वान में महान् अन्तर है। विद्वान अथवा तत्वज्ञ वह व्यक्ति है जो दूसरों की अनुभूतियों के आधार पर अपनी अनुभूति खड़ा करता है, जो परप्रत्यक्ष के ऊपर स्वप्रत्यक्ष का किला खड़ा करता है और वहीं वह टिका रहता है। युक्तियों और तथ्यों के आधार पर उसे समझने का प्रयास वह अवश्य करता है, परन्तु इससे आगे वह नहीं बढ़ता। सन्त की विलक्षणता तत्वज्ञ विद्वान से पर्याप्त रूप से उसे पृथक करती है। सन्त अपनी अनुभूति के आधार पर तत्व का निर्णय करता है। वह तत्व की अपरोक्ष अनुभूति करने वाला जीव होता है और इस कार्य में वह अपनी प्रतिभा का आश्रय लेता है। तर्क (रीज़न) तथा प्रतिभा (इण्ट्यूशन) का पारस्परिक भेद नितान्त स्पष्ट है। विद्वान में तर्क-बुद्धि का प्राबल्य रहता है, तो सन्त में प्रतिभा का विलास। विद्वान तर्क के प्रकाश में जिन तत्वों का अनुसन्धान करता है सन्त उन्हें प्रतिभा के आलोक में साक्षात्कार करता है। विद्वान का उपदेश इसीलिए अनेक अवसरों पर प्रभावशाली नहीं होता, क्योंकि वह परप्रत्यक्ष के ऊपर विशेष रूप से आधारित रहता है; इसके विपरीत सन्त-महात्मा का उपदेश स्वप्रत्यक्ष के ऊपर आश्रित होने से अधिक प्रभविष्णु होता है। सन्त-साहित्य में यह भेद एक दृष्टान्त के द्वारा बड़े रोचक ढंग से समझाया गया है। सन्तों की अनुभूत बानी है कि हरिण को देखकर भूँकने वाला कुत्ता एक ही होता है। अन्य कुत्ते तो इस भूँकने वाले कुत्ते की आवाज सुनकर भूँकने लगते हैं। उपमा कुछ भोंड़ी-सी है, परंतु है यथार्थ। तत्व का साक्षात् करने वाले एक ही दो होते हैं परन्तु उनके विवरण और व्याख्या को सुन कर और पढ़ कर दूसरे लोग भी उन्हीं वाक्यों का बिना समझे-बूझे प्रयोग करने लगते हैं तथा उन निगूढ़ तत्वों का और भी जोरों से प्रचार करने लगते हैं।

सन्त तथा तार्किक में एक और भी महान् अन्तर होता है। और वह अन्तर है आचरण का। तार्किक केवल तार्किक बुद्धि से किसी तथ्य का ऊहापोह अवश्य करता है, परन्तु उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना नहीं जानता। उसे उसकी केवल मानसिक अनुभूति रहती है, परन्तु सन्त उसे अपने जीवन का दर्शन बनाता है, उसके आधार पर अपना समग्र आचरण आश्रित रखता है। वे भारतीय संस्कृति की इस मान्यता के पूर्ण समर्थक थे और इसीलिए वे गुरु-तत्त्व के आध्यात्मिक मूल्य को भली

भाँति समझते थे। छांन्दोग्य उपनिषद् (६ । १४-२) के इस मन्त्र—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" = आचार्य के द्वारा उपदिष्ट पुरुष ही तत्व को जानता है—को वे आध्यात्मिक साधना में बड़ा ही महत्व देते थे। तथ्य यह है कि बिना गुरु की अनुकम्पा के आध्यात्मिक तत्त्वों की ग्रन्थियाँ खुलती ही नहीं। अध्यात्म-मार्ग का पथिक ही जान सकता है कि उस पर चलने से कितनी विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है और इसीलिए अपने लिए इन बाधाओं को दूर करने वाला ही व्यक्ति दूसरे की इस विषय में सहायता कर सकता है। इसलिए कठोपनिषद् का यह अनुभूत सत्य है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। (कठ। २। २६)

तर्क के द्वारा यह मति अर्थात् ब्रह्म-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु के द्वारा प्रोक्त होने पर ही यह सुन्दर ज्ञान उत्पन्न करने का साधन बनती है। श्रीमद्भागवत में इस गुरु-तत्त्व की व्याख्या में 'अकर्णधार वणिक' की बड़ी सुन्दर उपमा दी गई है। गुरु के चरण को छोड़ कर मन को वश में करने वालों को उसी तरह भग्नमनोरथ होना पड़ता है जिस प्रकार समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर यात्रा करने वाले व्यापारियों को विफलमनोरथ होना पड़ता है—

व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं।
वणिज इवाज सन्त्यक्तकर्णधरा जलधौ॥
वेदस्तुति (भाग० १० । ८७ । ३३)

इसीलिए पद-पद आने वाली विपत्तियों से रक्षा करने के लिए तथा सुचिन्तित मार्ग पर लाने के लिए गुरु की महती आवश्यकता होती है। रानडे साहब इस तत्त्व को भलीभाँति मानते थे और यह उनकी विचार-धारा का मुख्य आधार-स्तम्भ माना जा सकता है।

साधना-मार्ग के जागरूक पथिक होने के कारण रानडे साहब ने महाराष्ट्रीय, कर्नाटकीय तथा आर्यावर्तीय सन्तों की वाणियों तथा तथ्यों की जो मीमांसा तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह केवल उनके दार्शनिक पाण्डित्य का ही निदर्शन नहीं है, प्रत्युत साधना-भूमि में उनके उत्थान का पर्याप्त सूचक है। वह हमारे-जैसे अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए सबल संबल है। हमारी तो यह दृढ़ कामना है कि श्री रानडे साहब के प्रत्येक ग्रन्थ का सरल तथा सुबोध अनुवाद हिन्दी में शीघ्र से शीघ्र हो जाय, विशेषतः उनके हिन्दी रहस्यवाद के आलोचक ग्रन्थ का अनुवाद तो अभी हो जाना चाहिए। 'धर्म ही तत्त्वज्ञान का परिणत फल है'—रानडे साहब की इस अभ्रान्त धारणा को हम जितनी जल्दी अपने जीवन का मूल मन्त्र बना लेगें, उतनी ही जल्दी हमारा वास्तव कल्याण होगा।

———

३ ग्रन्थ-समीक्षा

१ हिरकलाइटस

आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने हिरकलाइटस के दर्शन पर एक पुस्तिका प्रकाशित की है। पुस्तिका के पृष्ठों को देखने से पता चलता है कि यह किसी ग्रन्थ का अंश या अवतरण है। पर इसमें जो लिखा है उसको पढ़ने से उक्त भ्रम दूर हो जाता है। तब कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। शायद यह बहुत बड़ी आशा करना है कि यह पुस्तिका एक पूर्ण लेखक और विद्वान् द्वारा प्रणीत 'दर्शन के इतिहास' अथवा दार्शनिकों पर लिखी लेखमाला से ली गई है। कुछ भी हो ऐसे कृती द्वारा ऐसी कृति अमूल्य होगी। कारण, आचार्य रानडे को प्रसादमयी तथा विशद गम्भीर शैली का विरला वरदान भूयिष्ठ मात्रा में लब्ध है। पर इससे भी अधिक उनमें एक गुण और है। वे भाषा-विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र—जैसे दुरूह, कठिन, नीरस और आकर्षण-हीन विषयों में मनोरम अभिरुचि उत्पन्न करा सकते हैं। वे देदीप्यमान स्पष्टता, विशदता और अभिव्यक्ति के आकर्षण को पूर्ण शैली में जिस ढङ्ग से समन्वित करते हैं वह ग्रीक तथा फ्रेंच भाषा-भाषियों में ही दृष्टिगत होती है और अंग्रेजी में कदाचित् ही पाई जाती है। प्रस्तुत पुस्तिका के १७ पृष्ठों में ही उन्होंने इफीसिया निवासी प्राचीन सूत्रकार (हिरकलाइटस) के विचारों को ऐसे स्पष्ट तथा पर्याप्त ढङ्ग से प्रस्तुत किया है कि हम पाठकगण मुग्ध, बुद्ध तथा सन्तुष्ट हो जाते हैं।

श्री अरविन्द आश्रम
पाण्डेचेरी

श्री अरविन्द

२. A Constructive Survey of Upanishdic Philosophy.

अथवा उपनिषद के दर्शन की विधायक समालोचना, प्रकाशक ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, पूना, पृ० ४३८, मू० १५ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ को श्री रा० द० रानडे एम० ए० ने लिखा है और ओरिएन्टल बुक एजेन्सी ने प्रकाशित किया है। महाराष्ट्र में प्रोफेसर पद इतना सस्ता हो गया है कि उसकी ज्वलन्त यथार्थता श्री रानडे--जैसे इने-गिने विद्वानों के प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों की प्रसिद्धि से ही बीच-बीच में प्रकट हो जाती है। यह ग्रन्थ प्रस्तुत लेखक के बारह वर्ष से भी अधिक समय के परिश्रम का फल है। 'भारतीय दर्शन का इतिहास' इस माला में "भारतीय दर्शन का उत्पत्ति-काल" और "ईश्वर का मार्ग" को उनके प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ रखा जाए तो प्रस्थानत्रयी बन जाती है।

पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृतियों का परिचय होने से आपस में लेन-देन हो रहा है। प्रत्येक संस्कृति का मूल भाग उसका दर्शन है। भारत तो दर्शन का आगार ही है। संस्कृति के अनेक अंगों के साथ तत्त्वज्ञान पर भी विचार-विनिमय हो रहा है। सर्व-प्रथम रवीन्द्र जी ने आध्यात्मिक काव्य द्वारा पश्चिम में अध्यात्म के प्रति उत्सुकता जागृत की। उसी अध्यात्म को बौद्धिक बनाने का कार्य बौद्धिक महाराष्ट्र पर पड़ा। लोकमान्य ने गीतारहस्य लिखकर आर्यों के अध्यात्म-प्रधान नैतिक जीवन का परिचय पश्चिम को कराया। जो आधुनिक ऐतिहासिक तथा नीरक्षीरविवेकी दृष्टि की प्रणाली गीतारहस्य में है उसी प्रणाली का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ में है। पाश्चात्य दर्शन का गम्भीर अध्ययन करके उन्हीं की प्रणाली और परिभाषा में उपनिषद के दर्शन को चित्रित करने वाला लेखक सफल हो सकता है। प्रो० रानडे जैसे तात्विक कारीगर ने उपनिषद रूपी खान से इधर-उधर बिखरे तत्व-रूपी रत्नों और मोतियों से पाश्चात्य लोगों की आँखों को चकाचौंध कर दिया। यह महाराष्ट्र के लिए जितनी गर्व की बात है उतनी ही हिन्दुस्तान की सीमा को पार करके उनकी कीर्ति संसार में फैलेगी। हिमालय के ऊँचे शिखरों पर चढ़ने का जो उत्साह पाश्चात्य लोगों में है वह यदि अध्यात्म-रूपी हिमालय की ओर आकर्षित किया जा सके तो दोनों ही संस्कृतियों के लिए वह हित-कारक होगा।

अब तक डायसन का ग्रन्थ ही उपनिषद् पर मुख्य माना जाता था। एक पाश्चात्य दार्शनिक यदि भारतीय दर्शन से परिचित हो सकता है तो यह प्रशंसा की बात है। फिर भी उनके ग्रन्थ के प्रति अनादर न होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन को भारतीय ही स्पष्ट करें तो उसमें अधिक आनन्द आता है। ये दोनों ग्रन्थ साथ-साथ रखे जाएँ तो कह सकते हैं कि डायसन अवश्य पिछड़ गए हैं। इसका एक कारण यह भी है कि पाश्चात्य दर्शन में पिछले पचास सालों में जो दार्शनिक प्रगति हुई है उसके अध्ययन के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा गया है। और अद्वैत की अनुभूति के

उच्च स्थान से लिखी गई यह क्रमबद्ध पुस्तक परस्पर विरोधी बातों का नाश करके समुचित दर्शन तैयार करती है। इसमें लेखक की कुशलता ही नहीं अपितु कुशाग्र बुद्धि भी स्पष्ट होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ जिस तरह पाश्चात्य विचारकों को प्रेरणा देगा उसी तरह पूर्वी शास्त्री और पंडितों के लिए प्रक्षोभक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का कार्य दुहरा है। लेखक जिस तरह पश्चिमी विचारकों के सामने भारतीय दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता है उसी तरह पुराने शास्त्री पंडितों से वाग्युद्ध करना चाहता है। उपनिषद् के सब कथनों को एक समान समझकर शाब्दिक कसरत अथवा व्याकरण द्वारा उसका अर्थ निकाल कर उसका समन्वय किया जाता था। उसी तरह अपने को जो वचन ग्रहण करने हों उन्हीं को मुख्य समझकर बाकी सब अर्थवाद माना जाता था। इसके विरुद्ध उपनिषद में कई दर्शन हैं और उन सबको एक ही रीति से नापा नहीं जा सकता, यह लेखक ने यहाँ दिखाया है। ये दर्शन एक ही सत्य को जानने के न्यूनाधिक सफल प्रयत्न, अथवा मनुष्य की अन्तःस्फूर्ति के कम या अधिक मात्रा में सफल हुए तरंग अथवा मनरूपी पक्षी की उड़ाने या ऋषियों के मन रूपी 'शून्य' पर पड़े प्रतिबिम्ब हैं। उपनिषद का अन्तिम सत्य आत्मानुभूति है तथा अन्य दर्शन गौण हैं। इस गौण दर्शन में से ही मुख्य दर्शन का कैसे विकास हुआ यह लेखक को इस ग्रन्थ में दिखाना था। अतः प्रत्येक भाग में उदाहरणों का इस तरह क्रम रखा है कि प्रत्येक भाग का अन्त अद्वैत में ही होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में उपनिषदों का रचना-क्रम, दर्शन की अनेक प्रणालियाँ और अनेक दार्शनिक ऋषियों के बारे में लेख हैं। दूसरे अध्याय में प्राकृतिक और पौरुषेय उत्पत्ति प्रक्रिया दी है। तीसरे अध्याय में मनोवैज्ञानिक विचार एकत्र किए गए हैं। चौथे अध्याय में उपनिषद सब दर्शनों का उद्गम किस तरह से हैं, यह दिखाया गया है। छठे अध्याय में नैतिक ध्येय की अनेक प्रणालियाँ दी हैं और उपनिषद प्रवृत्ति-मार्ग के सहायक हैं यह निष्कर्ष निकाला गया है। सातवें अध्याय में आत्मानुभूति का मार्ग वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को विधायक समालोचना के नाम से सम्बोधित किया गया है। अपने निजी अनुकूल अथवा प्रतिकूल विचारों से समालोचना को अलिप्त रखने के हेतु उपनिषद के उदाहरण दिये गए हैं और स्वतंत्र ग्रन्थ रचना की गई है। परन्तु इस कुशलता से रचना की है कि पाठक को लेखक के उपनिषद के विषय में क्या विचार हैं, यह संदेह नहीं रहता। इसलिए जिस तरह पत्तियों के पीछे कली, आम्रवृक्ष में कोकिला का कूजन, दरवाजे के पीछे बालक का मुख, मेघों के पीछे संध्या का तारा, अथवा क्षितिज पर सूर्य हो, उसी तरह इन तीन सौ पृष्ठों के ग्रन्थ के पीछे लेखक की आत्मानुभूति का विधायक

दर्शन झाँकता है और यह निर्देश करता है कि ध्वनि और सूक्ष्मता जैसे लौकिक काव्य का प्रधान गुण है उसी तरह ईश्वरी काव्य का भी है।

श्री रानडे की शैली ओजपूर्ण है और भाषा पर उनका प्रभुत्व भी है। उपनिषद पहले ही काव्यमय हैं, उसमें पाश्चात्य उदाहरणों को भी चतुराई से जोड़ा गया है। बीच-बीच में तुलनात्मक दर्शन रूपी मन्द समीर मन को प्रसन्न कर जाता है। पहले ही उपनिषद अमृततुल्य हैं और वह सुवर्ण के बर्तन में प्रस्तुत किया गया है इसलिए बहुत ही रसयुक्त हो गया है। पुस्तक का बाहरी भाग स्वदेशी है और उसकी छपाई पाश्चात्य छपाई से होड़ लगा सकती है।

(निम्बल आश्रम के सौजन्य से)

अनुवादकर्त्री—

सरोजनी ओक एम० ए०, प्रयाग।

३ मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र

प्रकाशक आर्यभूषण प्रेस आफिस, शनिवार पेठ, पूना, १६३३, पृ० ४८×४६६ मूल्य साधारण संस्करण १०), पुस्तकालय संस्करण १५)।

१

जो डा० रानडे की विद्वत्ता, पूर्ण प्रमेयबहुलता तथा शैली की सरलता से परचित हैं वे प्रस्तुत ग्रन्थ से ठीक ही बड़ी आशाएँ करते हैं। ग्रन्थ के अध्ययन से ये सभी आशाए तों तृप्त ही होती हैं, साथ ही कुछ और भी प्राप्त होता है। विषय की नवीनता, महाराष्ट्र का रहस्यवाद (भक्तिवाद), प्रमुख चित्ताकर्षक है। इससे जो रुचि उत्पन्न हो जाती है, वह अभिव्यक्ति की पूर्णता और दर्शन-प्रवणता द्वारा आद्योपान्त बनी रहती है।

रहस्यवाद के विभिन्न कालों को क्रमशः बौद्धिक, प्रजातान्त्रिक, समन्वयात्मक सगुणब्रह्मपरक तथा कर्मठ (कर्मपरायण) नाम दिया गया है। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति (किसी चीज की प्रधानता के कारण तत्सम्बन्धी उसका नामकरण किया जाता है) के अनुसार उक्त शब्द काल-विशेष में किसी न किसी विशेष रहस्यवादी अनुभव की प्रधानता व्यक्त करते हैं। वैसे रहस्यवादी अनुभव का कोई पहलू कभी विछिन्न नहीं था। प्रो० रानडे अलंकृत शैली का प्रयोग नहीं करते। किन्तु जिन भक्तों का वर्णन वे करते हैं, उनके साथ वे हमारा तादात्म्य अपनी सरल शैली द्वारा स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार नामदेव के समकालीनों पर जो अध्याय लिखा गया है वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक और उत्कृष्ट है। यहाँ हमें नामदेव लुटेरे, गोरा कुम्हार, विसोबा खेचर सामन्ता माली, नरहरि सोनार, चोखामेला अछूत, जनाबाई नौकरानी, सेना नाई और काण्होपात्रा नर्तकी की शिक्षाओं का विहंगमावलोकन कराया गया है। नामदेव लुटेरे ने एक स्त्री की आँसुओं को देखकर पश्चात्ताप किया जो उसकी लूटमार के कारण विधवा हो गई थी। गोरा कुम्हार ने ईश्वरोन्मत्त नृत्य में अपने पैरों के नीचे मिट्टी में अपने ही बच्चे को कुचल डाला। विसोबा खेचर ने अपने पैर को शिवलिंग के ऊपर रख दिया क्योंकि ऐसा स्थान उसे मिल ही नहीं सकता जहाँ ईश्वर न हो। सामन्ता माली ने अपने लगाए हुए पौधों में ईश्वर को देखा। नरहरि सोनार ने अपनी आत्मा को सोना और शरीर को पिघलाने का बर्तन बनाया, तीन गुणों की प्रकृति पर ईश्वर-रस गिराया और हथौड़ी लेकर क्रोध तथा वासना को चूर-चूर कर डाला। चोखामेला अछूत कुछ लोगों के साथ दिवाल गिर जाने से नष्ट हो गया पर तमाम ढेर से उसकी हड्डियाँ ढूढ़ ली गईं क्योंकि वे सभी 'विट्ठल विट्ठल' पुकार रही थीं। जनाबाई नौकरानी ने ईश्वर को

इस प्रकार प्राप्त कर लिया था कि वह उसके साथ चक्की में आटा पीसता था। सेना नाई विवेक के दर्पण और वैराग्य की कैंची से आध्यात्मिक हजामत में इतना तल्लीन था कि वह राजा की हजामत बनाना भूल गया। कान्होपात्रा नर्तकी पंढरपुर के भगवान को छोड़कर किसी से विवाह न कर सकी; निदान बीदर के राजा को उसका केवल मृत शरीर मिला।

इससे सुन्दर दिव्यमाला क्या हो सकती है? मानवों में जो हेय है उसको निम्न करने और जो श्रेष्ठ गुण है उसकी उन्नति करने के लिए प्रस्तुत सन्तमाला से अधिक प्रभावकारी क्या हो सकता है? आध्यात्मिकता धनिकों की बपौती नहीं है। प्रो० रानडे ने इन विभूतियों को अपनी उस अनलंकृत शैली से सजीव बना दिया है जो वस्तुतः बहुत बड़ा अलंकार है, कला है।

यदि लेखक के प्रख्यात पांडित्य के बावजूद भी प्रस्तुत कृति में कुछ कमियाँ रह गयीं हैं तो वे विषय के परिमाण और नवीनता की दृष्टि से नगण्य हैं। फिर भी समालोचक के नाते उनकी ओर संकेत करना हमारा कर्त्तव्य है।

(१) ज्ञानेश्वर का भक्तिवाद यौक्तिक ज्ञान हो गया था—यह कहना कठिन है। अद्वैत दर्शन की अभिव्यक्ति इसमें नहीं है यद्यपि वह इसका आधार कहा गया है। उदाहरणार्थ ज्ञानेश्वरी में बताया गया है कि क्रममुक्ति द्वारा आत्मा परमात्मा से मिलती है। अमृतानुभव में ऐसा सिद्धान्त नहीं मिलता। कहीं यह बताया नहीं गया है कि कैसे अद्वैतवाद और क्रममुक्ति में सामंजस्य है। प्रो० रानडे ने इस दृष्टि का बहुत विचार किया है। पर जहाँ तक ज्ञात है, वह सब निष्फल है क्योंकि उक्त दोनों सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय नहीं हो सकता।

(२) पाश्चात्य रहस्यवादियों से जो तुलना की गई है वह शिक्षाप्रद है। पर कहीं-कहीं समानताएँ बलात् ढूँढ़ी गई हैं। प्रो० रानडे ने पाश्चात्य रहस्यवाद का बिलकुल यथार्थ वर्णन किया है। पर इससे और महान् आश्चर्य होता है कि उन्हें अपने कथनों में ही बाध नहीं दीख पड़ता है। सत्य यह प्रतीत होता है कि प्राच्य और पाश्चात्य रहस्यवाद अनुभव के विभिन्न पक्षों पर बल देते हैं यद्यपि अनुभव मानवमात्र के लिए मूलतः एक ही है। अतः दोनों में उल्लेखयोग्य समानान्तरवाद है, न कि अभिन्नतायें।

(३) कालों का पृथक्करण सन्दिग्ध है। प्रजातान्त्रिक रहस्यवाद और तथाकथित समन्वयात्मक रहस्यवाद का इस तरह भेद समझना कठिन है। यदि लेखक कालों के पृथक्करण की सूक्ष्मताओं का निरूपण किये होता तो निःसन्देह उसकी कृति का मूल्य और बढ़ जाता।

पर यह कृति निःसन्देह अनुपम और सराहनीय है और इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मद्रास विश्वविद्यालय — एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री

२

प्रस्तुत कृति में प्रो० रानडे ने जिन रहस्यवादियों का वर्णन किया है उनमें ज्ञानेश्वर सर्वश्रेष्ठ हैं। यद्यपि ये अपने यहाँ सर्वश्रेष्ठ हैं किन्तु पश्चिम में इनके बारे में किसी को कुछ भी नहीं ज्ञात है। प्रो० रानडे कहते हैं "ज्ञानेश्वर ज्ञानयोगी (Intellectual mystic) हैं; नामदेव प्रजातन्त्र-युग के अग्रणी हैं; एकनाथ ने सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के श्रेयों का समन्वय किया; तुकाराम का भक्तियोग बहुत अधिक सगुणेश्वरमय है; और रामदास कर्मयोगी सन्त हैं।" इन रहस्यवादियों के जीवन-वृत्त, आध्यात्मिक अनुभूतियों और शिक्षाओं का प्रो० रानडे ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि और विद्वत्ता से वर्णन तथा विश्लेषण किया है। यह एक विश्व-कोष है जिसका संक्षेप करना कठिन है। भारतीय रहस्यवाद के जितने इतिहास हमने पढ़े हैं उनमें यह सबसे अधिक सुबोध, दिलचस्प और महत्वपूर्ण है। अतः भारतीय रहस्यवाद के प्रत्येक विद्यार्थी को इसे पढ़ना चाहिए।

एक हिन्दू विद्वान् ने पश्चिम की भाषा अंगरेजी में पश्चिमी विचार की भूमिका में अपनी निधियों को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है, इसलिए यह कृति और महत्वपूर्ण है।

यहीं पश्चिमी पाठक को समालोचना करने का अवसर भी मिलेगा। उसे यह पढ़कर उत्साह नहीं मिलता कि "डीन इंज जैसे लोग स्ववचन-विरोध करते हैं (पृ० १), या बेरन फन ह्यूगल गलत है (पृ० ३); क्योंकि वह अपने को उन लोगों के स्थान पर रख लेता है। पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवादियों में जो समतायें की गई हैं, उनमें जल्दबाजी बरती गई है। उदाहरणार्थ, तुकाराम डाइओनिसिअस-मतावलम्बी की भाँति बिलकुल नहीं हैं, पर प्रो० रानडे ने तुकाराम को डाइओनिसिअस के मतानुयायी की भाँति माना है। रामदास की तुलना पाइथागोरस, इग्नेशिअस लोयोला और रुयसब्रोक से की गई है। यह वैसे ही जैसे कोई महात्मा गान्धी की तुलना टालस्टाय, मुसोलिनी और विन्स्टन चर्चिल से करे। रामदास राजनैतिक, कर्मठ और प्रान्त-भक्त थे। प्रिय वृद्ध रुयसब्रोक अपनी सब्जी उगाते थे और ग्रोइनेण्डेल के एकान्त बन में अपना विश्वजनीन स्वप्न देखा करते थे। दोनों में पूर्ण वैषम्य है। आगे चलकर प्रो० रानडे ने ज्ञानेश्वर के साथ रुयसब्रोक की तुलना की है। वह अधिक प्रशस्त है।

आत्मा की अमा (Dark Night of the soul) का वर्णन करते समय प्रो० रानडे ने भयंकर भूलें की हैं। उन्होंने क्रास के सन्त जान की अमा को अज्ञान का बादल (The Cloud of Unknowing) समझ लिया है। यही नहीं; इसको उन्होंने दुर्भाग्य का शारीरिक, नैतिक और मानसिक प्रहार समझ लिया है। सन्त जान की अमा वैराग्य की एक अवस्था है, विशुद्ध मनन की ओर आत्मा की प्रगति का एक सोपान है, जिससे पहले इन्द्रियाँ और बाद में स्वयं आत्मा शुद्ध होती है। 'अज्ञान का बादल'

प्लाटिनस और डाइओनिसिअस-पंथियों के अनुसार प्रतिषेधक ईश्वरवाद का तत्व-दार्शनिक प्रत्यय है अर्थात् 'अज्ञान का बादल' यह विश्वास है कि जो कुछ भी कहा जा सकता है, ईश्वर उसके परे है और उसे न जान कर ही हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। और रहस्यवादी रुग्णमनस्कता (Mystical sickmindedness) sluggish liver से accidia तक कुछ भी हो सकता है। 'आत्मा की अमा' का प्रयोग समकालीन धार्मिक साहित्य में जिस अर्थ में प्रायेण किया जा रहा है वह इसका मूलतः विवक्षित अर्थ नहीं है। रहस्यवाद की शास्त्रीय मीमांसा करने वाले ग्रन्थ में इसका कुप्रयोग ठीक नहीं है। प्रो० रानडे का कहना है कि तुकाराम, नामदेव और रामदास सभी ने 'आत्मा की अमा' का अनुभव किया था। किन्तु प्रश्न है कि किस अर्थ में उन्होंने किया ?

रहस्यवादियों के काम—प्रतीक के प्रयोग का प्रो० रानडे ने सराहनीय व्याख्यान किया है। यह योरोप में भारत से अधिक प्रचलित है। किन्तु प्रो० रानडे ने भजनों के भजन (Song of Songs) के प्रभाव को अपने प्रस्तुत व्याख्यान में पर्याप्त महत्व नहीं दिया है। पश्चिमी रहस्यवादियों के लिए प्रायः काम-प्रतीक रूढ़िमात्र है। इसका काम-वासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भजनों के भजन से लिया गया है।

सहायक ग्रन्थों की सूची, रुचि और तथ्य की भूलों के अतिरिक्त केवल विनोदियों की लिखी पुस्तकों का समावेश करती है। इसमें उत्तम पुस्तकें छूट गयीं हैं और फ्लेमिंग की ईसाइयत का रहस्यवाद (Mysticism in Christianity) जैसी अनधिकारी पल्लवग्राही पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की गयी है कि यह अपने विषय की एक उत्तम पुस्तक है। हमें बताया जाता है कि ह्यूगल ने अपनी बड़ी कृति The Mystical Element of Religion, द्वारा जिनोआ की संत कैथेराइन का सम्मान किया था। मैं नहीं जानता कि ह्यूगल इसके प्रति क्या कहता। फिर थोड़ा बाद कहा जाता है कि जान केवल को "यह सम्मान मिला कि उसके ऊपर लार्ड इरविन ने एक पुस्तक लिखी"। जरा इसको सोचिए। अगर लार्ड इरविन जीवित होते तो लेखक को जरूर दावत देते। मनोवैज्ञानिक अनुशीलनों का विवेचन सुन्दर है। हांलाकि सेल्बी की पुस्तक " Psychology of Religion " अधिक प्रशंसित है। यद्यपि ल्यूबा, रेसजक और डेलको का उल्लेख है किन्तु मरेचल का सन्दर्भ नहीं है। यह लेखक बड़े महत्व का है। मरेचल और ओटो की नवीन पुस्तक " Mysticism, East and West के आधार पर आमुख का संशोधन-परिवर्द्धन पुस्तक के महत्व को बढ़ा देता।

पादटिप्पणियों के उपयोग से भी पुस्तक का मूल्य बढ़ सकता था। इसके लिए लिखित साक्ष्य की आवश्यकता थी। उदाहरणार्थ ईसाई मत के भक्ति पर पड़े प्रभाव का बड़ा ही अस्पष्ट वर्णन है। हिन्दू लेखक क्यों रहस्यवाद और धर्म में भी

स्वदेशी घुसेड़ देते हैं ? ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न को एक अनुच्छेद में लिखकर समाप्त कर दिया जाता है। कम-से-कम प्रस्तुत विषय पर समस्त प्राप्त साहित्य का सन्दर्भ तो होना चाहिए ।

कुछ अनोखी अभिव्यक्तियों को छोड़ कर पुस्तक की भाषा और शैली अच्छी है। यह अच्छा हुआ कि डा० एबट कृत मराठी सन्तों की बानियों के अंगरेजी अनुवाद लेखक को अपने ग्रन्थ लिख लेने के बाद मिले। डा० एबट का अनुवाद निकृष्ट है। इसके विपरीत प्रो० रानडे के अनुवाद उत्तम हैं और उनकी पुस्तक के सर्वोत्तम अंश हैं।

मैं आशा करता हूं कि मैंने यहाँ जो आलोचना उनकी हृदय से लिखी पुस्तक पर की है, उसको वे क्षमा करेंगे। पुस्तक को लिखने में बड़े धैर्य और शक्ति का उपयोग हुआ है। यह रहस्यवाद के सभी विद्वानों के लिए तुलनात्मक अनुशीलन का नया क्षेत्र प्रदान करती है। अपनी आलोचनाओं के बावजूद मैं इसके अध्ययन की दरख्वास्त करता हूँ, विशेषतः पाश्चात्य पाठकों से।

पूना वेरिअर इल्विन

———

३

प्रस्तुत ग्रन्थ रहस्यवाद का है जिसे आज प्रायः ठीक से समझने की कोशिश नहीं की जाती। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि रहस्यवाद की सरलता पारदर्शनात्मक होते हुए भी रहस्यवाद पर 'रहस्य' का अन्धकार छा गया है। कभी-कभी इसे Occultism से अभिन्न या मिलता-जुलता समझा जाता है। पर वास्तव में रहस्यवाद के विषय में कुछ भी Occult नहीं है। यह एक खुली पुस्तक है जिसे कोई भी पढ़ सकता है; हाँ, इसके पाठक को इसको पढ़ने की योग्यता प्राप्त करने के लिए कुछ कठिन साधना करनी पड़ेगी। अतः यह बहुत अच्छा है कि आलोच्य ग्रन्थ का पहला वाक्य ही रहस्यवाद को स्पष्ट कर देता है— "रहस्यवाद मन की उस अभिवृत्ति का द्योतक है जिसमें ईश्वर का साक्षात्, अपरोक्ष और प्रातिभ दर्शन होता है। इसी को वेदान्त की भाषा में अपरोक्षानुभूति कहते हैं।"

आमुख के ३५ पृष्ठों में महाराष्ट्र के सन्तों के रहस्यवाद तथा पश्चिमी रहस्यवाद का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बड़े-बड़े मनीषी एक तरह ही सोचते हैं। यह जानकर प्रसन्नता होती है कि ग्रीस तथा रोम, जर्मनी तथा फ्रांस और भारत की विभिन्न भाषाओं में एक प्रकार के ही प्रत्ययों की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए हम आदर्श सन्त का वर्णन लेंगे। प्लोटिनस

कहता है कि जिसमें आन्तरिक भेद न हो और जो किसी बाहरी वस्तु से भी भिन्न न हो, वही आदर्श सन्त है। ज्ञानेश्वर का मत है कि आदर्श सन्त का मन उसकी आत्मा से अभेद प्राप्त करता है और ईश्वर में अपने अस्तित्व का लय करके आनन्दलोक को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों, नाम-महत्व, अतीन्द्रिय अनुभव, धार्मिक जागरूकता (चेतनता), और रहस्यवाद के बौद्धिक, सांवेगिक, नैतिक तथा प्रातिभ पहलुओं पर पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनों में पर्याप्त समानता है। इस तुलनात्मक अनुशीलन से रहस्यात्मक अनुभूति की पूर्ण सत्यता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यदि उनमें कुछ गलती होती तो रहस्यविदों में जो मतैक्य हम यहाँ देख रहे हैं, वह हो न पाता।

इस तरह यह ग्रन्थ अपूर्व महत्व का है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि रहस्यवाद का जितना स्पष्ट व्याख्यान हो सकता है, उतना यहाँ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ को मनोयोग से पढ़ने पर कोई भी सन्देह नहीं कर सकता कि रहस्यवाद क्या है, महाराष्ट्र का रहस्यवाद क्या है और वह किस प्रकार महाराष्ट्र के सन्तों की शिक्षा से लाभ उठावे।

ग्रन्थ भर में मूल उद्धरणों को यथावकाश प्रस्तुत किया गया है। विद्वान लेखक द्वारा इसका इतना सुन्दर उपयोग किया गया है कि कहीं भी लेखक ने अपना मत पुराने आचार्यों पर लादने की चेष्टा नहीं की है। आजकल लेखक प्रायः अपने मतों को पुराने लेखकों पर लादते हैं। मूल उद्धरणों को देने और उनकी उपयुक्त व्याख्या करने से लेखक इस दोष से सर्वथा रहित है।

गंगानाथ झा
भूतपूर्व उपकुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

—:o:—

४ परमार्थ-सोपान के मूल तथा भाष्य पर

१—परमार्थ-सोपान तथा

२—पाथवे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर।

अनेक महत्त्वपूर्ण परम्पराओं की तरह भारतीय रहस्यवाद की परम्परा भी चिर-पुरातन एवं अत्युच्च कोटि की है। हम रहस्यवाद के मूलतत्व वेदों में पाते हैं। संस्कृत के अतिरिक्त भी मानव की लगभग सभी क्षेत्रीय भाषाओं को साहित्य में रहस्यवादी विचारधारा साधु-सन्तों के गीतों तथा पदों के रूप में स्पष्ट मिलती है। हमारे जन-साहित्य में रहस्यवाद की प्रचुरता है, परन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक पदावली के अनुसार इसके संयत व्याख्यान का अभाव है। यह भी संभव है कि तामिल, कन्नड, मराठी तथा हिन्दी के रहस्यवादियों की अपेक्षा हममें में से कुछ लोग ईसाई तथा सूफी रहस्यवादियों अथवा स्पेनिश तथा जर्मन रहस्यवादियों के विषय में अधिक जानते हों।

यह परम शुभ का संकेत है कि प्रो० रा० द० रानडे (भूतपूर्व उपकुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय) सदृश विद्वान ने 'परमार्थ सोपान तथा हिन्दी साहित्य में ईश्वर का मार्ग (Pathway to God) नाम से दो सहविषयी पुस्तकों का सृजन किया है। ये पुस्तकें अध्यात्म विद्यामन्दिर, निम्बल (रेलवे स्टेशन) से प्रकाशित हुई हैं। प्रोफेसर रानडे उपनिषदों के ऊपर (A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy) नामक आलोचनात्मक तथा सुगठित खोजपूर्ण दर्शन ग्रन्थ के रचयिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय रहस्यवाद का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। 'महाराष्ट्र के रहस्यवाद' नामक आपकी पुस्तक से विद्वज्जन सुपरिचित हैं। आप इन पुस्तकों की रचना के बाद कन्नड साहित्य के रहस्यवाद पर पुस्तक लिखने में व्यस्त थे।

आज हिन्दी भारत की लगभग आधी जनता की भाषा है। यही हमारी राष्ट्र-भाषा भी निर्णीत हो चुकी है और अब तो अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिए भी हिन्दी भाषा ही उपयुक्त समझी गई है। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य की महानताओं का बोध हमारे शिक्षितवर्ग को हो तथा वे उनकी विशेषताओं को समझें। यही कारण है कि प्रोफेसर रानडे ने हिन्दी की अपेक्षा अँग्रेजी में लिखना उपयुक्त समझा। आजकल जागृत मस्तिष्क के शिक्षित वर्ग तक पहुँचने का यही माध्यम है। हिन्दी के सन्त कवियों के गूढ़ रहस्यवादी विचारों को इतनी सरल एवं सहज ग्राह्य भाषा में प्रस्तुत

करके प्रोफेसर रानडे ने हिन्दी को अपना चिरऋणी बना लिया है। उन्होंने हिन्दी से अनजान और अँग्रेजी जानने वाले व्यक्तियों को उन गहन धार्मिक विचारों से परचित कराने का प्रयास किया है जिनसे भारतीय मस्तिष्क सुपरिचित हैं और जिन्हें भारत की अनेक जनभाषाओं में सन्तों तथा दार्शनिकों ने अभिव्यंजित किया है।

प्रोफेसर रानडे ने कबीर, नानक, तुलसी, सूरदास, मीरा आदि हिन्दी के गण्य-मान्य पच्चीस रहस्यवादी कवियों तथा कुछ अज्ञात रहस्यवादियों के लगभग दो सौ गीतों और पदों को चुना है। उनको उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक, नैतिक विकास की आवश्यकता, प्रभु का अपने भक्तों से सम्बन्ध, परमार्थ की यात्रा पर प्रथम चरण तथा सर्वोच्च आरोह, इन पाँच विषयों में विभक्त किया है। आधुनिक विद्वान अपनी रहस्यवाद सम्बन्धी पुस्तकों में इन्हीं विषयों की विवेचना करते हैं। प्रो० रानडे ने परमार्थ सोपान (मूल) में पहले तो प्रत्येक गीत का सरल हिन्दी अनुवाद दिया है और फिर उन पर विस्तृत आलोचनात्मक टिप्पणियां अंगरेजी में दी है।

इस पुस्तक की विषय-सामग्री परमार्थ-सोपान के भाष्य का स्रोत है। भाष्य अंगरेजी में है। इसमें उन्होंने रहस्यवाद की सम्पूर्ण व्याख्या की है और उसका तात्पर्य समझाया है। उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा अनुभूति से, उनके वृहत् ज्ञान एवं पाण्डित्य से, तथा अन्य भारतीय भाषाओं के रहस्यवाद के उनके ज्ञान भंडार से हिन्दी रहस्यवाद चमत्कृत हो उठा है। इस प्रकार वे हिन्दी साहित्य में वर्णित रहस्यवाद के सार को हमारे सम्मुख अनेक उदाहरणों, उनकी पारस्परिक तुलना तथा उनकी विशद व्याख्या द्वारा प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं।

रहस्यवाद का तात्पर्य समझाते हुए लेखक ने बताया है कि रहस्यवाद मन की उस वृत्ति का सूचक है जिसमें ईश्वर का साक्षात् तथा अव्यवहित दर्शन होता है। यह परमात्मा के स्वरूप का आनन्दपूर्ण चिन्तन है। रहस्यवाद की सच्ची कसौटी स्वयं साधक द्वारा आस्वादित अनुभवों की वास्तविकता ही है। इसके सामने किसी की सुनवाई नहीं है, इसके अतिरिक्त इसकी कोई और कसौटी भी नहीं है।

लेखक ने रहस्यवादी कवियों को उनकी विशेषताओं के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने बताया है कि नाथ-पथिंयों ने अन्य सभी रहस्यवादियों से अधिक योग को महत्व दिया। कबीर-पथिंयों ने भक्ति तथा नैतिक आचरण को अधिक आवश्यक माना है। लेखक के अनुसार मन्सूर अद्वैतवादी दार्शनिक हैं तो रहीम एक नीतिज्ञ कवि हैं। प्रो० रानडे ने रहस्यवाद में इन विभिन्न संतों के योगदानों का मूल्यांकन करते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं को तुलनात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है तथा आवश्यकतानुसार मराठी, कन्नड और संस्कृत के उद्धरण देकर इस पुस्तक की समृद्धि को बढ़ा दिया है।

पाश्चात्य दर्शन के पण्डित तथा ग्रीक दर्शन के विद्यार्थी होने के कारण लेखक सम्पूर्ण रहस्यवाद तथा दर्शन में निष्णात हैं। वास्तव में उन्होंने हिन्दी रहस्यवाद को समस्त संसार के रहस्यवाद के संदर्भ में रखा है। इस प्रकार इन पुस्तकों के पाठक को विषय-सामग्री की विशदता तथा उसकी अभिव्यक्ति की गहनता का दोहरा लाभ मिलेगा। इस समीक्षा को सन्त दादू के इन वचनों के साथ समाप्त करना मैं उचित समझता हूँ—

"यहु रस मीठा जिन पिया, सो रस ही रहा समाय।
मीठे मीठा मिल रहा, दादू अनत न जाई ॥"

आर० आर० दिवाकर
भूतपूर्व राज्यपाल, बिहार।

अनुवादकर्त्री
शशिप्रभा मेहता एम० ए०, जयपुर।

५ परमार्थ सोपान

प्रकाशक अध्यात्मविद्या-मन्दिर, सांगली, निम्बल, इलाहाबाद, सन् १९५४ पृष्ठसंख्या २+१८+१४+१८+२९२+१२०+२४+३२+१०+८=५२८, आकार डिमाइ आक्टैवो, मुल्य ८) ।

परमार्थ सोपान हिन्दी-सन्त साहित्य से चुने हुए १०० पदों और सौ दोहों का संग्रह है । इस में कबीर और रहीम, तुलसीदास और सूरदास के संग, अपितु मंसूर और यारी, रैदास और मीराबाई के साथ अध्यात्म-गीत गाते हैं । कुल २५ कवियों की बानियाँ ली गई हैं जिन में हिन्दू तथा मुसलमान, स्पृश्य तथा अस्पृश्य, स्त्री तथा पुरुष सभी विद्यमान हैं । अधिकांश बानियाँ कबीर, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, चरनदास, रैदास और नानक की हैं । मूल पुस्तक पद और दोहा दो भागों में बँट कर २९२ पृष्ठों में है ।

बायें पृष्ठ पर मूल पद या दोहा दिया हुआ है और दायें पृष्ठ पर उसका सरल भाषा में गद्यानुवाद है जो अच्छी हिन्दी न जानने वालों के लिए विशेष उपयोगी है। प्रत्येक पद या दोहे में जो आध्यात्मिक बात व्यक्त रहती है उस को उस के शीर्षक के रूप में उसके ऊपर ही अंग्रेजी में लिख दिया गया है, जैसे "Philosophical afflatus to spiritual life" यह शीर्षक देकर तुलसीदास का "केशव कहि न जाय का कहिये" यह पद दिया गया है । मूल पाठ और अनुवाद के पश्चात १२० पृष्ठों में टिप्पणी है जिस में मूल के महत्वपूर्ण वाक्यों, पदों और विचारों की अंग्रेजी में व्याख्या की गई है और पाश्चात्य तथा भारतीय अहिन्दी भाषाओं से उन के समानांतर वाक्य उद्धृत किये गये हैं । तदनन्तर प्रसिद्ध मिश्रबन्धु डा० सुखदेव बिहारी मिश्र द्वारा लिखित प्रथम परिशिष्ट के रूप में परमार्थ सोपानस्थ संत कवियों का आलोचनात्मक इतिहास २४ पृष्ठों में दिया हुआ है जो हिन्दी का इतिहास न जानने वालों के लिए परमार्थ-सोपान के कवियों को समझने में सहायक है ।

ग्रन्थ के ठीक पूर्व १८ पृष्ठों में महान् रहस्यवादी-दार्शनिक लेखक ने सामान्य भूमिका (General introduction) अंग्रेजी में दी है । इस के पहले डा० राधाकृष्णन ने परमार्थ सोपान के प्रकाशन-समारोह के अवसर पर जो भाषण दिया था उसका उल्लेख है । फिर इस के पूर्व लेखक ने आमुख दिया है । यहाँ प्रस्तुत संग्रह का आधार दिया हुआ है—आध्यात्मिक अर्थ से संयुक्त विचार-नवीनता ही संग्रह का मुख्य आधार है (आमुख पृष्ठ ३) । विद्वान लेखक ने परमार्थ सोपान का पञ्चधा महत्व युक्तियुक्त दिखलाया है—(१) संगीतज्ञ, भक्त और कलाविद् प्रस्तुत पदों और दोहों

को अपने गायन में लाभदायक पायेंगे। (२) मूल और अनुवाद साथ-साथ रहने से हिन्दी न जानने वाले इस पुस्तक के माध्यम से हिन्दी सरलतापूर्वक सीखेंगे। (३) टिप्पणी विश्वविद्यालयों के छात्रों को उपयोगी सिद्ध होगी। (४ परमार्थ सोपान द्वारा पाठक आलोचनात्मक चिन्तन करेंगे जिसका विकास सन्तों के दर्शन को स्पष्ट करेगा। (५) प्रस्तुत संग्रह को रहस्यवादी लेखक ने अपनी साधना में सहायक पाया है। अन्य लोग भी ऐसा अनुभव कर सकते हैं।

परमार्थ-सोपान एक नया साहित्य-शास्त्र भी प्रदान करता है। इस में भक्ति प्रधान रस है। इसलिए प्रो० रानडे ने परिशिष्ट में वर्तमान साहित्य-शास्त्र की समीक्षा करते हुए परमार्थ सोपान-शास्त्र के रस और भावों तथा अलंकारों की प्रशंसनीय गवेषणा की है (दे० परिशिष्ट २)।

विषय की दृष्टि से परमार्थ सोपान पांच भागों में विभाजित है—१. Incentives to spiritual life (आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक) २. Necessity of moral preparation (नैतिक तय्यारी की आवश्यकता) ३. The relation of God to Saints सन्तों से ईश्वर का संबंध) ४ The beginning of the Pilgrimage—(तीर्थ-यात्रा का आरम्भ) और ५. The highest ascent—(उच्चतम आरोह)। पद और दोहे दोनों का ही विभाजन इन पांच भागों में हुआ है। प्रत्येक भाग में अनेक उप-विभाग हैं जो रहस्यवाद के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। सामान्य भूमिका में लेखक ने इन पांच विभागों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इनका विस्तृत वर्णन परमार्थ सोपान में नहीं है। यह कार्य लेखक ने Pathway to God in Hindi literature नामक अपने अंग्रेजी ग्रन्थ में किया है। Pathway to God के प्रत्येक विषय का मूल परमार्थ सोपान में है। इस प्रकार परमार्थ सोपान "मूल" है और Pathway to God उसका "भाष्य"। विद्वान लेखक ने इस "मूल-भाष्य-प्रणाली" द्वारा महाराष्ट्र रहस्यवाद पर भी परम स्तुत्य कार्य किया है। जिन को लेखक का भाष्य युक्तियुक्त न लगे वे मूल की अन्यथा व्याख्या भी कर सकते हैं। लेखक की व्याख्या हिन्दी में न होकर अंग्रेजी में है, इसका मुझे खेद है। यदि मूल तथा भाष्य विशुद्ध हिन्दी में होते तो हिन्दी-साहित्य के दर्शन-जगत् में दोनों का स्थान आज सर्व-श्रेष्ठ होता। इस समय हिन्दी दर्शन की सब से प्रधान आवश्यकता है कि Pathway to God का हिन्दी-रूपान्तर किया जाय।

"नैतिक तैयारी की आवश्यकता" के अध्याय के प्रसंग में लेखक ने अत्यन्त सारगर्भित तथ्य की घोषणा की है कि हिन्दी-सन्तों द्वारा विश्व के नीति-दर्शन में किये गये योगदान की तुलना प्लेटो, एरिस्टाटिल, सिजविक और ग्रीन के नीति-दर्शनों से सम्यक रूप से की जा सकती है (सामान्य भूमिका पृष्ठ ५)। हिन्दी के सन्त-साहित्य में नीतिशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना हुई है। अभी तक इस साहित्य का

नैतिक अध्ययन नहीं किया गया है। खेद का विषय है कि हम पाश्चात्य नीतिशास्त्र को तो बहुत मार्मिक दृष्टि से पढ़ते हैं और अपने नीतिशास्त्र की उपेक्षा करते हैं।

रहस्यवाद और आत्मा तथा ईश्वर विषयक तत्त्व-दर्शन (Metaphysics) में प्रो० रानडे ने हिन्दी-सन्तों को पाश्चात्य तत्वदार्शनिकों की कोटि में रखकर सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी में भी अपना अनोखा तत्व-दर्शन है। कबीर और तुलसी का स्थान तत्व-दर्शन में पाश्चात्य दार्शनिकों प्लेटो, प्लाटिनस, स्पीनोजा आदि से कम मूल्यवान् नहीं है।

भारत का सन्त-साहित्य हिन्दी में ही नहीं वरन् अन्य वर्तमान भारतीय भाषाओं में भी है। हिन्दी, मराठी तथा कन्नड के इस साहित्य पर भाष्य प्रो० रानडे ने ही किया है। यह साहित्य वर्तमान भारतीय भाषाओं में वैसे ही मूल्यवान् है जैसे संस्कृत में उपनिषद्। उपनिषदों के भाष्य करने के कारण ही प्राचीन भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। मेरा विचार है कि आधुनिक भारत में दर्शन का जो वातावरण बनेगा उस में हिन्दी तथा भारत की अन्य भाषाओं के सन्त साहित्य के भाष्यों का विशेष मूल्य होगा। प्रो० रानडे उन दार्शनिकों में अग्रगण्य तथा अद्वितीय हैं जिनकी दृष्टि इस तथ्य पर गई है। जैसे शंकराचार्य उपनिषदों के प्रथम महान् भाष्यकार हैं वैसे प्रो० रानडे सन्त-साहित्य के प्रथम और महान् भाष्यकार हैं। इन के भाष्य दार्शनिक हैं। सन्त-साहित्य पर अन्य लोगों ने जो कुछ लिखा है वह साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से ही लिखा गया है। दार्शनिक, नैतिक तथा आनुभविक दृष्टि से सन्त साहित्य पर प्रो० रानडे को छोड़ कर भाष्य किसी ने भी आज तक नहीं किया है।

हिन्दी दर्शन के इतिहास में प्रो० रानडे का नाम अमर रहेगा। हिन्दी का आरम्भ शायद दर्शन-प्रचार से ही हुआ। हिन्दी का दर्शन आज का नहीं है, वह काफी प्राचीन है। आज पाश्चात्य दर्शन का भी प्रभाव हिन्दी-दर्शन पर पड़ रहा है और यह स्वाभाविक भी है। स्वदेशीय तथा विदेशीय दोनों धाराओं के फलस्वरूप हिन्दी में अपना एक नया दर्शन निकट भविष्य में हो जायगा और तब दोनों धाराओं का विशेष मूल्यांकन संभव होगा। यदि भारत की सांस्कृतिक सनातन आत्मा अक्षुण्ण रहेगी – जैसा कि देखने में आज भी आता है—तो स्वदेशीय दर्शन-धारा विदेशीय दर्शन-धारा को अपने में आत्मसात् करके आगे बढ़ेगी। तब स्पष्ट हो जायगा कि स्वदेशीय दर्शन-धारा को विदेशीय दर्शन-धारा के साथ तुलना करते हुये किस प्रकार प्रो० रानडे जैसे महान् दार्शनिक तथा रहस्यवादी विद्वान ने आगे बढ़ाया है।

प्रो० रानडे शंकर की भान्ति 'भगवान् भाष्यकार' हैं। उनका अपना निजी दर्शन भी है, यद्यपि वह तर्कतः हमारे सन्त-साहित्य से सम्बन्धित है। उनकी अनुभूतियाँ विशाल और विशद हैं। यही कारण है कि वे सन्त साहित्य को समझ सके हैं और इसको 'नई दिशा' में मोड़ा है। इस नई दिशा का दिग्दर्शन उनके भाष्यों में होता है, जिसमें Pathway to God मुख्य है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संगमलाल पाण्डेय,

६ दी कन्सेप्शन आव् स्प्रिच्युअल लाइफ इन महात्मा गान्धी एण्ड हिन्दी सेंट्स

(महात्मा गान्धी और हिन्दी सन्तों के अनुसार आध्यात्मिक जीवन का प्रत्ययन), लेखक डा० रा० द० रानडे, प्रकाशक गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, १६५६ पृ० १६८ मूल्य ३) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'शाह पोपतलाल हेमचन्द अध्यात्म व्याख्यान माला' का पहला पुष्प है । गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद की सेठ भोला भाई जेशिंग भाई अनुशीलन तथा अनुसन्धान संस्था के तत्वावधान में श्री गणेश वासुदेव मावलंकर के सभापतित्व में ६, ७ और ८ अगस्त १६४७ ई० को डा० रा० द० रानडे ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हीं को परिवर्धित करके प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दिया गया है ।

ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में महात्मा गान्धी के अनुसार आध्यात्मिक जीवन का विवेचन किया गया है। लेखक का विचार है कि महात्मा गान्धी ने एक नए नीति शास्त्र की रचना की थी और उसकी शिला पर अपने अध्यात्मवाद का भवन खड़ा किया था (पृ० ३)। पुनः उसका कहना है कि गान्धी के अध्यात्मवाद में चक्र (चरखे) का बुनियादी तथा केन्द्रीय महत्व है (पृ० ३)। इस प्रसंग में लेखक ने गान्धी के अनुसार चरखे का सप्तविध महत्व प्रदर्शित किया है। गीता का यज्ञचक्र, मिस्र के दार्शनिक काजी नोमन बेन मुहम्मद का स्वर्ग-चक्र, ऋग्वेद और बृहदारण्य-कोपनिषत् का विश्व-चक्र, भागवत पुराण का शिशुमार-चक्र, बौद्धधर्म-दर्शन का धर्म चक्र, कबीर का 'आठ कमल दल चर्खा' (योग-चक्र) और परीक्षित की भाँति सबकी सतत रक्षा करने वाला सर्वसाधक-सुलभ सुदर्शन-चक्र—ये सभी सातों चक्र गान्धी के 'चरखे' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिए महात्मा गान्धी का कहना था कि चरखा मेरे लिए बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक पूर्णता का पूर्ण प्रतीक है (पृ० १५) लेखक ने जिस पांडित्य तथा अनुभव से इन चक्रों के स्वभाव और मूल्य का निरूपण किया है तथा महात्मा गान्धी के 'चरखे' के सिद्धान्त तथा प्रयोग पर की गई श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर की आपत्तियों का निराकरण किया है, उसको पढ़कर कौन ऐसा पाठक होगा जो वस्तुतः बुद्ध और सन्तुष्ट न हो जाय ? गान्धी-दर्शन की इतनी व्याख्या करके लेखक ने महात्मा गान्धी के जीवन पर दार्शनिक तथा धार्मिक प्रभावों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार गान्धी पर जैन-मत, वल्लभ-मत, भक्ति-दर्शन, ईसाई-मत तथा इस्लाम का विशेष प्रभाव पड़ा है। इन प्रभावों के फलस्वरूप गान्धी की मुख्य शिक्षा सचमुच "एक ईश्वर, एक संसार, एक धर्म" थी (पृ० ५१)। लेखक ने गान्धी को बहुत बड़ा

रहस्यवादी दार्शनिक माना है। इस दृष्टि से उसने गान्धी का आध्यात्मिक इतिवृत्त लिखा है जो सचमुच गान्धी की स्वरचित आत्मकथा का अनिवार्य पूरक है। उसने गान्धी के 'अन्तर्नाद' सम्बन्धी सिद्धान्त की जो दार्शनिक उपपत्तिसहित रहस्यवादी व्याख्या की है वह उतनी ही प्रशस्त तथा मूलवान है जितनी कि 'चक्र' की व्याख्या। निःसन्देह गान्धी-दर्शन में इन दो सिद्धान्तों के प्रसंग में डा० रानडे का नाम सदा अमर रहेगा। यदि गान्धी को हम आधुनिक चक्र-दर्शन और 'अन्तर्नाद-दर्शन' का सूत्रकार पाणिनि या बादरायण मानें तो निःसन्देह डा० रानडे को इनका अद्वितीय भाष्यकार पतंजलि या शङ्कराचार्य मानना पड़ेगा।

ग्रन्थ के दूसरे भाग में हिन्दी सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के आरम्भ, विकास तथा पूर्णता का वर्णन है। लेखक ने गान्धी को हिन्दी सन्तों की परम्परा में रखा है। हिन्दी सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के आरम्भ में उसने आध्यात्मिक जीवन निर्वाह करने के प्रेरकों का निरूपण किया है। इन प्रेरकों में दार्शनिक जिज्ञासा, कर्म और विपाक का व्यभिचार, नियति-वशता तथा मृत्यु-विचार मुख्य हैं। आध्यात्मिक अनुभव के विकास में लेखक ने नैतिक गुणों के सम्पादन तथा अनन्य भक्ति का विशेष उल्लेख किया है। आध्यात्मिक अनुभव की पूर्णता में लेखक ने सच्चे आध्यात्मिक अनुभव का व्याख्यान किया है। उसका कहना विचारणीय है कि रहस्यवाद या छायावाद वस्तुतः अंगरेजी शब्द मिस्टिसिज्म का पूर्ण अर्थ नहीं व्यक्त करता है। उसके अनुसार मिस्टिसिज्म मौन दर्शन है, मौनवाद है।

अन्तिम भाग में कबीर के आध्यात्मिक जीवन-वृत्त का वर्णन है। लेखक कबीर को बहुत बड़ा मौनवादी दार्शनिक मानता है। उसका कहना है कि कबीर मानवता-मात्र का पूज्य सन्त है और उसकी शिक्षा हिन्दू, मुस्लिम, यहूदी, ईसाई, बौद्ध, सभी को एक सूत्र में बाँधने में समर्थ है (पृ० १६१)। कबीर की साधना नाम-साधना थी। मुक्ति के विषय में उसका सिद्धान्त परिवार-मुक्ति का था, न कि एक-मुक्ति और सर्व-मुक्ति। अर्थात् कबीर तथा लेखक के अनुसार किसी साधक के मुक्ति प्राप्त कर लेने पर उसके परिवार भर को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वह अकेला ही नहीं मुक्त होता है और न वह अपने साथ सभी मानवों को ही मुक्त करता है। लेखक के अनुसार सर्वमुक्ति का प्रत्यय ही गलत है क्योंकि इससे ला आव् सफीशियंट रीजन (कारणवाद) का बाध होता है (पृ० १८७)।

ग्रन्थ में आद्योपान्त आध्यात्मिक अनुभूति की एकता है। लेखक ने महात्मा गान्धी से आरम्भ कर हिन्दी सन्तों की अनुभूतियों का वर्णन करते हुए अन्त में कबीर जैसे अन्यतम रहस्यवादी की अनुभूतियों का वर्णन किया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में महात्मा गान्धी के अतिरिक्त हिन्दी सन्तों के अध्यात्मवाद का भी वर्णन है तथापि इसका विशेष मूल्य महात्मा गान्धी के अध्यात्मवाद के ही लिए

है। हिन्दी सन्तों का अध्यात्मवाद एक ओर गान्धी के अध्यात्मवाद की पृष्ठभूमि है तो दूसरी ओर पराकाष्ठा। इस पृष्ठभूमि और पराकाष्ठा की भूमिका से हटा लेने पर गान्धी के अध्यात्मवाद को समझना कठिन है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि डा० रानडे गान्धी को महान् दार्शनिक मानते हैं। गान्धी ने "ईश्वर के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे दार्शनिकों के द्वारा भी विचारणीय हैं" (पृ० ५२)। प्रस्तुत समीक्षक श्री रानडे के इस कथन से पूर्णतया सहमत है यद्यपि वह उनकी व्याख्या से कहीं-कहीं मतभेद रखता है।

डा० रानडे ने गान्धी दर्शन की सिर्फ तीन समस्याओं का ही निरूपण किया है, चरखे का सिद्धान्त, अन्तर्नाद का सिद्धान्त और गान्धी-दर्शन पर अन्य दर्शनों का प्रभाव। उन्होंने उनके नीतिशास्त्र की व्याख्या नहीं की है यद्यपि वे उनको महान् नीतिशास्त्री मानते हैं। फिर उन्होंने उनके ईश्वर सम्बन्धी विचारों की भी पर्याप्त व्याख्या नहीं की है यद्यपि इस प्रसंग में वे गान्धी को महान् से महान् दार्शनिक मानते हैं। फिर, उन्होंने गान्धी दर्शन की रहस्यवादी या मौनवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। गान्धी-दर्शन की मूल्य-मीमांसक (axiological) व्याख्या भी की जा सकती है और प्रस्तुत समीक्षक ने तो इसे विवेकी जनों के समक्ष प्रस्तुत भी कर दिया है।[१] डा० रानडे महान् मौनवादी तत्ववेत्ता थे। अतएव उन्होंने गान्धी के केवल उन्हीं सिद्धान्तों का व्याख्यान किया है जो उनकी निजकी साधना में भी उपादेय थे। पर मतभेद रखने पर भी समीक्षक का मत है कि डा० रानडे की प्रस्तुत कृति उन सभी पुरुषों द्वारा अवश्य पढ़ी जानी चाहिए जो गान्धी के विचारों में प्रतिपन्न हैं या जो गान्धी को दार्शनिक नहीं मानते हैं। इस ग्रन्थ को पढ़ने पर दोनों प्रकार के पाठकों को अपना विचार कुछ-न-कुछ अवश्य बदलना पड़ेगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय — संगमलाल पांडेय

—:०:—

१ द्रष्टव्य गान्धी का दर्शन, लेखक संगमलाल पाण्डेय।

६—फिलसाफिकल एण्ड अदर एसेज़,

प्रकाशक श्री गुरुदेव रानडे सत्कार समिति, जमखंडी,

१६५६ पृष्ठसंख्या २८+१८४, मूल्य ६ रु० ।

प्रो० रानडे ने यूनानी दर्शन का बहुत ही सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया था। उनका मूल यूनानी स्रोतों के ज्ञान पर आधारित खोजपूर्ण कार्य 'फिलसाफिकल एण्ड अदर एसेज़' नामक निबन्धों में संग्रहीत है। यूनानी दर्शन के अधिकारी विद्वानों ने इन लेखों की बड़ी प्रशंसा की है। श्री अरविन्द के शब्दों में 'इस कुशल लेखक और गम्भीर विचारक के द्वारा लिखा हुआ सम्पूर्ण यूनानी दर्शन का इतिहास एक अमूल्य निधि होता।' यहाँ पर यह जान लेना लाभप्रद होगा कि प्रो० रानडे ने इन निबन्धों को अपने जीवन के किस भाग में लिखा था।

सन् १६१२-१३ में जब वे कुछ स्वस्थ हो गये थे उन्होंने डेकन कालेज में हस्तलेख संग्रहालय के प्रमुख अधिकारी एवम् संस्कृत के प्राध्यापक का पद स्वीकार किया। किन्तु शीघ्र ही सेवा और त्याग के उच्चादर्शों से प्रेरित होकर उन्होंने अपने जीवन के उच्च शिक्षा के निमित्त लगा देने का निश्चय किया। डी० ई० सोसाइटी के आजीवन सदस्य के रूप में वे फरग्यूसन कालेज में दर्शन के प्रोफेसर हो गये। उस समय तक वे बम्बई विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा दर्शनशास्त्र विषय लेकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर चुके थे। इस परीक्षा में उन्होंने प्रथम स्थान भी प्राप्त किया था और साथ ही उन्हें कुलपति स्वर्णपदक के रूप में उस समय का उच्चतम शैक्षिक सम्मान भी प्राप्त हो चुका था। फरग्यूसन कालेज में अध्ययन करने के दस वर्षों में ही उन्होंने यूनानी दर्शन सम्बन्धी लेख विभिन्न पत्रों में लिखे थे। यदि उनका स्वास्थ्य अच्छा रहा होता और उन्हें पर्याप्त अवकाश मिला होता, तो यूनानी दर्शन का सम्पूर्ण इतिहास लिखकर वे श्री अरविन्द की इच्छा पूरी कर देते।

अच्छे स्वास्थ्य के अभाव में भी वे अपने शैक्षिक तथा आध्यात्मिक कार्यों को बिना किसी विघ्न के करते रहे यद्यपि इसी बीच में उनकी माता तथा प्रथम पत्नी की मृत्यु जैसी पारिवारिक आपत्तियाँ भी पड़ी थीं। शैक्षिक दृष्टि से भी उनका जीवन बहुत सफल था, क्योंकि वे निरन्तर एक विशिष्ट लेखक तथा विद्वान एवम् बहुपठित अध्यापक के रूप में सम्मानित किए जाते थे। आध्यात्मिक दृष्टि से भी, उनका जीवन विविध धार्मिक अनुभूतियों से उत्पन्न, आशाओं से परिपूर्ण होकर, निरन्तर समुन्नत होता रहा।

इस ग्रन्थ में संगृहीत उनके लेखों से प्राचीन यूनानी दर्शन के बहुत से विवाद-

ग्रस्त अंशों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, हेराक्लाइटस के दार्शनिक विचारों का ज्ञान उसके मूल ग्रन्थ के बिखरे हुए अंशों से ही प्राप्त किया जाता है। उसने सूत्रात्मक ढङ्ग से ही लिखा है और उसकी शैली बड़ी संक्षिप्त तथा सामासिक है। कुछ लोग उसे रहस्यवादी समझते हैं। प्रो० रानडे ने हेराक्लाइटस को वैज्ञानिक परम्परा में रखा है, रहस्यवादी में नहीं। हेराक्लाइटस तर्क की नीरस शैली का प्रयोग करता है और बहुत सी क्लिष्ट उक्तियों से काम लेता है। एक स्थान पर उसने रूक्ष आत्मा को सबसे अधिक बुद्धिमान और श्रेष्ठ बतलाया है। इसी प्रकार उसके प्राप्त लेख-खण्डों में निरन्तर परिवर्तनशीलता के नियम के शासन और शक्ति के संचय सम्बन्धी वैज्ञानिक सिद्धान्त निहित हैं। प्लेटो ने अपने प्रत्यय-सिद्धान्त में हेराक्लाइटस के तथा ईलिया के निर्माण और अस्तित्व सम्बन्धी मतों का समन्वय किया है। यह समन्वय शङ्कराचार्य के व्यवहार और परमार्थ के भेद से साम्य रखता है। हेगल ने भी हेराक्लाइटस के सिद्धान्तों को अपने प्रतिक्रियात्मक विकासवाद में स्थान दिया था। हेराक्लाइटस ने मद्यपान का निषेध किया है क्योंकि इससे आत्मा आर्द्र हो जाती है। उसने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है क्योंकि मूर्ति से प्रार्थना करने वाला दीवारों से वार्तालाप करना चाहता है। वह पशुवलि का विरोधी था क्योंकि अन्य प्राणियों के रुधिर से वह आत्मशुद्धि सम्भव नहीं मानता था। हेराक्लाइटस से सहमत होकर प्रो० रानडे कहते हैं कि सापेक्ष्यवाद व्यवहार के क्षेत्र तक ही सीमित है, वह ईश्वर पर घटित नहीं होता।

अरस्तू द्वारा इलिया के दार्शनिकों की आलोचना पर प्रो० रानडे का निबन्ध आलोचनात्मक दर्शन साहित्य की अन्यतम कृति कहा जा सकता है। यह निबन्ध न केवल इलियाटिक दर्शन के विषय में आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, वरन् अरस्तू की आलोचना के दोषों को भी स्पष्ट कर देता है।

जेनोफेनीज एकेश्वरवाद के प्राचीनतम प्रतिपादकों में विशिष्ट है। उसके अनुसार ईश्वर कई नहीं है वरन् वह एक है जो मानवों और देवों में सर्वश्रेष्ठ है तथा मर्त्यों की भाँति शरीर तथा मन का संघात नहीं है। मानवीकरण में ईश्वर को भी मानवी भूलों और दोषों से युक्त दिखाया जाता है। जेनोफेनीज ने इसकी बड़ी व्यंगपूर्ण आलोचना की है जो अब ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर चुकी है। वह कोरा तत्वचिन्तक न होकर एक महामानव था, जिसने मानव शास्त्रों के अध्ययन पर विशेष बल दिया था और नैतिक शिक्षा को महत्वपूर्ण बतलाया था। जेनोफेनीज के इन भौतिक धर्मवादी तर्कों को जिन्हें अरस्तू भी न समझ पाया था, प्रो० रानडे ने बड़ी प्रशंसा की है।

प्राचीन यूनानी दर्शन के इतिहास में पारमेनाइडीज अद्वैत प्रत्ययवाद का एक विशिष्ट व्याख्याता हुआ है। प्रो० रानडे के हृदय में इस विचार-धारा के लिए बड़ा आदर था। पारमेनाइडीज और शंकराचार्य के विचारों में बड़ा सादृश्य है। पारमेनाइडीज का विचार और सत्ता का तादात्म्य शंकराचार्यके सत् और चित्के तादात्म्य ही के समान

प्रतीत होता है। पारमेनाइडीज का धारणा और सत्य का भेद भी शंकराचार्य के व्यवहार और परमार्थ के भेद से मिलता-जुलता है। "जो भी सत्य और शिव है, सभी सीमित है"—पाइथागोरस के इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर पारमेनाइडीज ने सीमा को सत्ता का धर्म स्वीकार किया है। उसकी यह मान्यता शंकराचार्य से नहीं मिलती। बर्नेट और जेलर की भाँति जो लोग पारमेनाइडीज के सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त को स्थूल भौतिकतावादी मानते हैं, प्रो० रानडे के अनुसार वे बड़ी भूल करते हैं। इस भूल का कारण दृष्टान्त और तथ्य में तादात्म्य मान बैठना है। पारमेनाइडीज ने सत्ता की वृत्त से केवल तुलना की है, दोनों का तादात्म्य नहीं स्थापित किया है।

जिनो बड़ा बौद्धिक कलाबाज था। उसके तर्क बड़े सूक्ष्म और गहन हैं। उसने बहुत्व और गति के समर्थकों को चुप करने तथा अपने गुरु पारमेनाइडीज के अद्वैत प्रत्ययवाद का समर्थन करने में अपने विवाद-कौशल का उपयोग किया है। उसकी प्रसिद्ध पहेलिकाओं को - जैसे तेज से तेज दौड़ने वाला खरगोश धीरे-धीरे रेंगने वाले कछुए को नहीं छू सकता यदि कछुए को थोड़ा आगे कर दिया जाय; उड़ता हुआ तीर भी स्थिर समझा जाना चाहिए तब तक हल नहीं किया जा सकता है, जब तक हम आनन्तिक कलन शास्त्र की सहायता न लें और न मानें कि गति एक देशकालिक सम्बन्ध है। यह न तो केवल शुद्ध देशीय और न केवल शुद्ध कालिक क्रिया ही है।

मेलीशस का दर्शन स्पिनोजा के दर्शन की भाँति तत्वविद्या के क्षेत्र में घटित निगमन प्रणाली का पर्यवसान है। वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि सत्ता एक है; वह एकरस, अशरीरी और अचल है। पारमेनाइडीज से असहमत रहकर वह सत्ता को असीम मानता है।

"अपने आप को जानो" तथा "अपने पड़ोसी को अपनी भाँति प्रेम करो" आदि व्यावहारिक सूक्तियों के कारण प्लेटो ने थेलीज को यूनान के 'सात सन्तों' में रखा था। अरस्तू उसे प्रकृति सम्बन्धी दर्शन का संस्थापक समझता है, क्योंकि उसी ने पहले-पहल मूल पदार्थ की आवश्यक समस्या उत्पन्न की थी और वैज्ञानिक विधि से उसे हल करने का भी प्रयत्न किया था। उसने कहा था कि जल से ही सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और उसी में सब का लय होता है। थेलीज ने यह भी माना था कि सभी वस्तुयें ईश्वर से तथा शुभ आत्माओं से ओतप्रोत हैं। प्रो० रानडे के अनुसार यह सर्वबुद्धिवाद है।

प्रोटागोरस नामक प्रसिद्ध सोफिस्ट विचारक का नाम 'मानव-मान' सिद्धान्त के साथ, जिसके अनुसार मनुष्य ही वस्तुओं का मान है, जोड़ा जाता है। न तो गाम्पर्ज की जातीय व्याख्या जिसके अनुसार मानव व्यक्ति नहीं, बल्कि सामान्य मानव मान है, प्रोटागोरस का भाव स्पष्ट करती है और न एफ० सी० एस० सीलर की मानवीय व्याख्या ही उचित अर्थ लेती है। सीलर प्रोटागोरस के सिद्धान्त में अपना भाव खो

जाता है। सब बातों पर ध्यान देते हुए प्लेटो और अरस्तू की व्यक्तिवादी व्याख्या सन्तोषप्रद है, इस प्रकार समझने पर प्रोटागोरस का सिद्धान्त हमें ऐन्द्रियवाद तथा सन्देहवाद की ओर जाने पर बाध्य करता है। अरस्तू का प्रमुख आक्षेप यह है कि प्रोटागोरस का सापेक्ष्यवाद मूल्यों में श्रेणी-भेद नहीं करता है और इसमें सत्य का कोई आदर्श नहीं प्राप्त होता है। प्रो० रानडे अरस्तू के साथ सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि "उक्त मत में सत्य की श्रेणियों का प्रश्न ही नहीं उठता; उसमें तो केवल भूलों की श्रेणियाँ हैं। सत्य एक होता है किन्तु भूलें अनन्त। सत्य एक, निरपेक्ष तथा अपरिवर्त्य है और वह ईश्वर है।" यह ईश्वर-केन्द्रित सिद्धान्त विश्व-केन्द्रित तथा मानव-केन्द्रित सिद्धान्तों से भिन्न होकर हमें प्रो० रानडे के दर्शन का सार दे देता है। इसमें यह भी निहित है कि ईश्वर में ही सभी वस्तुयें स्थित हैं, उसी में गतिमान होती हैं और उसी से उनका अस्तित्व है। इस दैवी तत्व की अनुभूति प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम शुभ है। ईश्वरानुभूति का यह उच्चतम सत्य प्रो० रानडे के जीवन में बहुत ही प्रारम्भिक काल में आविर्भूत हुआ था।

प्रो० रानडे की प्रौढ़ बुद्धि का परिचय उनके प्रयाग के निवास-काल में लिखे हुए दो निबधों से प्राप्त होगा। इनके नाम हैं 'आत्मतत्व का दर्शन' तथा 'याज्ञवल्क्य और दार्शनिक गल्प'। उन्होंने १९३७ ई० में 'भारतीय दर्शन परिषद्' के सभापति के आसन से, नागपुर में जो अभिभाषण किया था, उसमें आधुनिक भौतिक शास्त्र, जीवविज्ञान तथा स्नायुविज्ञान की खोजों के प्रकाश में आत्म-तत्व सम्बन्धी दर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत की थी।

आधुनिक भौतिकशास्त्री सर जेम्स जीन्स का विचार है कि देश-काल केवल मानसिक व्यवधान हैं, अन्यथा जो जीवन-धारा हम सब में व्याप्त है, वही सम्पूर्ण प्रकृति में सूत्रवत् विद्यमान है। यह विचार-धारा प्रत्ययवाद-परक है। इसी प्रत्ययवाद की थोड़ी-सी प्रगति से निरपेक्ष आत्मवाद की उत्पत्ति होती है जिसके अनुसार आत्म-तत्व विश्व में व्याप्त माना जाता है। अपने जीववैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर ड्रीश जीवन को स्वतन्त्र तत्व मानता है जिसे वह इन्टेलेकी कहता है। ड्रीश मानव-जीवन को 'साइक्वायड मानता है। प्रो० रानडे, इसके लिए एक नये शब्द 'स्पिरिटन' का प्रयोग करते हैं जो ज्ञानेश्वर तथा अन्य रहस्यवादियों के 'बिन्दुले' से मिलता-जुलता है। मि० हेड की स्नायुवैज्ञानिक खोजों के आधार पर वे थैलेमस अथवा सुषुम्नाशीर्षक को संवेगों की आधार-भूमि मानते थे। इस सिद्धान्त से एक बहुत अच्छा दार्शनिक निष्कर्ष प्राप्त हो जाता है कि मानस तत्व संवेगों का नियंत्रण करता है। इससे ज्ञान और भक्ति के समन्वय की आवश्यकता का सदुपदेश प्राप्त होता है।

प्रो० रानडे ने बर्गसाँ के नैतिकता और धर्म के दो स्रोतों के सिद्धान्त का खण्डन कर केवल एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की स्थापना की। उन्होंने बर्गसाँ के जीवनीय तत्व की

भी आलोचना की और यह बताया कि वह जैविक तत्व हो सकता है, आध्यात्मिक नहीं। इसी प्रकार उन्होंने बौद्ध दर्शन के प्रसंग में यह बतलाया कि बुद्ध का आध्यात्मिक प्रबोध वास्तविक रहस्यवादी अनुभव था। उससे यह न समझना चाहिए कि अनत्ता के द्वारा आत्मिक सत्ता का निराकरण हो जाता है। अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए उन्होंने यह संकेत किया है कि संसार में शान्ति और एकता का प्रवर्तन तभी किया जा सकता है जब पूरा मानव समाज आत्म-तत्व के अस्तित्व को स्वीकार कर ले।

याज्ञवल्क्य के गल्प-दर्शन को समझने के लिए उनके दर्शन के दो आधारभूत सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझना नितान्त आवश्यक है। इनमें से प्रथम ज्ञाता को ज्ञेय वस्तु बना पाने की असंभावना है। दूसरा सिद्धान्त जिसे स्वयं याज्ञवल्क्य ने अपने निरपेक्ष मानसवाद में स्थान दिया था वस्तु-जगत की सत्ता को स्वीकार करना है। इसी के साथ-साथ वृहदारण्यक के दूसरे अध्याय में आए हुए, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति' में 'इव' परसर्ग का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना भी बहुत आवश्यक है।

याज्ञवल्क्य के गल्पों में निहित दर्शन की वाइहिंगर के 'एज इफ' के दर्शन से तुलना करने पर पता चलता है कि दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। याज्ञवल्क्य के गल्पों में आत्मानुभव का आधार स्पष्ट है किन्तु वाइहिंगर की कल्पनाएँ हमें केवल ऐन्द्रियता की ओर लेजाती हैं। इतना ही नहीं, वे समस्त वैज्ञानिक अनुसंधानों और मान्यताओं को कोरी गप बना देती हैं।

एक छोटे-से 'खद्योत संबंधी चिंतन' शीर्षक निबंध में प्रो० रानडे ने एक दार्शनिक की काव्यमय कल्पनाओं का चित्रण किया है, जिसका ध्यान सहसा भटक कर कमरे में आए हुए खद्योत की ओर चला गया था। वह सोचता है कि अग्नि-शलभ संसार में प्रचलित अन्याय का प्रतीक है, क्योंकि उसके दैन्य तथा हानिरहित स्वभाव की ओर कोई ध्यान नहीं देता है। खद्योत ने अनजाने ही कितने ही नैतिक गुणों को आत्मसात कर लिया है। यही सब कहते-कहते वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जैसे खद्यो-त के बाहर प्रकाश रहता वैसे ही मनुष्य के भीतर ईश्वरीय प्रकाश होता है।

"विश्व का केन्द्र" प्रो० रानडे के बहुत ही प्रारम्भिक निबंधों में से है जिसे उन्होंने कार्लाइल के आध्यात्मिक प्रभाव में आकर लिखा था। उस निबंध में निर्दिष्ट आध्यात्मिक सत्ता की बहुवादी धारणा से ही उनके दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ हुआ था। एक बार डेकन कालेज में एक क्रिकेट मैच देखते हुए उनके मस्तिष्क में एक आध्यात्मिक प्रकाश फैल गया और उन्होंने सोचा कि संपूर्ण विश्व को आत्मतत्व से पूरित माना जा सकता है। उनका विचार था कि विश्व एक असीम वृत्त है जिसका केन्द्र सब कहीं है और परिधि कहीं नहीं है। उस वृत्त के केन्द्र को जान लेना ही उसके प्रधान तत्त्व को जान लेना है और सभी समस्याओं की समस्या को हल कर देना है।

प्रो० रानडे ने डा० मैकनिकल की "भारतीय ईश्वरवाद" शीर्षक तथा डा० भण्डा-रकर की अशोक पर लिखी हुइ पुस्तकों का 'रिव्यू' लिखा था। पहले में उन्होंने डा० मैकनिकल के भारतीय ईश्वरवाद के अभारतीय दृष्टिकोण की, उनके अद्वैत-विरोधी विचारों की तथा अद्वैत-वाद और भक्ति के पारस्परिक विरोध-संबन्धी विचारों की आलोचना की थी। उन्होंने भारत के संत-कवियों की प्रशंसा करते हुए यह बतलाया है कि शब्द और गुरु की आवश्यकता का समर्थन कबीर की भारतीय ईश्वरवाद के निमित्त अनोखी देन है।

अपने 'रिपब्लिक नामक संबाद में प्लेटो ने दार्शनिक-शासक का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। वस्तुतः अशोक को दार्शनिक सम्राट माना जा सकता है। आदर्श शासक के रूप में उसने अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन किया और अपनी प्रजा को इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख-समृद्धि प्राप्त कराने के प्रयत्न किए। उसने बौद्धमत को राज-धर्म बना दिया था, किन्तु उसके धार्मिक विश्वासों में रूढ़िवादिता नहीं थी। उसके अभिलेखों में धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया गया था। वह कहता है कि 'सच्चा धर्म सहगमन अथवा समवाय में प्राप्त होता है' जहाँ एक दूसरे के प्रति भावात्मक मैत्री नहीं है, वहाँ धर्म नहीं है।" यदि आज अशोक जीवित होता तो वह बड़े उत्साह के साथ सभी राष्ट्रों के शान्ति-पूर्ण सह-जीवन के पंचशील-सिद्धान्त का अनुमोदन करता। उसने राष्ट्रीयता का विरोध नहीं किया था वरन् उसने वह सार्वभौम दृष्टि अपनाई थी जिसमें मानव मात्र के नैतिक तथा धार्मिक उत्थान का ध्यान रक्खा गया था।

अनुवादकर्त्ता	न० ग० दामले
शिवानन्द शर्मा एम० ए०, इलाहाबाद।	सूर्योदय, पूना

—:o:—

८ कर्नाटक साहित्य में [illegible]

कर्नाटक दर्शन-साहित्य को रहस्यवादी तीन विचारधाराओं ने समुन्नत किया है। पहली जैन विचार-धारा है जिसकी दो शाखाएँ, संयत आचार-मीमांसा और ऐकांतिक भक्ति, जिनत्व प्राप्ति को चरम लक्ष्य बनाती हुई हमें प्लॉटिनस के 'एकांकी का एकांकी के प्रति गमन' का स्मरण दिलाती हैं। दूसरी वीरशैव विचारधारा है जो एक तरफ तो अद्वैत और दूसरी तरफ नैतिक शुद्धि से सन्धि करती हुई ईश्वरैक्य को लक्ष्य बनाती है। और तीसरी वैष्णव विचारधारा है जो भक्ति-वाटिका के बहुरङ्गी प्रसूनों द्वारा ईश्वर के चरणारविन्दों की पूजा करके भगवत्कृपा पाने का यत्न कराती है।

वीरशैवमत-गगन के सूर्य-स्वरूप प्रभुदेव में हम साहित्य की सी सरसता (सौन्दर्य), दर्शन की सी गम्भीरता एवं भक्त की सी अनुभूति पाते हैं। 'ईश्वर प्रेम' के प्रतीक बसवेश्वर ने अपनी गीति-शैली, सशक्त रुचिपूर्ण वक्तृता, नैतिक उच्चता एवं धार्मिक गाम्भीर्य से कन्नड साहित्य को अमर बना दिया है। आध्यात्मिक जगत अथवा कल्याण-अनुभव मंटप के एक अन्य महापुरुष चन्न बसवेश्वर एक ज्ञानी भक्त हैं। सिद्ध राम एक कर्ममार्गी उच्च सन्त हैं और अपनी इस भिन्नता के कारण अलग ही दिखाई पड़ते हैं। अक्क महादेवी, जिनका कि एक मात्र ध्येय 'दिव्यवर' का वरण ही था, हमें अपने उत्कट हृदयोद्गारों से विस्मित करती हैं। ये कन्नड साहित्य के उज्ज्वल नमूने हैं। निजगुण शिवयोगी भक्त की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अम्बिगेश्वर भक्त की अपेक्षा नीतिविद् थे और सर्पभूषण दार्शनिक अथवा नीतिविद् की अपेक्षा भक्त थे। ये सभी वीरशैवमत के उत्थान के स्तम्भ स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त सर्वज्ञ अपनी व्यङ्ग्यपूर्ण और विनोदपूर्ण सूक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सिद्धहस्त सूक्तिकार थे।

वैष्णव विचारधारा के सर्वमान्य कन्नड सन्त पुरंदरदास अपनी कवित्व-प्रतिभा, उत्कट भक्ति और उच्चनैतिक आदर्शों के लिए प्रसिद्ध हैं। इन सब गुणों का संगठन उनकी दिव्य अनुभूति में सहज ही दिखाई पड़ता है। वैष्णव विचारधारा सर्वत्यागी संन्यासियों की-सी विचारधारा नहीं है बल्कि वह लौकिक और पारलौकिक दोनों हितों का समाहार करती हुई आनन्द-प्राप्ति को लक्ष्य बनाती है। यह बात यदि हम गोपाल-दास के जीवन और उपदेश को देखें तो स्पष्ट हो जायगी। ये सुख (विलास) पूर्ण जीवन बिताते थे परन्तु नामध्यान के क्षणों में तल्लीन होने की भी क्षमता रखते थे। वैष्णव विचारधारा के सन्त कवियों में पुरंदरदास और उनके समसामयिक कनकदास विजयदास, गोपालदास और जगन्नाथदास आदि उल्लेखनीय हैं। निर्विवादतः, जगन्नाथ-दास कन्नड़ भक्ति एवं दर्शन-साहित्य के अद्वितीय व्यक्ति हैं जिनका 'हरिकथामृतसार' भक्त-साहित्य का बेजोड़ ग्रन्थ है। कागवंडकी के महिपति जो कन्नड़ सन्तों में ही क्या

सारे संसार और सारे समय के सन्तों में एक महत्वपूर्ण स्थान पाते हैं, उच्चतम आध्यात्मिक (पारलौकिक) अनुभवों का अनुभव करते थे। उनके अनुभवों में विशेषता रूप, श्रवण और आकार से संम्बन्धित अनुभवों की है। उनके गीतों पर यदि हम सरसरी ही निगाह डालें जो दुर्दैववश अब तक भी अप्रकाशित हैं, तो हम देखेंगे कि उन गीतों में अद्वैत और द्वैत की द्वन्द्वात्मक उक्तियाँ भलीभाँति समन्वित होती हैं। यदि महिपति द्वैत और अद्वैत का समन्वय करते हैं तो शरीफ साहेब, जो आचार्य रानडे के मतानुसार कुछ हद तक कबीर की प्रतिमूर्ति हैं, एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य हिन्दुओं और मुसलमानों में मैत्रीपूर्ण व्यवहार के लिए प्रयास करते हैं।

जिन कन्नड़ भक्तों का नाम अभी तक प्रकाश में नहीं आया है उनकी संख्या बहुत बड़ी है। उन्हें प्रकाश में लाने का, और इन लोगों की भक्ति-साहित्य को कितनी देन है, इसे सिद्ध करने का सारा श्रेय आचार्य रानडे को है। सम्पूर्ण कर्नाटक आचार्य रानडे और उनके सम्प्रदाय का सदा ऋणी रहेगा क्योंकि कर्नाटक के अवरुद्ध आध्यात्मिक स्रोत का उन्होंने फिर से उद्धार किया। यह श्री रानडे का निंबरगी सम्प्रदाय ही है जिसने कन्नड़ भक्ति-धारा को पुनर्जीवित किया है। इसके फलस्वरूप कुछ सन्तों, जैसे चिदानन्द, भवतारक, शंकरानन्द, कूडलुरेश, कलमेश्वर, निरुपाधि सिद्ध नद्माल संग, वलभीम आदि के कुछ विरले गीत पहली बार प्रकाश में आए हैं। ये आचार्य रानडे के महत्वपूर्ण ग्रन्थ "कन्नड़ साहित्य में परमार्थ सोपान" में विकास-क्रमानुसार संग्रहीत हैं। कर्नाटक इस बात के लिए बड़ा ही हतभाग्य रहा है कि उसके आध्यात्मिक संदेश संसार के लिए अर्धज्ञात ही रहे हैं, क्योंकि रानडे जी के सहसा देहपात से उसकी पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकी है। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि कर्नाटक रहस्यवाद के मर्म को जितना श्री रानडे समझते थे उतना कोई नहीं समझता है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य रानडे ही कन्नड़ सन्तों के महत्व को संसार को जता सकते थे। अतः वे चौदह व्याख्यान जिनको उन्होंने कर्नाटक विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में दिया था, प्रकाश-स्तम्भ-स्वरूप हैं। उन्हें बीस व्याख्यान देने थे, परन्तु दुःख है कि वह महात्मा हम लोगों के बीच से एकाएक चल बसा।

कन्नड़ सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उद्भव, विकास और पूर्णत्वप्राप्ति के क्षेत्र में किसी भी अर्थ में कम नहीं हैं। साधारणतः अन्य साहित्य के सन्त ईश्वर-प्राप्ति के बाद मौन धारण कर लेते हैं, परन्तु, इसके विपरीत कन्नड़ के सन्त आध्यात्मिक-अनुभूति का दर्शन, स्पर्शन और सम्भाषण के क्रम से वर्णन करते हैं। कन्नड़ सन्तों के इस आनन्द-स्वरूप तत्त्व को प्राप्त करने का एकमात्र कारण यह था कि वे दिव्य ज्योति से तादात्म्य स्थापित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर आराधना रूपी अग्नि में

'अहं' की आहुति दे चुके थे। यही कारण है कि वे अपनी अद्वैतानुभूतियों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति कर सके।

ईश्वर, ब्रह्म, माया, विद्या, अविद्या और आवागमन आदि तत्त्वों के विवेचन में महाराष्ट्र के सन्त अद्वितीय हैं। नैतिक आदर्शों के सङ्गोपाङ्ग विवेचन में अर्थात् किन सद्गुणों को अपनाना चाहिए और किन दुर्गुणों को छोड़ना चाहिए, इसमें हिन्दी के सन्त बेजोड़ हैं। इन्होंने रामभरोस जैसी ईश्वर-प्राप्ति की भावना को सर्वाधिक महत्व दिया है।

यह कहना अनावश्यक होगा कि 'विश्व-रचना', 'ब्रह्म का स्वरूप', 'रहस्यानुभूति के लिए योगाभ्यास' 'साधक की अमावस्या' और 'पूर्णिमा' जैसी दर्शन की गुत्थियों को सुलझाने में बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी व्यर्थ में ही सर पटका है। सन्तों द्वारा ये अनायास ही सुलझा दी गई हैं, क्योंकि वे चरम सत्य का साक्षात् दर्शन कर चुके थे। दार्शनिक के लिए जो भ्रमस्थल है, वही भक्त के लिए सहज गम्य है क्योंकि भक्ति तर्कातीत है और ईश्वर के अपरोक्ष दर्शन को को सुलभ बनाती है।

कन्नड सन्तों के उपदेश मूलतः नैतिक और आध्यात्मिक हैं। किन्तु वे मनोवैज्ञानिक और तात्विक विश्लेषण से शून्य नहीं हैं। अतः हम प्रस्तुत विषय पर सृष्टिविज्ञान के दृष्टिकोण से, तत्त्व-दर्शन के दृष्टिकोण से, नीति के दृष्टिकोण से, साधना के दृष्टि कोण से और भक्ति के दृष्टि कोण से विचार करेंगे। प्रथमतः हम विचार करेंगे कि कन्नड सन्तों के लिए विश्व की ईश्वर के बिना कुछ भी सत्ता नहीं है क्योंकि वह ईश्वर पर आधारित है। दूसरे हम परस्पर विरोधी गुणों से सम्पन्न ब्रह्म के स्वरूप का अध्ययन करेंगे, जो उपनिषदों के ढङ्ग पर है। तीसरे असाधारण आध्यात्मिक अनुभूति और नैतिक शुद्धि कैसे एक दूसरे के अनुषङ्गी है, इस पर विचार करेंगे। चौथे कन्नड सन्तों द्वारा उपदिष्ट आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास-मार्ग का और अन्ततः उनके विविध इन्द्रियातीत अनुभूतियों का जो कि बाद में ब्रह्मानन्द का कारण बनती हैं, अध्ययन करेंगे।

सृष्टि-सम्बन्धी विचार करते हुए हम वीरशैव मतान्तर्गत सन्तों के विचारों का उल्लेख करेंगे। उनके लिए व्यवहारिक विश्व न तो अन्ततः सत् है और न असत्। प्रारंभ में यह सत् प्रतीत होता है परन्तु आत्मावबोध के अनन्तर भिन्नरूप वाला हो जाता है। जो संसार अबतक निरर्थक भासित होता था, वह अब भिन्न अर्थ एवं रूप वाला हो जाता है। जो संसार अब तक अर्थहीन लगता था वह सार्थक हो जाता है। सब जगह बुद्ध आत्मा दिव्य रूप देखता है और दिव्य वाणी सुनता है। विश्व के प्रत्येक कोने में वह ईश्वर ही ईश्वर देखता है और उसके लिए तुच्छ से तुच्छ अणु भी ईश्वर की व्यापकता और शक्ति का परिचय देता है। प्रारम्भ में केवल ब्रह्म ही था और कुछ नहीं। जिस प्रकार धधकती आग से चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से विश्व प्रादु

भूत हुआ। वचनकारों द्वारा उपदिष्ट यह मुख्य विचार (उपदेश) उपनिषदीय मनीषियों द्वारा उक्त 'यथा अग्नेः विस्फुलिङ्गाः ············ व्युच्चरन्त्येवमेव ········· सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृ० २. १.२०) के समान है। 'ब्रह्म ने लीलामात्र के लिए रचने की इच्छा की; फलतः अनेक जीवधारी उद्भूत हुए और विश्व भी बना।' इस प्रकार सिद्ध राम जी विश्व-रचना की लीला-सिद्धान्त द्वारा व्याख्या करते हैं जो कि बादरायण के 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' की पुष्टि करता है। वीरभद्रदेव के मतानुसार माया न तो असत् है और न तो भ्रम बल्कि वह काम क्रोधादिक छः विकारों का खासा मेल है।

'संसार सत् है अथवा असत् है अथवा सदसत् है' इस विषय में कन्नड सन्तों ने बेकार की माथापच्ची नहीं की है। यह (संसार) मानव-यात्रियों के लिए एक विश्राम-स्थल है, जिनका कि चिर गृह स्वर्ग है। अन्ततः उन्हें वहीं (स्वर्ग ही) जाना है, अतः उसे सांसरिक उलझनों में नहीं पड़ना है।

अब हम देखेंगे कि कन्नड सन्तों ने किस प्रकार चरम सत्य (Ultimate reality) की व्याख्या की है। "ब्रह्म ही सारी इन्द्रियों का परिचालक है क्योंकि उसी के द्वारा ये शक्तिवान् होती हैं। वह अणु से भी अणुतर है और महान् से भी महत्तर है। क्या ब्रह्म जो तर्कातीत है, उसके अनन्तत्व की कोई सीमा है? जिस प्रकार सूत्र का माला के मणियों से सम्बन्ध है, अथवा जिस प्रकार चकमक पत्थर में अग्नि वर्तमान है अथवा जिस प्रकार बीज में वृक्ष पूर्व सत् है, अथवा जिस प्रकार शब्द में निःशब्द निहित है उसी प्रकार ब्रह्म संसार में सर्वव्याप्त है। इस प्रकार वचनकारों ने विश्व में ब्रह्म का अन्तर्यामित्व सिद्ध किया है। अक्कमहादेवी ब्रह्म का बहिर्यामित्व सिद्ध करती हुई कहती हैं, "मेरे देव! आपके चरण पाताल लोक के निम्नतम भागों के भी नीचे चले गए हैं, आपका रत्नजटित मुकुट आकाश के उच्चतम भाग के भी ऊपर है, आप के बाहु दशों दिशाओं तक फैले हुए हैं।"

अखण्डेश्वर ईश्वर के अन्तर्यामित्व और बहिर्यामित्व दोनों पक्षों को लेते हुये कहते हैं—'हे ईश्वर! आप विश्व भर में व्याप्त हैं; आपने विश्व को नाप लिया है और आप विश्वातीत भी हैं।" यह अखण्डेश्वर द्वारा कहा गया ईश्वर का स्वभाव है।

पुरन्दर दास ने बड़े ही रोचक ढंग से ब्रह्म की व्याख्या 'निषेध शैली' में की है—"ब्रह्म न दिखाई पड़ता है, न भोगता है, न बैठता है, न खड़ा होता है, न कष्ट देता है, न कहीं जाता है, न कुछ कहता है हाँलाकि उसे सब भेद मालूम हैं। वह अचिन्तनीय है और वह उन मनुष्यों के प्रयत्नों से परे है जो कि दम्भ वश अपनें को ब्रह्मवेत्ता समझते हैं। यह (शैली) बृहदारण्यकोपनिषद् की 'नेतिनेति' शैली से मिलती-जुलती है जिसमें निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या की गयी है।

चन्नबसवेश्वर ने आत्मा को ही विश्व की अन्तरात्मा माना है। भौतिक और मानसिक उपाधियाँ इसके वाह्य रूप हैं। ये आत्मा के वस्त्राभरण हैं किन्तु आत्मा इनके योग से नहीं बना है। चन्नबसवेश्वर के अनुसार "आत्मा चक्षुओं का चक्षु है, कानों का कान है, श्वास का श्वास है।" इसे बढ़ाते हुए वे अज्ञान के बोझ से दबे हुए मनुष्यों की दयनीय दशा का वर्णन करते हैं। इस प्रकार के मनुष्य उस चक्षु को देखने में असमर्थ हैं जिसके कारण ये आँखें देखती हैं; उसके सुनने में असमर्थ हैं जिससे ये कान सुनते हैं; उस श्वाँस के ग्रहण करने में असमर्थ हैं जिससे स्वयं श्वाँस भी श्वाँस लेता है।" इस व्याख्या की सुन्दरता का अनुमान वही कर सकता है जिसने कि केनोपनिषद् के १।२।८ अध्याय को पढ़ा हो।

अब प्रश्न उठता है कि कन्नड सन्तों ने अध्यात्म-जीवन का प्रेरक किन को कहा है? मानव जीवन की नश्वरता, मृत्यु की ध्रुवता, सांसारिक जीवन के निराशा एवं क्षोभ जैसे दुःख और बृद्धावस्था का असामर्थ्य मनुष्य को उसके अज्ञान की नींद से जगा उसे ईश्वराभिमुख करते हैं। बसवेश्वर सांसारिक सुख-दुःखों का बड़ा ही हृदयस्पर्शी विवरण देते हुये कहते हैं—"हे ईश्वर! मेरी दशा उस मेढक से कुछ भी अच्छी नहीं है जो सांप के फन के नीचे भी अपने को दुःखरहित समझता है। मैंने अपने जीवन को व्यर्थ ही गँवाया। बलिवेदी पर चढ़े हुए के लिए सुख कहाँ? स्वशत्रु बनने में भला कहाँ? तिल भर सुख के लिए हिमालय स्वरूप दुःख उठाने में हित कहाँ?" आगे बसवेश्वर, अपने अत्यन्त सुन्दर बिरले पद में सांसारिक मनुष्यों के विचित्र व्यवहार पर दुःख प्रगट करते हुए कहते हैं:—"व्यवहारिक मनुष्य, सर्वत्यागी सन्त की किस प्रकार इज्जत कर सकता है? यदि सन्त नगरवासी है तो वह रागात्मिकता का दोषी है, यदि वह अरण्यवासी है तो समाज द्वारा पशु समझा जाएगा। यदि वह धनादि छोड़ देता है तो वह भिखारी जैसा व्यवहृत होगा, यदि वह कामिनी छोड़ कहीं दूर भागता है तो नपुंसक कहा जायगा, यदि वह उपदेश (भाषण) करता है तो कहा जाएगा कि प्रबुद्ध होकर भी वह भाषण क्यों देता है? यदि वह चुप रहता है तो वह गूँगा है, यदि वह सत्य भाषण करता है तो वह कटु भाषी है, यदि वह समभाव से व्यवहार करता है तो वह कायर कहा जायगा।"

गोपालदास अपने दुःसाध्य रोग के लिए भगवान धन्वन्तरि से प्रार्थना करते हैं:—"हे भगवन्! मैं किस रोग से पीड़ित हूँ कि मेरी आँखे हरिरूप देखने में असमर्थ हैं, मेरे कान ईश-प्रशंसा सुनने में असमर्थ हैं, मेरे हाथ ईश-पूजा के लिए लूले हो जाते हैं और मेरे पांव तीर्थयात्रा के लिए पङ्गु हो जाते हैं। हे भगवन्! अपना दयापात्र बनाइए। इस भवरोग से छुटकारा दीजिए।"

इस भवसागर को कैसे पार किया जाय? इस भव-परीक्षा को कैसे उत्तीर्ण किया जाय? इसके लिए कन्नड सन्तों ने भक्ति-पूर्ण जीवन बिताने के लिए कहा है, ऐसा जीवन जो ईश-प्राप्ति के लिए मर मिटे। जब तक व्यक्ति लौकिक विभूतियों, लौकिक

शक्तियों और लौकिक मान-मर्यादाओं के पीछे दौड़ता है, तब तक वह मृगतृष्णा के पीछे दौड़ता है और इस कारण असीम दुःख का भागी होता है। वह तभी ईश्वर-कृपा का पात्र बन सकता है जब कि वह अपने सारे यत्नों का ध्रुव लक्ष्य ईश-प्राप्ति बना ले और तभी वह सांसारिक दुःखों से भी छुटकारा पा सकता है।

अध्यात्म-साधना के लिए नैतिक शुद्धि परमावश्यक है। दुर्गुणों को छोड़ना पड़ेगा, सद्गुणों को अपनाना पड़ेगा। निर्मोह, निरहंकारिता, निर्भयता, निरपेक्षता, लौकिक सुख के प्रति उपेक्षा-भाव, सत्य, दया, और इन सबके ऊपर अटूट ईश-भक्ति इत्यादि कुछ सद्गुण हैं जिन पर कि कन्नड सन्तों ने जोर दिया है। गुरुसिद्ध हमें क्रोध, चाञ्चल्य, छल, घमंड, ईर्ष्या और विस्मृति इत्यादि से दूर रहने के लिए आगाह करते हैं। कन्नड सन्तों के अनुसार इन्द्रिय-रूपी सर्प भक्तों का सबसे बड़े शत्रु है। इस शरीर की तुलना बलभीमयोगी ने चींटी के टीले से की है, जिसमें कि नौ छेद हैं। इन नौ छेदों में से किस छेद से सर्प घुस जाय यह नहीं मालूम। जब टीले पर अध्यात्म-चिन्तन का अधिकार हो जाता है तो सर्प दूर फेंक दिया जाता है और तब भक्त अपने सच्चे अध्यात्म-जीवन का प्रारम्भ करता है।

आध्यात्मिक मदारी के मन्त्रों द्वारा ही इस सर्प के भयंकर विष का निराकरण हो सकता है। कन्नड सन्तों के अनुसार अध्यात्म-गुरु के मूल्य और महत्व का गुणानुगान नहीं हो सकता। गुरुसिद्ध इसी प्रसङ्ग पर कहते हैं—"हे गुरुदेव! आपने मेरा जो उपकार किया है उसका मूल्यांकन असम्भव है, जिस आत्मतत्व की प्राप्ति के लिए वेद विद् पंडितों की सारी तर्क-शक्ति अपर्याप्त है, जिस आत्मतत्व के दर्शन के लिए योगियों के पञ्चाग्नि एवं योग-साधन असफल हो जाते हैं वही आत्मतत्व आपकी अनन्त कृपा से मुझे सहज ही मिल गया।" और आगे चल कर गुरुसिद्ध ने गुरु और गोविन्द को एक माना है, "यह वही गुरु गोविन्द समन्वय है जिसने केवल दिव्य सत्य का दर्शन मात्र ही नहीं कराया है, और संसर्ग मात्र ही नहीं कराया है, बल्कि उसमें स्वात्म का विलय भी कराया है। भवतारक के मतानुसार सच्चा गुरु वही है जो स्वरूप का दर्शन करा दे और शिष्य को 'स्वस्थिति' बता दे।

कन्नड भक्तों ने 'नामयश' की भूरि-भूरि सराहना की है। 'अवबोध प्राप्ति' का एक मात्र साधन सतत नामोच्चारण है। यह दिव्य नाम ही है जो विभिन्न दिव्य रूपों में अङ्कुरित होता है। यह वही दिव्य नाम है जो हमें 'अनाहतनाद' का श्रवण कराता है, और यह वही दिव्य नाम है जो हमें अमीरस (जिसके विषय में कबीर और दादू ने काफी चर्चा की है) का पान करता है। जहाँ तक योग-साधन का प्रश्न है, कन्नड संतों ने मुद्राओं, षटचक्रों, आसनों और हठयोग का विस्तृत विश्लेषण किया है। इन सन्तों में से अधिक सन्तों ने इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, श्रृङ्गाटक आदि का जिक्र किया। शरीफ साहेब का 'आध्यात्मिक चर्खा' के विषय में एक पद है। उस पद की व्याख्या के हेतु हम आचार्य रानडे के शब्दों को उद्धृत करना चाहेंगे। शरीफ साहेब कहते हैं :—

"हमारा आसन स्थिर पीठिका पर होना चाहिए। यह पीठिका स्वयं दो खम्भों पर अच्छी तरह आधारित है। ये दो खम्भे रवि और शशि हैं, या शरीर के इडा और पिंगला हैं। इन पर चर्खा चलाना शुरू करना चाहिए। दस वायु रूपी डोरियों से इस चर्खे के अरों को बांधे रहना चाहिए।······रुई बिल्कुल साफ होनी चाहिए, उसमें कूड़ा-करकट और गाँठ नहीं होना चाहिए।······चर्खा चलाने का कार्य निरन्तर चलना चाहिए।" शरीफ साहेब की कातने वाली नायिका के प्रति एक चेतावनी है। उसका ध्यान सतत चर्खे पर ही रहे, इधर-उधर परिवर्तनशील संसार की तरफ़ न जाय। तब उस पट्टी में, शरीफ साहेब के अनुसार २१,६०० तक की गिनती गिनी जाय। यदि एक भी गिनती छूटी तो कपड़े की बिनावट में कमी आ जायगी। शरीफ साहेब इस कपड़े को पीताम्बर कहते हैं जिसे कातने वाला अर्थात् भक्त श्रद्धा से भगवान को अर्पण कर दे। यही उसके उद्योग की पूर्ति है। अर्पण के यही भाव सन्त निम्बा जी द्वारा भी व्यक्त किये गए हैं—"हे ईश्वर! मैं आपको यह शरीर उसी हालत में लौटा रहा हूँ (अथवा लौटाता हूँ) जिस हालत में आपने मुझे दिया था।"

हमने देखा कि कन्नड़ सन्तों के अनुसार एकाग्रचित्तता, गहरा अवधान और अटूट श्रद्धा के साथ नामोच्चारण ईश्वर-साक्षात्कार के लिए साधन हैं। परन्तु मानव चेष्टाएँ ससीम होती हैं, वे इस सत्य के प्रति भी सजग रहे हैं। भक्त केवल अपनी चेष्टाओं के बल पर ईश्वर साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतः साधक की अमावस्या जैसी अनुभूति होती है। कन्नड़ सन्तों में से अधिकांश में हम ऐसी स्थिति कुछ हद तक पाते हैं। पुरन्दरदास और बसवेश्वर दोनों ने ऐसी स्थिति का अनुभव किया। बसवेश्वर का कथन है—"हे ईश्वर! यदि मैं आपके प्रति श्रद्धा रखता हूँ, यदि मैं आप से प्रेम करता हूँ और यदि मैं आपकी शरणागति लेता हूँ तो मैं जानता हूँ कि मेरी विधिवत् परीक्षा होगी—आप मेरे इस भौतिक शरीर को जड़ से हिला देंगे, मेरे हृदयगत भेदों की आप परीक्षा लेंगे और यदि मैं इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ तब कहीं मैं आपका दयापात्र बन सकूँगा।" यह पद मुझे टेनीसन की निम्न प्रसिद्ध पंक्तियों की याद दिलाता है—

"हृदय की प्रार्थना जब भाप के रूप में ऊपर जाती है, तब कहीं भगवत्कृपा वर्षा के रूप में आती है।"

इसके अनन्तर ही भक्त इन्द्रियातीत अनुभवों का अनुभव करता है। प्रभुदेव ऐसी ही अनुभूति को व्यक्त करते हैं—"जब मैंने आपके तेज को देखने का प्रयास किया तो करोड़ों सूर्य का प्रकाश मेरी आँखों के सामने से गुजरा। कितना महान् आश्चर्य! आपका रूप करोड़ों बिजलियों से विभूषित था।"

गुरुसिद्ध अपने ऐक्य-अनुभव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"जब मैं ध्यानस्थ हुआ तब आपके दिव्य रूप के दर्शन हुए। वह मणि-सा मोहक था, प्रज्ज्वलित अग्नि

के समान उज्ज्वल था, मणियों से गुथा हुआ सूत्र-समान था, देदीप्यमान नीलमणि था, विद्युत की तरंग के समान था और करोड़ों शशि-सूर्य के प्रकाश से भी अधिक चमकीला था।"

कन्नड भक्तों की एक विशेषता है बयलु (गगन या शून्य) की इन्द्रियातीत अनुभूति का सांगोपांग विवेचन। उन्होंने बयलु (देश) बयलिगेबयलु (देश का देश), निर्बयलु (देश रहित) और निर्बयल समाधि (देश राहित्य में लय) आदि सूक्ष्म विचारों का अक्सर प्रयोग किया है। इनसे वे चरम सत्य अथवा ब्रह्म का वर्णन करते प्रतीत होते हैं। बयलु और निर्बयलु के अर्थ में ही शून्य, निःशून्य और शून्यसंपादने आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

अन्ततः हम महिपति का 'कण्णारे कंडेवु चिन्मयन रूप' नामक गीत लेते हैं जो आध्यात्मिक साधना का मुकुट है। यह गीत रहस्यानुभूतियों का सक्रम विवरण देता है। इस गीत की व्याख्या के लिए भी हम आचार्य रानडे के शब्दों का सहारा लेंगे। महिपति कहते हैं कि पहले यह आत्मा चक्षु के सामने दिव्य चक्षु अथवा दिव्य ज्योति के रूप में प्रगट होता है। और ऐसी दिव्य ज्योति का दर्शन बड़ा पुण्य प्रदान करता है। यह स्मरण रहे कि यह पूर्व जन्म के पुण्य का ही प्रभाव था कि ऐसी दिव्य ज्योति के दर्शन हुए। परन्तु जब दिव्य ज्योति के दर्शन हो जाते हैं तब और अधिक पुण्य होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर अपने भक्त को अधिकाधिक लाभ देना चाहता है। इस दर्शन-प्रक्रिया के अनंतर हम श्रवण की प्रक्रिया पाते हैं। महिपति कहते हैं कि ईश्वर की पहचान श्रवण-विषय से नहीं होती है बल्कि श्रवण-प्रक्रिया से होती है। और आगे श्रवण के फलस्वरूप हम विभिन्न प्रकार के शब्द सुनते हैं। साधक अनेक दिव्य ध्वनियों में से इस प्रकार की भी एक ध्वनि सुनता है जिसमें नाना प्रकार की ध्वनियाँ संगृहीत रहती हैं। महिपति के अनुसार इस दिव्य ज्योति के दर्शन और दिव्य श्रवण के अनन्तर ईश्वर-साक्षात्कार होता है। ईश्वर बाल-रूप में प्रगट होता है। वह खेलता हुआ दिखाई पड़ेगा। इस प्रकार का अनुभव अनेक प्रान्तों के विभिन्न सन्तों ने किया है। सन्त तुकाराम ने इसी प्रकार अनुभव किया। पुरंदर दास भी ईश्वर को कुसु (शिशु) रूप में लेते हैं। जत की स्त्रीसन्त शिवलिंगवा ने मगा हुट्टिदब्बा नामकी एक बड़ी सुन्दर कविता रची हैं। ईश्वर कभी प्रगट होता है, कभी गायब हो जाता है और इस प्रकार साधक के सामने तरह तरह का नाटक (अथवा खेल) करता है। (इस स्थान पर) संत ज्ञानेश्वर की उक्ति कितनी उल्लेखनीय है —

'दिसे तब तब लये। लपे तब तब आभासे।'

इन सब अनुभवों के अनन्तर महिपति एक विचित्र अवस्था (दशा) का वर्णन करते हैं, जिसे कि हम अलौकिक अनुभव का विरोधाभास कह सकते हैं। यदि साधक ईश्वर को देखना चाहता है तो वह नहीं दिखाई पड़ता है। यदि साधक उससे मुंह

मोड़ता है तो ईश्वर उसे दूसरी दिशा में दिखाई पडता है जैसा कि अर्जुन को श्री कृष्ण दिखाई पड़े थे। ……इस विरोधाभास का ज्ञानेश्वरी के ११वें अध्याय में बड़ा मार्मिक वर्णन है। यह अनुभव श्रवण मात्र नहीं है, यह ईश्वर का दर्शन मात्र नहीं है। ……यदि साधक ईश्वर को छूना चाहता है तो ईश्वर ऐसा न होने देगा। यह महिपति का कथन है। ईश्वर का सुळबु (सूक्ष्म गति) साधक को नहीं दिखाई पड़ता है। इस सुळबु का अनुभव ईश्वर-भक्ति में तल्लीन साधक ही कर सकता है जब कि ईश्वर के व्यापारों को बिना देखे और सुने ही वह अपनी मनचाही वस्तु पा जाता है और इसी अदेखे और असुने व्यापार का महिपति गान करते हैं, वह अपने आधारभूत सत्ता का किसी को पता नहीं लगने देता, यह दिखाई नहीं पड़ता, और सुनाई नहीं पड़ता और तब स्पर्श से ज्ञात होने की क्या बात। अन्ततः महिपति कहते हैं कि ईश्वर का यह ज्योति-दर्शन तब तक भक्त की आँखों के सामने स्थिर रहता है जब तक कि वह सत्-सङ्ग में रहता है। सम्भव है कि एकान्त में उसका चित्त इतना सयंत न रह सके। परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब वह साधक साधु मंडली में रहता है तो उसके लिए यह ज्योति शान्त, सुस्थिर और विकाररहित रहती है, यही सतत ज्योति-दर्शन अध्यात्म-जगत का चूडान्त अनुभव है।

अनुवादक बी० आर० कुलकर्णी, यौतमल

हरिमाधव शरण एम० ए०, इलाहाबाद